

शताब्दिसंस्करण

श्री आत्मानन्दजैनशताब्दि सिरीज न० ८

* वन्दे श्री वीरमानन्दम् *

जैनतत्त्वादर्श

पूर्वार्ध

रचयिता

तपोगणगगनीदिनमणि—न्यायाभोनिधि जैनाचार्य

श्रीमाद्विजयानन्दसूरश्रिर प्रसिद्ध नाम

श्री आत्माराम जी महाराज



प्रकाशक

श्री आत्मानन्द जैन महासभा पञ्जाब,

हैड ऑफिस, अमाला शहर ।

वीर म० २४६२ ।
आम म० १० }

त्रोनों भागा का मूज्य
आठ आना

{ त्रिप्रम स० १००-
हम्वा म १९३६

शताब्दीसंस्करण

डाकुर जगजीतसिंह पाल,
चसन्त प्रिंटिंग प्रैस, गनपत रोड लाहौर

पुस्तक मिलने का पता —

- १ श्री आत्मानन्द जैन महासभा पञ्जाब,
“हेड आफिस” अम्बाला शहर (पञ्जाब)
- २ श्री जैन आत्मानन्द सभा
भावनगर (काठियावाड़)

द्वितीय संस्करण

प्रति ३०००

स्वर्गीय न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य



श्रीमद्विजयानन्द मूर्ति

नम्र निवेदन

प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव न्यायाभोनिधि जैनाचार्य श्री १००८ श्री विजयानन्द सूरीश्वर प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज की गुजरात देश की वडोदा राजधानी में [चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सन् १९६३] बड़े समारोह में मनाई जाने वाली जन्म शताब्दी के मनाने का अधिकार यद्यपि सत्र से पहिले पंजाब को था, क्योंकि स्वर्गीय गुरुदेव के उपकारों का सब से अधिक ऋणी पंजाब ही है। इस के अतिरिक्त आप श्री के पुनीत जन्म का असाधारण गौरव भी पंजाब ही को प्राप्त है। यदि सच कहा जाय तो आप के सुनिनीत बल्लभ की तरह ही आप को पंजाब बल्लभ था। इन्हीं लिये स्वर्ग लोक की अभिनन्दित करने से पहिले ही आप ने अपने बल्लभ देश को अपने प्यारे बल्लभ के सुपुर्न कर दिया था। इस में भी पंजाब ही को इस शताब्दि रूप पुण्य यज्ञ के अनुष्ठान में सत्र से पहिले दीक्षित होने का अधिकार था। परन्तु कई एक अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने से पंजाब इस गौरवान्वित गुरुभक्ति से वञ्चित रहा, जिस का उमे अत्यन्त खेद है। यदि उस को पूज्य गुरुदेव की शताब्दि मनाने का गौरव प्राप्त होता होता तो आचार्य श्री विजय बल्लभ सूरी जी महाराज पंजाब के किसी निकट प्रदेश में अवश्य विराजते होते।

(घ)

[स्वर्गीय आचार्य महाराज के पट्टधर धी विजय
बल्लभ सूरि के सूरत में पधारने की खुशी में]

७८॥)। जडियालागुरु से "जनतत्वादर्श" के लिये प्राप्त ।

२००) श्री पूज राज ऋषि जी तिलोक ऋषिजी
जडियाला

२१२॥)। सुद ।

२५०) ला० लालूमल मेलामल जीरा (विवाह पर)

१००) ला० गोपीमल दुगादास जडियाला ।

२५) ला० तेजपाल हसरज जडियाला ।

७८॥)। जोड़

अत में हम प्रेस वालों के भी कृतज्ञ है, जिन्होंने ने दिन
रात लगा कर इस कार्य को सम्पूर्ण करने में हमें सहायता
दी है ।

विनीत-

मंत्री—श्री धात्मानन्द जैन महासभा पञ्जाब

प्रासाङ्गिक वक्तव्य ।

ग्रन्थकार—

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता स्वनामधन्य आचार्य श्री १००८ श्री विजयानन्द सूरि प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज बीसवीं सदी के एक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। आप की सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास, निर्भयता और प्रतिभासम्पत्ति ने जैन समाज के जीर्णतम कलेसर में नवीन रक्त का संचार करने में सचमुच ही एक अद्भुत रसायन का काम किया। आज जैन समाज में धार्मिक और सामाजिक जितनी भी जागृति नजर आती है, उस का आरम्भिक श्रेय अधिक से अधिक आप ही को है। आप की चाणी और लेपिनी ने समाज के जीवन क्षेत्र में क्रांति के बीज को धपन करके उसे पल्लवित करने में एक श्रमशील चतुर माली का काम किया है। आज समाज के अंदर विचार-स्वतंत्रता का जो घातावरण फैल रहा है, तथा रूढ़िवाद का अन्त करने के लिये जो तुमुल धर्म युद्ध किया जा रहा है, यह सब इसी का परिणाम है।

पञ्जाब की मातृभूमि को इस बात का गर्व है कि उस ने वर्तमान युग में एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया कि जो अहिंसा त्याग और तपश्चर्या की सजीव मूर्ति होते हुए अपनी सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास और प्रतिभावल से

एक सर्वोत्तम धर्मशासक बना । इसी लिये माधुना के त्याग और शांति प्रधान मार्ग का अनुसरण करते हुए भी आप ने शासन की रक्षा और प्रभावना के निमित्त अपनी स्वाभाविक ओजस्विता और प्रकाण्ड प्रतिभा को उपयोग में ला कर एक प्रौढ़ शासक के कर्तव्य का पूर्णरूप में पालन किया ।

एन विरोधी सम्प्रदायों के जैनधर्म पर होने वाले आक्षेपों का निराकरण करना तथा मूर्तिपूजा के विरोधी ईसाई, मुसलमान आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज इन चार प्रबल शक्तियों की प्रतिद्वन्दता में मूर्तिपूजा के सिद्धान्त का निर्भयता से प्रचार करना, और उस में अभीष्ट सफलता का प्राप्त करना इन्हीं के दृढ़तर आत्मविश्वास और प्रतिभा यल के आभारी हैं । आप की प्रतिभासम्पत्ति का परिचय भी आप की प्रथम रचना से भलीभांति विदित हो सकता है । जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक धार्मिक में भी आप की स्निग्धी व्यापक गति थी, इस का अनुमान भी आप के निर्माण किये हुए ग्रंथों से धरूबी लग सकता है । आज ऐतिहासिक जगत् में तत्त्वज्ञान, सत्यधी जितनी भी गण्यणायें हुई हैं, उन सब का सूत्रपात आप के ग्रंथों में मिलता है । आप ने प्रस्तुत ग्रन्थ का अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थों की रचना की है । जिन में अज्ञान तिमिरभास्कर, तत्त्वनिर्णयप्रासाद, चिकागीप्रश्नोत्तर-

और सम्यक्त्वशक्त्योद्धार, ये विशेष स्थान रखते हैं । अतः में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आप ने जैन सत्सार के धर्म क्षेत्र में शासन की जो बहुमूल्य सेवाय की हैं, उन के लिये वर्तमान जैन समाज आप का सदैव ऋणी रहेगा ।

ग्रन्थनाम—

प्रस्तुत ग्रन्थ का जो नाम रक्खा है, वह विषय निरूपण के सवया अनुरूप है । क्योंकि इस ग्रन्थ में जैन धर्म के प्रसिद्ध देव, गुरु और धर्म इन तीन तत्त्वों का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है । और धर्मतत्त्वनिरूपण में जीव-अजीव आदि तत्त्वों का भी भलीभाँति विवेचन आया है । इस लिये जैनतत्त्वों के वर्णन करने में आदर्शस्वरूप होने से प्रस्तुत-ग्रन्थ का 'जैनतत्त्वादर्श' यह नामकरण बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है ।

विषय विभाग—

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों को १२ परिच्छेदों में

नोट—स्वर्गीय आचार्य श्री के आदर्श जीवन का साधत स्वाध्याय करने की इच्छा रखने वाले निम्न लिखित पुस्तकों को पढ़ें । —

- १ आत्मचरित्र (उर्दू)
- २ श्री विजयानन्द मूरि (गुजराती)
- ३ प्रातिकारी जैनाचार्य (हिन्दी)

विभक्त किया गया है । प्रथम परिच्छेद में देव के स्वरूप का वर्णन है और उस से सम्बन्ध रखने वाले और कई एक उपयोगी विषयों की चर्चा है ।

दूसरे में बुद्ध के स्वरूप का उल्लेख करते हुए ईश्वर के जगत्कृत्य का दार्शनिक रीति से प्रतिवाद किया है ।

तीसरा परिच्छेद गुणरत्न के स्वरूप का परिचायक है, और उस में साधु के पांच महाप्रतीकों का स्वरूप और १२ भावना आदि का विस्तृत वर्णन है ।

चौथे में बुद्ध के स्वरूप का विस्तृत वर्णन एवं वेद विहित हिंसा का प्रतिवाद और अहिंसा के सिद्धान्त का समर्थन किया है ।

पाचवें परिच्छेद में धर्म का शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए साथ में जीवादि नपदार्थों का विराट् वर्णन है ।

छठे परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान के विवेचन में १४ गुण स्थानों का वर्णन और उन की विराट् व्याख्या प्रियमान है ।

सातवें में सम्यग्दर्शन और तत्सम्यग्धी अन्य विवेचनीय विषयों पर प्रकाश डाला है ।

आठवें परिच्छेद में सम्यक् चारित्र्य के स्वरूप का उल्लेख करते हुए सब पिरति और त्रेणविरति आदि भेदों का निरूपण भली भाँति से किया है । धावक के पारह वर्तों का भी रत्न में पूर्ण रूप से विवेचन है ।

नयमे और दशहैं परिच्छेद में श्रावक का दिनकृत्य पूजाभक्ति, रात्रिकृत्य, पाक्षिक कृत्य, चौमासी और सवत्सरी आदि कृत्यों का विस्तृत विवेचन है।

ग्यारहवें परिच्छेद में भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक का सक्षिप्त इतिहास दिया है।

और बारहवें परिच्छेद में भगवान् महावीर स्वामी के गौतम आदि ग्यारह गणधरों की तारिक चर्चा का उल्लेख करके भगवान् महावीर स्वामी के निर्माण के बाद का उपयोगी इतिवृत्त दिया है। जिस में तत्कालीन प्रमाणिक जैनाचार्यों की कतिपय जीवन घटनाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार यह ग्रन्थ बारह परिच्छेदों में समाप्त किया है।

भाषा—

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा आज कल की परिष्कृत अथवा छटी हुई हिन्दी भाषा से कुछ विभिन्नता और कुछ समानता रखती हुई है। आज से पचास वर्ष पहिले प्रचलित बोलचाल की भाषा से अधिक सम्बन्ध रखने वाली और साहचर्य बराबर पंजाबी, गुजराती और मारवाड़ी के मुहावरे के कतिपय शब्दों को साथ लिये हुए है। परन्तु इस से इस के महत्त्व में कोई कमी नहीं आती। भाषाओं के इतिहास को जानने वाले इस बात की पूरी साक्षी देंगे, कि अन्य प्राकृतिक घस्तुओं की भांति भाषा और लिपि में भी परिवर्तन बराबर होता रहना है। परिवर्तन का यह नियम केवल हिन्दी भाषा

के लिये ही नहीं, किंतु भाषा मात्र के लिये है प्रस्तुत ग्रंथ की रचना के समकालीन भाषा की अन्य रचनाओं के साथ तुलना करने से भी अपने समय के अनुसार इस की विशिष्टता में कोई अंतर नहीं आता । प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा के साथ यदि निश्चल दास जी के विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर की भाषा का मिलान करें, तो दोनों में बहुत समानता नज़र आयेगी । इस लिये भाषा की दृष्टि से भी प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादेयता में कोई अंतर नहीं आता । हा ! वर्तमान समय की छटी हुई हिंदी भाषा के दिलदादाओं-प्रेमियों को यदि यह भाषा रचिप्रद न हो, तो हम कुछ नहीं कह सकत । परन्तु हम में उक्त भाषा सौष्ठव में कोई क्षति नहीं आती ।

न रम्य नारम्य प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि ।

प्रियत्व वस्तूना भवति खलु तद्ग्राहकवशात् ॥

रचनाशैली—

प्रस्तुत ग्रंथ की रचनाशैली भी वर्तमान समय की रचनाप्रणाली से भिन्न है, तथा विषय निरूपण में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है, वह भी वर्तमान समय की निरूपण शैली से पृथक् है । परन्तु यह होना भी कोई अस्वभाविक नहीं क्योंकि यहा पर भी वही परिवर्तन का नियम काम करता है, अर्थात् भाषा और लिपि की तरह रचनाशैली में भी समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है । प्रस्तुत ग्रन्थ की रचनाशैली के लिये भी उपर्युक्त विचार सागर और वृत्तिप्रभाकर तथा स्वामी विद्वानन्द जी कृत

भगवद्गीता और आत्मपुराण की रचना शैली को देखें। इनमें वाक्य रचना और विषय निरूपण में एक ही प्रकार की पद्धति का अनुसरण किया गया है, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की रचनाशैली में विभिन्नता होने पर भी उस की उपादेयता में कोई अंतर नहीं पड़ता।

ग्रन्थ की प्रामाणिकता—

प्रस्तुत ग्रन्थ में जितने भी विषयों का निरूपण किया गया है, और जिस अंश तक उन का विवेचन किया है, वे सब प्रामाणिक जैनाचार्यों के ग्रन्थों के आधार से किया गया है, और उन प्राचीन शास्त्रों के आधार के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ में एक बात का भी उल्लेख नहीं, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता में अणुमात्र भी सन्देह करने की स्थान नहीं।

ग्रन्थ की उपादेयता—

प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनासमय भी एक विचित्र समय था, उस समय साम्प्रदायिक संघर्ष आज कल की अपेक्षा भी अधिक था। एक सम्प्रदाय वाला दूसरे सम्प्रदाय पर आक्षेप करते समय सभ्यता को भी अपने हाथ से खो बैठा था। तात्पर्य कि उस समय साम्प्रदायिक विचारों का प्रवाह जोर शोर से बह रहा था। और कभी २ तो तटस्थ विचार वालों की भी पगडि़यें उछाली जाती थीं। ऐसी दशा में एक सुधारक धर्माचार्य को किन फटिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा, इस की कल्पना सहज ही में की जा सकती है। इस के अतिरिक्त उस काल में जैन धर्म

के सिद्धांत साधारण जनता की दृष्टि से प्रायः ओझल हो रहे थे। उन के विषय में तरह-तरह की भ्रात कल्पनायें स्थान प्राप्त कर रही थीं, तथा उस के सिद्धांतों के विरुद्ध भी बड़े जोर का प्रचार हो रहा था। ऐसी अवस्था में जैनधर्म के सिद्धांतों का स्थायीरूप में यथाथ ज्ञान कराने और उस के विरोधी विचारों का युक्ति-युक्त प्रतिवाद करने की आवश्यकता पर ध्यान देते हुए स्वर्गाय आचार्य श्री ने प्रस्तुत ग्रंथ का निर्माण किया है। हमारे विचार में यह ग्रंथ जैन जनैतर सभी के लिये बड़े काम की वस्तु है।

तत्कालीन परिस्थिति—

जिस परिस्थिति में प्रस्तुत ग्रंथ का निर्माण किया गया है वह वर्तमान परिस्थिति से वि-कुल भिन्न थी। आज ग्रंथों का प्राप्त होना जितना सुलभ है, उतना उस समय न था। ग्रंथों की रचना प्रणालि और सम्पादन कला में जितना विकास आज हो रहा है। और अनेकानेक दुर्लभ ग्रंथों के विरुद्ध विवेचन जिम ढंग के आज उपलब्ध होते हैं, उस समय तो इन का प्रायः अभाव सा ही था। इस पर भी प्रस्तुत ग्रंथ में उपलब्ध होने वाले अनेकानेक दुष्प्राप्य ग्रंथों के पाठों के महान् समग्रह को देखते हुए तो चकित होना पड़ता है, और ग्रंथप्रणेतृ की प्रतिभा के प्रकट की बख्तात् मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना रहा नहीं जाना।

हमारी विनय

सम्पादनभार—

गुजरात देश की घडौदा राजधानी में मनाई जाने वाली स्वर्गाय गुरु देव की जन्मशताब्दि के उपलक्ष्य में पंजाब की

श्री आत्मानन्द जैन महासभा की कार्यकारिणी समिति ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नवीन संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया, और उसे कम से कम मूल्य में वितरण करने का भी निश्चय किया। तदनुसार इस के सम्पादन का कार्य हम दोनों को सौंप दिया गया। हमने भी समय की स्वल्पता, कार्य की अधिकता और अपनी स्वल्प योग्यता का कुछ भी विचार न करके केवल गुरुभाक्ति के वशीभूत हो कर महासभा के आदेशानुसार पूर्वोक्त कार्य को अपने हाथ में लेने का साहस कर लिया। और उसी के भरोसे पर इस में प्रवृत्त हो गये।

हमारी कठिनाइयाँ—

इस कार्य में प्रवृत्त होने के बाद हम को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन का ध्यान इस से पूर्व हमें बिल्कुल नहीं था। एक तो हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ का साद्यन्त अवलोकन न होने से उसे नवीन ढंग से सम्पादन करने के लिये जिस साधन सामग्री का संग्रह करना हमारे लिये आवश्यक था, वह न हो सका। दूसरे समय बहुत कम होने से प्रस्तुत पुस्तक में प्रमाणरूप से उद्धृत किये गये प्राकृत और संस्कृत वाक्यों के मूलस्थल का पता लगाने में पूर्ण सफलता नहीं हुई। तीसरे, इधर पुस्तक का संशोधन करना और उधर उसे प्रेस में देना। इस ब्रह्मी हुई कार्य-श्रमता के कारण प्रस्तुत पुस्तक में आये हुए कठिन स्थलों पर नोट में टिप्पणी या परिशिष्ट में स्वतन्त्र विवेचन लिखने से हम वंचित रह गये हैं। पर समय के अतिरिक्त

न होने से दूसरे भाग में तो निर्धारित सशोधन भी हम नहीं कर पाये। अतः विवशता के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में रही हुई अनेक त्रुटियों के लिये हम अपने सम्य पाठकों से साजलि क्षमा मागते हैं।

मशोहन—

प्रस्तुत पुस्तक के सशोधन के विषय में भी हम दो प्द कह देना आवश्यक समझते हैं।

(१) ग्रन्थ की मूल भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। सिर्फ विभक्तियों में किंचित् मात्र परमावश्यक आंशिक परिवर्तन किया गया है, जैसे—

मूलपाठ	सशोधित
उस कु	उस को
सर्वजीवा कु	सर्व जीवों को
धर्मापणे	धर्मापने
लौकिक में	लोक में
पढ़णे	पढ़ने
फर	फिर

तथा कहीं कहीं पर उक्त मशोधित पाठ भी मूल में विद्यमान हैं।

(२) प्रेस तथा अन्य किसी कारण से उल्लेख में छाई हुई असम्यक् वाक्य रचना में विषय के अनुसार कुछ शब्दों की न्यूनाधिकता की गई है।

(३) प्रमाण रूप उद्धृत किये गये प्राकृत और सस्कृत के

अशुद्ध पाठों को मूल ग्रंथों के अनुसार शुद्ध किया गया है ।

(४) तथा ग्रंथ की भाषा में रही हुई प्रेस की भूलों का सुधार किया गया है । इस के अतिरिक्त मूलग्रन्थ की भाषा में अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया । हा ! अनुस्वार के अनावश्यक प्रयोग को प्रस्तुत ग्रन्थ में न्यान नहीं दिया गया ।

आभार—

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में समय की न्यूनता और कार्य की अधिकता को देख कर अपनी सहायता के लिये हम ने आरम्भ में श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल के स्नातक प० रामकुमार जी और उन के बाद उक्त गुरुकुल के स्नातक (वर्तमान में अध्यापक) प० ईश्वरलाल जी को कष्ट दिया । इन दोनों सज्जनों ने इस कार्य में हमारी यथा शक्ति सहायता करने में किसी प्रकार की कमी नहीं की, अतः हम इन दोनों स्नातक सज्जनों के कृतज्ञ हैं ।

इन के अतिरिक्त हम मुनि श्री पुण्यविजय जी का भी पुण्य स्मरण किये बिना नहीं रह सकते, कि जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में आये हुए बहुत से प्राकृत पाठों के मूल स्थलों को अर्त्तलाकर हमें अनुगृहीत किया है ।

तथा भाई सुन्दरदास जी ने इस सम्पादन कार्य में हमारी बड़ी भारी सहायता की है, तदर्थ हम इन

कृतम्र हैं। इन के ही विशिष्ट प्रथम से लाहौर में हम लोग घर से भी अधिक सुन्नी रहे, तथा संपादनोपयोगी पुस्तकें भी पर्याप्त रूप से समय पर मिलती रहीं, एवं संपादन संबंधी विचार विनिमय भी होता रहा। और अनेकविध घरेलू कार्यों में व्यस्त रहने पर भी ये प्रफू आदि के देगने में सहायता देते रह।

अंत में हम अपने जालपोषकारी सर्गीय आचार्य श्री के पट्टधर परमपूज्य आचार्य श्री विजयगहम सूरि जी महाराज की असीम कृपा के सत्र से अधिक जाभारी हैं। आप श्री के अमोघ आशीर्वाद के प्रभाव से ही हम इस महान् कार्य को निर्विघ्न समाप्त करने में सफल हुए हैं। तथा आप श्री की पुनीत मेशा में श्री रामचंद्र जी के प्रति कही हुई हनुमान की—

शार्वामृगस्य शारवाया, शारवा गतु परिश्रम ।

यदय लघितोऽम्भोधि प्रभावस्ते रघूत्तम ! ॥

इस उक्ति को दोहराते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में संपादन संबंधी आई हुई श्रुटियों के लिये पुन चमा मागते हैं।

लाहौर }
फाल्गुन शु० १० }
स० १९६१ }

{ विनीत
{ हंसयुगल

(थ)

महाराज साहिब की भाषा

बोल बाले की भाषा

महाराज जी के पूर्वज चिर काल से पिण्डदादनवा (जिला जेहलम) में निवास करते थे *। उन के माता पिता का जन्म इसी प्रदेश में हुआ था, अतः वृद्ध अनुमान है कि वे यहा की ही भाषा बोलते होंगे। सर् जार्ज ग्रियर्सन की जाच के अनुसार इस प्रदेश की भाषा एक प्रकार की लहन्दी है †। जिस की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं। महाराज जी के जन्म से कुछ समय पहले उन के माता पिता सरकारी नौकरी के कारण हरी के पत्तन में आ रहे थे, और रिटायर होने पर वहीं रहने लगे। कुछ काल के पश्चात् जीरा के निकट लहरा ग्राम (जिला फीरोजपुर) में आ रहे, जहा महाराज जी का जन्म हुआ *। 'यहां की भाषा मालवई पञ्जाबी है ‡। महाराज का शैशव काल लहरा ग्राम में ही बीता, वहाँ उन का भरण पोषण हुआ। इस से हम कह सकते हैं कि दीक्षा लेने के पूर्व महाराज जी दो भाषाएँ बोलते होंगे—घर में माता पिता के साथ लहन्दी और गाव

* देखिये—“सर्वार्णयप्रासाद”—जीवन चरित, पृ० ३३ ३४

† देखिये—सर् जार्ज ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित, “लिम्बिस्टिक

सर्वे ऑव इण्डिया” पुस्तक ८, भाग १।

‡ देखिये—लिम्बिस्टिक पु० ६, भाग १।

में लोगों के साथ माग्यई ।

दीक्षा लेने के पश्चात् पञ्जाबी धायकों के साथ पञ्जाबी भाषा में बातचीत करते होंगे जिस में कुछ झलक लहदी की पड़ती होगी । अथ देव यात्रियों के साथ मिश्रित हिंदी में बात चीत करते होंगे, जिस में उन्हीं ने जैनतत्त्वादाय की रचना की ।

लहन्दी और पजाबी की कुछ विशेषताएँ *

(१) वर्गीय चतुर्थ अक्षरों का लहन्दी उच्चारण हिंदी उच्चारण से कुछ ही भिन्न है, अर्थात् लहन्दी में इन के उच्चारण में हिन्दी की अपेक्षा महाप्राणता की कुछ थोड़ी है । परन्तु पजाबी में महाप्राणता का और साथ ही घोपता का संघा अभाव है । शब्द के आदि में आने वाले चतुर्थ अक्षर के स्थान में प्रथम अक्षर (अघोप, अल्पप्राण) बोल कर आगे आने वाला स्वर पाच छ श्रुतियों नीचे सुर में बोला जाता है । शब्द के मध्य या अंत में फेरल महाप्राणता का लोप होना है, घोपता बनी रहती है ।

(२) संस्कृत प्राकृत के संयुक्त अक्षर के पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर हिंदी में दीर्घ हो जाता है, पर तु लहदी और पजाबी में ह्रस्व ही रहता है । जैसे—

* विशय वर्णन के लिये देखिये लिखितिक सर्वे की पूर्वोक्त पुस्तक ।

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
अष्ट	अठ्	आठ	अठ्	अठ्
शिक्षा	सिक्खा	सीख	सिक्ख	सिक्ख
दुग्ध	दुद्ध	दूध	दुद्ध	दुद्ध
		इत्यादि		(उच्चारण दुह उ उच्चस्वर)

(३) संस्कृत का 'त्र' हिंदी, पंजाबी में 'त' 'त्त' परन्तु लहन्दी में त्र रहता है ।

संस्कृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
त्रयः त्रीणि	तीन	त्र	तित्र
शुट्यते	टूटना	शुट्टणा	दुट्टना
पुत्र	पूत	पुत्तर	पुत्त

(४) लहन्दी में भविष्य काल के प्रत्यय सी, सा आदि होते हैं ।

जैसे—हिंदी—करेगा, करूंगा, आदि

लहन्दी—करसी, करसा ,,

पंजाबी—करूगा, करागा ,,

साहित्यिक भाषा

प्रायः प्रत्येक जिनके पढ़े व्यक्ति की कम से कम दो भाषाएँ हुआ करती हैं—१ बोल चाल की साधारण भाषा, २ लिखने पढ़ने की साहित्यिक भाषा । इन में परिस्थिति

में लोगों के साथ माल्यई ।

दीक्षा लेने के पश्चात् पञ्जाबी ध्रायकों के साथ पञ्जाबी भाषा में घानचीन करते होंगे जिस में कुछ झलक लहन्दी की पड़ती होगी । अ य देश यासियों के साथ मिश्रित हिंदी में घान चीन करते होंगे, जिस में उ-हों ने जैनतरयादर्श की रचना की ।

लहन्दी और पजाबी की कुछ विशेषताएँ *

(१) वर्गीय चतुर्थ अक्षरों का लहन्दी उच्चारण हिंदी उच्चारण से कुछ ही भिन्न है, अर्थात् लहन्दी में इन के उच्चारण में हिन्दी की अपेक्षा महाप्राणता की कुछ थोड़ी है । परन्तु पजाबी में महाप्राणता का और साथ ही घोपता का संध्या अभाव है । शब्द के आदि में आने वाले चतुर्थ अक्षर के स्थान में प्रथम अक्षर (अघोष, अल्पप्राण) बोल कर आगे आने वाला स्वर पाच छ श्रुतियों नीचे सुर में घोला जाता है । शब्द के मध्य या अन्त में केवल महाप्राणता का लोप होता है, घोपता बनी रहती है ।

(२) सरस्वत प्राकृत के संयुक्त अक्षर के पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर हिंदी में दीर्घ हो जाता है, परन्तु लहन्दी और पजाबी में ह्रस्व ही रहता है । जैसे—

* विशेष वर्णन के लिये देखिये लिग्विस्टिक सर्वे की पूर्वोक्त पुस्तक ।

(घ)

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
अष्ट	अट्ट	आठ	अट्ट	अट्ट
शिखा	सिक्खा	सीख	सिक्ख	सिक्ख
दुग्ध	दुद्ध	दूध	दुद्ध	दुद्ध
		इत्यादि	(उच्चारण दुद्ध उ उच्चस्वर)	

(३) संस्कृत का 'अ' हिंदी, पंजाबी में 'त' 'त्त' परन्तु लहन्दी में अ रहता है ।

संस्कृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
अथ त्रीणि	तीन	त्रै	तिन्न
शुद्धयते	दृटना	शुद्धणा	दुद्धना
पुत्र	पूत	पुत्तर	पुत्त

(४) लहन्दी में भविष्य काल के प्रत्यय सी, सा आदि होते हैं ।

जैसे—हिंदी—करेगा, करूंगा, आदि

लहन्दी—करसी, करसा ,,

पंजाबी—करूगा, करागा ,,

साहित्यिक भाषा

प्रायः प्रत्येक लिखे पढ़े व्यक्ति की कम से कम दो भाषाएँ हुआ करती हैं—१ बोल चाल की साधारण भाषा, २ लिखने पढ़ने की साहित्यिक भाषा । इन में परिस्थिति

(शिवा आदि) के अनुसार कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है । महाराज साहिब की साधारण भाषा पर विचार हो चुका है । उन की साहित्यिक भाषा जिस में वे ग्रन्थ रचना करते थे, एक प्रकार की मिश्रित हिंदी थी, जिस में मारवाड़ी दुबारी आदि का कुछ २ मिश्रण था * । ऐसा होने के मुख्य कारण ये हैं —

(१) महाराज साहिब के समय में हिंदी का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और न ही इस ने कोई निश्चित रूप धारण किया था । अंग्रेजी राज्य के स्थापन होने से पहले हिंदी की यह दशा थी कि कविता के लिये ब्रज और अजधी का प्रयोग होता था और गद्य लिखने के लिये प्रान्तीय भाषाओं का अथवा प्रांतीय मिश्रित हिंदुस्तानी का, क्योंकि मुसलमानों ने हिंदुस्तानी का दूर २ प्रचार कर दिया था । अधुनिक

* १ जैनियों की मिश्रित भाषा के लिये देखिये—“माधुरी”
सं० १९८१ भाद्र० पृ० २११—१२ आश्विन पृ० ३२५—३० जहां
कई उदाहरण दिए गए हैं ।

२ महाराज जी के “नवतन्त्र” (रचना सु० १६२७) के संपादक
(सन् १९३१) अपनी उपाध्याय में लिखते हैं—“आ ग्रन्थ नी मुख्य
भाषा हिंदी गणाय जो के केटलीक बार मस्कून, प्राकृत अने गुजराती
प्रयोगो एमा दाष्टमोचर भाय छे कोइक बेला ता पजाबी शब्दों पण
नत्रा पने छ

हिंदी या 'गडी बोली' जिसमें आजकल उपन्यास, गल्प, नाटक आदि लिखे जाते हैं, तथा जो पत्र पत्रिकाओं में व्यवहृत होती है, का जन्म आज से कोई डेढ़ सौ बरस पहले हुआ। इसने निश्चित और परिच्छिन्न रूप तो अभी बीसवीं सदी में धारण किया है।

(२) तीस चालीस बरस पहले यू० पी०, पंजाब और मारवाड़ में माधु महात्मा अपना उपदेश हिंदुस्तानी भाषा में देते थे, जिसमें वे अपनी रुचि या परिस्थिति (शिक्षा, भ्रमण, देश, परिपदा आदि) के अनुसार दूसरी भाषाओं का मिश्रण कर देते थे। जब कभी उनको गद्य लिखना होता था तो भी वे इसी भाषा में लिखते थे। शिक्षा के प्रचार से अब इस प्रकार की मिश्रित हिंदी का व्यवहार घटता जाता है।

(३) महाराज साहिब ने प्रारम्भिक शिक्षा पंजाब में पाई थी परन्तु उच्च शिक्षा के लिये उन्हें जयपुर, आगरा अजमेर, जोधपुर आदि नगरों में देर तक रहना पड़ा *। श्वेताम्बर संप्रदाय का जोर मारवाड़ गुजरात में होने से अन्य देशों में रहने वाले श्वेताम्बर जैनों की भाषा में भी गुजराती मारवाड़ी के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं।

* देखिये—तत्त्वनिर्णय प्रासाद—जीवन चरित—पृ० ४०—४६--

यद्यपि महाराज जी के ग्रंथों (विशेष कर जैनतत्त्वादर्श) की भाषा मिश्रित हिन्दी है, तथापि इस में साहित्यिक भाषा के सब गुण विद्यमान हैं । इस में सूक्ष्म से सूक्ष्म और गूढ़ से गूढ़ शास्त्रीय अर्थ प्रकट करने की पूर्ण क्षमता है । महाराज जी की गद्य लिखने की शैली अति गम्भीर और परिपक्व है । यह सिधिलता, विषमता आदि दोषों में रहित है ।

व्याख्यान की भाषा ।

मेरा अनुमान है कि जिस भाषा में महाराज साहब ने जैनतत्त्वादर्श ग्रंथ की रचना की थी, उसी में वे अपना उपदेश भी देते होंगे । जैनतत्त्वादर्श के प्रथम संस्करण की भाषा में कई ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इस अनुमान को पुष्ट करती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात और मारवाड़ में विचरते हुए वे यही भाषा बोलते होंगे और वहाँ भी इसी में उपदेश करते होंगे । यह भाषा समस्त आर्यावर्त में धर्मोपदेश के लिये उपयोगी है । धर्म भी बहुत से ऐसे उपदेशक हैं, जो अपने श्रोतागण की आसानी के लिये इसी प्रकार की मिश्रित हिन्दी में उपदेश करते हैं ।

कविता की भाषा ।

महाराज साहब ने अपनी कविता ब्रजभाषा में की है परन्तु इस में भी कहीं २ पंजाबी, मारवाड़ी और गुजराती

के प्रयोग दिखाई देते हैं । इन की पद्यरचना में भावुकता और भक्ति का स्रोत बहता है । जहा तहा उचित श्लोककारों का प्रयोग किया गया गया है । "छादश भावना" में अनुप्रास ने वैराग्य रस का पोषक हो कर खूब ही रंग बाधा है । 'चतुर्विंशतिस्तवन' में करुणा, धिलाप और प्रभु भक्ति कृष्ट २ मरी है । उदाहरण के लिये श्री नमिनाथस्तवन को देखिये—

तारो जी मेरे जिनपर साई, याह पकड़ कर मोरी ।

कुगुरु कुपन्थ फन्द वी निकसी, सरण गही अर तोरी ॥ ता०॥१॥

नित्य अनादि निगोद में रहता, सुलता भवोदधि माही ।

पृथ्वी अप तेज वात सरूपी, हरितकाय दुरा पाई ॥ ता० ॥२॥

त्रितिचउरिन्द्री जात भयानक, सख्या दुख की न काई ।

हीन दीन भयो परस परके, ऐमे जनम गमाई ॥ ता० ॥३॥

मनुज अनारज कुल में उपनो, तोरी खबर न काई ।

ज्यू त्यू कर अरमग प्रभु पररयो, अथ क्यां वेर लगाई ॥ ता०॥४॥

तुम गुण कमल ममर मन मेरो, उड़त नहीं है उड़ाई ।

तृपित मनुज अमृतरस चागी, रुच से तृपत बुकाई ॥ ता०॥५॥

भयसागर की पीर हरो सर, मेहर करो जिन राई ।

दृग करुणा की मोह पर कीजो, लीजो चरण लुहाई ॥ ता०॥६॥

त्रिप्रानन्दन जग दुख कन्दन, भगत बखल सुखदाई ।

आतमराम रमण जगस्यामी, कामत फल धरदाई ॥ ता०॥७॥

जय महाराज साद्विय इस को अपने मधुर स्वर से

होंग तो सुनने वालों के हृदय में भक्ति रस की विजली दौड़ जाती होगी और उन की आस्था में प्रेम के आसुओं की धारा वह निकलती होगी ।

महाराज जी की साहित्यिक भाषा की कुछ विशेषताएँ ।

१ घर्णविय्यास की त्रिपमता । एक ही शब्द भिन्न २ प्रकार से लिखा गया है । जैसे—

सडसठ, सदसठ (जैन० पृ० १२४)
 विश्या, धीश्या = यिसया (जैन० पृ० ३१९)
 यहुत, यहुत (जैन० पृ० ३२१)
 कीडीयो (पृ० ११५), विमारीया (पृ० ३२२)
 इत्यादि ।

२ अनुस्वार का अनावश्यक प्रयोग । जैसे—कहनां (पृ० १२३) । इसी प्रकार से, कों आदि में—

३ कान्त-रूपों में 'यथृति' । जैसे—सड्या (पृ० ३२१), घह्या (सुदील्लुत 'विजयानन्द सूरि' में पत्र का फोटो, पत्ति ६) इत्यादि ।

४ कारकाव्यय । कू, कु, कों, सू, सें, सों, इत्यादि ।

५ मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग । यह मारवाड़ी या पंजाबी के प्रभाव का फल है । जैसे—करणे (पृ० २१७), हरणे, करणी, भपणा (पृ० ३१६) ।

(म)

६ प्रयोग की विषमता । जैसे—पुत्र के शरीर में कीड़े
आदि जीव उत्पन्न होते (पृ० ३१९), यहाँ “होते” के स्थान
में “होत्रे” । इत्यादि ।

ओरियण्टल कालेज

लाहौर

फाल्गुन शुक्ला० ११, स० १९६२

धनारसीदास जैन

नोट—पूर्वाक्त विदोषताएँ भाषा के दोष नहीं कह जा सकते । इन
से यह निश्चय होता है कि अभी हिन्दी ने निश्चित रूप धारण नहीं
किया था । इस प्रकार की विदोषताएँ उम्र समय के अन्वय लक्षकों में
भी पाई जाती हैं ।

(य)

ग्रथसङ्केतसूची

— . ० . —

अन्य० य० = अन्ययोगस्य ऋग्वेदिका

अभि० चि० = अभिधानचिन्तामणि

अभि० रा० = अभिधानराजेन्द्र

आ० चतु० स्त० = आवश्यक चतुर्विधतिस्त्रय

आ० नि० हारि० टी० अधि० = आवश्यकानियुक्ति हारि
भट्टी टीका अधिकार

आ० मी० = आप्तमीमासा

आश्च० गृ० सू० = आश्रयलायन गृह्यसूत्र

उप० तर० तर० = उपदेशतरगिणी तरग

ऋग्० म० = ऋग्वेद मण्डल

ऐत० उ० = ऐतरेय उपनिषद्

ओ० ति० भा० = ओषधिनियुक्ति भाष्य

औष० सू० = औषपातिक सूत्र

कर्म० (हिं) = कर्मग्रन्थ (हिंदी)

गुण० क्रमा० = गुणस्थानक्रमारोह

छा० उ० = छादोग्य उपनिषद्

ठा० सू० = ठाणागसूत्र

तरया० अ० = तत्त्वार्थसूत्र अध्याय
 तै० उ० = तैत्तिरीय उपनिषद्
 दय्यै० नि० = दय्यैकालिकनिर्युक्ति
 डा० द्वा० = द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
 न्या० द० अ० आ० = न्यायदर्शन अध्याय, आह्निक
 न० सू० टीका जीव० सि० = नन्दी सूत्र टीका जीव
 सिद्धि (प्रकरण)

प० लिं० = पचलिंगी
 पचा० प्रतिमाधि० = पचाशक प्रतिमाधिकार
 प० नि० = पचनिर्ग्रन्थी
 पिंड० नि० = पिंडनिर्युक्ति
 प्र० सा० = प्रवचनसारोद्धार
 प्रज्ञा० सू० = प्रज्ञापनासूत्र
 भ० गी० = भगवद्गीता
 भक्ता० स्तो० = भक्तामर स्तोत्र
 भग० सू० = भगवती सूत्र
 म० स्मृ० = मनुस्मृति
 मीमासा श्लो० वा० = मीमासाश्लोकातिक
 या० व० स्मृ० = याज्ञवल्क्य स्मृति
 यो० शा० = योगशास्त्र
 वाल्मी० रा० = वाल्मीकि रामायण
 श० द्वा० = शतपथ ब्राह्मण

- श० वि० प्र० = शंकरविजय प्रकरण
 शा० स० स्म० = शास्त्रवातासमुच्चय, स्तयक
 श्रा० दि० = श्राद्धदिनकृत्य
 श्वेता० उप० = श्वेताद्वयतर उपनिषद्
 श्लो० प्रा० निरा० वा० = श्लोकप्रार्थिक निरालम्बनवाद
 पद्० स० = षड्दर्शनसमुच्चय
 पद्म० स० वृ० वृ० = षड्दर्शनसमुच्चय-षड्दृष्टि
 समवा० सू० = समवायाग सूत्र
 स० त० टी० = सम्मतितर्क टीका
 म्या० म० = स्याद्वादमञ्जरी
 स्या० रत्न० परि० = स्याद्वादरत्नाकरावतारिका परिच्छेद
 सा० स० का० = सारयमसति फारिका
 स्थाना० स्था० = स्थानाङ्गसूत्र, स्थान
 सा० का० मा० वृ० = साख्यकारिका माठरवृत्ति
 सू० वृ० ध्रु० = सूत्रकृताग ध्रुनस्कध
 सि० हं० = सिद्धहंम



विषयानुक्रमिका

००, ००

प्रथम परिच्छेद

विषय	पृष्ठ
प्राकथन	६
अग्निहोत्र के १२ गुण [८ प्रातिहार्य ४ अतिथय]	३
चाण्डी के पैंतीस अतिथय	४
चौतीस अतिथय	७
अठारह दोष	९
अठारह दोषों की मीमांसा	२१
परमात्मा के विभिन्न नाम	२५
गत चौथीसी के तीर्थङ्कर	२६
वर्तमान चौथीसी के तीर्थङ्कर	२६
तीर्थङ्कर के नाम का सामान्य और विशेष अर्थ	२७
तीर्थङ्करों के वंश तथा उर्ण	२६
तीर्थङ्करों के चिन्ह	३०
तीर्थङ्कर पितृनाम	३१
तीर्थङ्कर मातृनाम	३३
वाचन शील	३५
प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन शील	३५
श्री ऋषभदेव, श्री अजितनाथ	३५

विषय	पृष्ठ
श्री सम्भ्रानाथ श्री अभिनन्दननाथ	४१
श्री सुमतिनाथ, श्री पद्मप्रभ	४४
श्री सुपार्श्वनाथ, श्री चन्द्रप्रभ	४७
श्री सुविधिनाथ, श्री शीतलनाथ	५०
श्री श्रेयासनाथ, श्री रासुपूज्य	५३
श्री विमलनाथ श्री अनन्तनाथ	५६
श्री धर्मनाथ, श्री शान्तिनाथ	५९
श्री बुधुनाथ श्री अरनाथ	६२
श्री मल्लिनाथ, श्री मुनिसुयत	६५
श्री नमिनाथ, श्री नेमिनाथ	६८
श्री पार्श्वनाथ, श्री महापार	७१

द्वितीय परिच्छेद

बुद्ध का स्वरूप और उसके दूषण	७६
जैनधर्म और ईश्वर	८१
जगत्कृतत्व मीमासा	८५
निरपेक्ष ईश्वरकृतत्व खण्डन	८७
ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण नहीं हो सकता	८९
ईश्वर प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं	९२
ईश्वर की जोररचना विषयक छ पक्षोत्तर	९३ -
ईश्वर की सृष्टि रचना विषयक प्रश्नोत्तर	९८

विषय	पृष्ठ
अद्वैतवाद का खण्डन	२०२
मायावाद का खण्डन	१११
श्री शङ्कराचार्य और सरसवाणी	२१३
अद्वैत ब्रह्म, तत्साधक अनुमान का खण्डन	१२२
सापेक्ष ईश्वरकर्तृत्व का खण्डन	२२८
नैयायिक तथा वैशेषिक के ईश्वर का स्वरूप और तत्साधक अनुमान	१२६
उक्त अनुमान का खण्डन	२३४
कर्मफल प्रदाता भी ईश्वर नहीं	१४१
कोट्यार्थ सृष्टिरचना को असंगति	१४६
एकत्व का प्रतिवाद	१५०
सर्व-यापकता का प्रतिवाद	२५२
सर्वज्ञता का प्रतिवाद	२५४
नित्यता का प्रतिवाद	२५५
परदृशानियों से ईश्वर चर्चा	१५७

तृतीय परिच्छेद

सुगुरु का स्वरूप	१६८
पाच महाव्रत का स्वरूप	१६९
प्रथम अहिंसा व्रत	१७०
द्वितीय सत्य व्रत	१७०

विषय	पृष्ठ
तृतीय अदत्तादान व्रत	१७१
चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत	१७३
पञ्चम अपरिग्रह व्रत	१७३
पच्चीस भागनाए	१७४
प्रथम व्रत की ५ भागना	१७५
दूसरे व्रत की ५ भागना	१७७
तीसरे व्रत की ५ भागना	१७८
चौथे व्रत की ५ भागना	१७९
पाचव व्रत की ५ भागना	१८२
चरणा सत्तरी के ७० भेद	१८३
दस प्रकार का यति धम	१८३
सतरह प्रकार का समय	१८५
प्रकारान्तर से समय के १७ भेद	१८६
दस प्रकार का वैयाहृत्य	१८८
ब्रह्मचर्य की नव श्रुति	१८९
रत्नत्रय	१९२
बारह प्रकार का तप	१९३
चार निग्रह	१९४
चरणा सत्तरी के ७० भेद	१९४
चार पिंडविशुद्धि	१९५

प्रियय	पृष्ठ
पाच समिति	१६५
बारह भावनाएँ	१६६
१ अनित्य भावना	१६७
२ अरणा भावना	१७८
३ ससार भावना	१६६
४ एकत्व भावना	२००
५ अन्यत्व भावना	२०१
६ अशुचि भावना	२०२
७ आश्रय भावना	२०३
८ स्वयं भावना	२०४
९ निर्जरा भावना	२०५
१० लोक स्वभाव भावना	२०६
११ बोधि दुर्लभ भावना	२०७
१२. वर्म भावना	२०८
बारह प्रतिमा	२१०
पाच इन्द्रिय निरोध	२१२
पच्चीस प्रतिलेखना	२१३
तीन गुप्ति	२१४
चार अभिग्रह	२१५
चरण सत्तरी और करण सत्तरी का अंतर	२१६
पचम काल के साधु का स्वरूप	२१७

विषय	पृष्ठ
वक्रुय निर्ग्रन्थ का स्वरूप	२२२
बुधोक्त निर्ग्रन्थ का स्वरूप	२२७

चतुर्थ परिच्छेद

बुधुरु का स्वरूप	२२६
क्रियावादी के १८० मत	२३१
कालवादी का मत	२३२
ईश्वरवादी का मत	२३४
भात्मवादी का मत	२३४
नियतिवादी का मत	२३५
स्वभाववादी का मत	२३५
अक्रियावादी के ८४ मत	२३७
यदृच्छावादिया का मत	२३८
अज्ञानवादी का मत	२३६
विनयवादी का मत	२४७
कालवाद का खण्डन	२४८
नियतिवाद का खण्डन	२५२
स्वभाववाद का खण्डन	२५६
यदृच्छावाद का खण्डन	२६१
अज्ञानवादी का खण्डन	२६२
विनयवाद का खण्डन	२६८

विषय	पृष्ठ
बौद्ध मत का स्वरूप	२७०
बुद्ध भगवान् के अनेक नाम	२७१
बौद्धों के नाम	२७२
चार आर्यसत्य	२७४
द्वादश आयतन	२७४
नैयायिक मत का स्वरूप	२७४
पैशेषिक मत का स्वरूप	२७५
साण्य मत	२७८
दुःखत्रय	२८१
तीन गुणों का स्वरूप	२८२
पच्चीस तत्त्वों का स्वरूप	२८४
पुरुष तत्त्व का स्वरूप	२८७
मीमांसक मत का स्वरूप	२९०
सर्वज्ञ चर्चा	२९२
नोदना का व्याख्यान	२९७
चार्वाक मत का स्वरूप	२९८
चार्वाक मत की उत्पत्ति	२९९
चार्वाक की मान्यताएँ	३०१
बौद्ध मत में पूर्वापर विरोध	३०६
बौद्ध मत का खण्डन	३१२

त्रिपय	पृष्ठ
नैयायिक मत में पूवापर विरोध	३२१
ईश्वर कर्तृत्व खण्डन	३२७
नैयायिकों के सोलह पदार्थों की समीक्षा	३३७
धशेपिकों के छ पदार्थों को समीक्षा	३४५
सांख्य मत का खण्डन	३५२
वेद विहित हिंसा	३७७
वेद विहित हिंसा का प्रतिपाद	३६०
जिन मन्दिर की स्थापना [हिंसा युक्त नहीं]	३६३
श्राद्ध का निषेध	३७८
चार्वाक मत व आत्मसिद्धि	३८७

पचम परिच्छेद

उम तत्त्व का स्वरूप	४०३
जीव तत्त्व का स्वरूप	४०४
जीव के भेद	४०५
पर्याप्ति का स्वरूप	४०६
स्थायर जीव का सिद्धि	४०७
पृथ्वी में जीव सिद्धि	४०८
जल में जीव सिद्धि	४०९
तेजकाय में जीव सिद्धि	४१०
वायुकाय में जीव सिद्धि	४११

विषय	पृष्ठ
अजीव तत्त्व का स्वरूप और उस के भेद	४१२
पुण्य तत्त्व का स्वरूप	४१६
४२ प्रकार का पुण्य फल	४१७
पाप तत्त्व का स्वरूप	४२१
पुण्य और पाप की निम्ति	४२३
पञ्च ज्ञानाधरण	४२७
पञ्च अन्तराय	४२८
नव दर्शनाधरण	४२८
मोह कर्म की २६ पाप प्रकृति	४३०
नव नोकयाग	४३२
नाम कर्म की ३४ पाप प्रकृति	४३४
ऊच नीच की समीक्षा	४३८
आध्वय तत्त्व का स्वरूप	४४२
आध्वय के ४२ भेद	४४३
हिंसा आदि अग्रत के चार चार भग	४४५
पच्चीस क्रियाएँ	४५०
सधर तत्त्व का स्वरूप	४५६
याचीस परिपह	४५६
निर्जरा तत्त्व	४६१
बन्ध तत्त्व का स्वरूप और छ विकल्प	४६२

त्रिपय	पृष्ठ
मिथ्यात्व के भेद प्रमेद	४६८
बारह प्रकार की अविरति	४७४
योग के भेद प्रमेद	४७५
दश प्रकार का सत्य वचन	४७७
दश प्रकार का भ्रूट	४७८
दश प्रकार का मिथ्य वचन	४७९
बारह प्रकार का व्यवहार वचन	४८०
काययोग क सात भेद	४८०
मोक्ष तत्र का स्वरूप	४८१
मिद्धो का स्वरूप	४८२

पष्ठ परिच्छेद

गुणस्थान और उसके १४ भेद	४८८
पहला मिथ्यात्व गुणस्थान	४८८
दूसरा सास्त्रादन गुणस्थान	४९३
तीसरा मिथ्य गुणस्थान	४९४
चौथा अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान	४९६
तीन करण	४९६
पात्रा वेराविरति गुणस्थान	५०२
छठा प्रमत्त गुणस्थान	५०५

विषय	पृष्ठ
सातवा अक्षरगत गुणस्थान	५३१
आठवें से बारहवें गुणस्थान तक का सामान्य रूप	५३१
उपरमश्रेणी	५३३
गुणस्थानों का आरोहणराह	५३६
क्षपकश्रेणी	५३८
प्राणायाम का स्वरूप	५३३
रेचक प्राणायाम	५३४
सुभक्त ध्यान	५३५
गुरु ध्यान और उसके भेद	५३७
वितर्क का स्वरूप	५३८
सचिचार का स्वरूप	५३८
अपृथक्त्व का स्वरूप	५३८
क्षपक और नयम गुणस्थान	५३९
क्षपक और दशम गुणस्थान	५४१
क्षपक और ग्यारहवा गुणस्थान	५४१
क्षपक और बारहवा गुणस्थान	५४२
अपृथक्त्व का स्वरूप	५४३
अविचार का स्वरूप	५४४
सचिचरक का स्वरूप	५४४

विषय	पृष्ठ
तेरहवा सयोगिकेवली गुणस्थान	५४६
तीथङ्कर नामकर्म का स्वरूप	५४७
केवलिसमुदात	५५०
चौदहवा अयोगिकेवली गुणस्थान	५५५
मुक्त आत्मा की गति	५५८
सिद्ध शिला	५५६
सिद्धावस्था	५६१
मुक्ति का विचार	५६२



* ॐ नम म्याद्वादवादिने *

न्यायाम्भोनिधिजैनाचार्य

श्री विजयानन्द सूरीश्वर (प्रसिद्ध नाम आत्मागम जी) विरचित

जैनतत्त्वादर्श

पूर्वाह्न

प्रथम परिच्छेद

• स्यात्कारमुद्रितानेक-सदसद्भायनेदिनम् ।
प्रमाणरूपमव्यक्त भगवन्तमुपास्महे ॥

देव, गुरु और धर्म तत्त्व का स्वरूप ।

विदित हो कि जो यह * जैनमत है, तिसका स्वरूप
श्री तीर्थंकर, गणधर और पूर्वाचार्यादिषों
प्राक्कथन ने आगम, नियुक्ति, भाष्य, चृष्टि, टीका
और प्रकरण तर्कादि अनेक ग्रन्थों द्वारा
स्पष्ट † निष्कन किया है । परन्तु पूर्वाचार्यरचित सर्व ग्रन्थ

प्राकृत वा संस्कृत भाषा में है। सो अत्र जैन लोगों के पढ़ने में उद्यम के न करने से उन अति उत्तम अद्भुत ग्रन्थों का आशय लुप्तप्राय हो रहा है। सो कितनेक भयं जीवों की प्रेरणा से तथा स्वकमनिर्जरा के आशय से, जिनको प्राकृत वा संस्कृत पढ़नी कठिन है, तिनों के उपकारार्थ देव, गुरु और भ्रम का स्वरूप किञ्चित् मात्र इस भाषाग्रन्थ में लिखते हैं।

सब धीसद्य में नम्रतापूर्वक यह चिन्तित है, कि जो इस ग्रन्थ को पढ़ें, सो जहा में ने जिन भाग से विरह्य लिखा हो, तहा यथार्थ लिख देंगे। यह मेरे ऊपर यड़ा अनुग्रह होगा। इस ग्रन्थ के लिखने का मेरा मुख्य प्रयाजन तो यह है, कि जो इस काल में बहुत नवीन मत लोफों ने स्वकपोलकल्पित प्रगट करे हैं तथा * अङ्गरेजों की और मुसलमानों की विद्या पढ़ने से तथा अनेक प्रकार के मत मनातरोँ की बातें सुनने से, अनेक भयंजीवों को अनेक प्रकार के सद्य उत्पन्न हो रहे हैं, तिन के दूर करने के वास्ते इस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है।

* पाठकों को इस बात का ध्यान रहे, कि इस लेख से स्वर्गीय आचार्य श्री जी अम्रेजी तथा अरबी वा फारसा के पठन पाठन का निषेध नहीं करते हैं। उनका आशय यही है कि उक्त भाषाओं के अभ्यासियों के लिये उचित है, कि वे अपने धार्मिक विचार सुरक्षित रखें और भारतीय सस्कृति व सभ्यता का तिरस्कार करने की घृष्टता न करें।

अथ पूर्वोक्त तीनों तत्त्वों में से प्रथम देवतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं—देव नाम परमेश्वर का है। सो परमेश्वर के स्वरूप में अनेक प्रकार के विकल्प मतान्तरीय पुरप करते हैं, सो जैनमत में परमेश्वर का क्या स्वरूप मान्या है, तिस परमेश्वर का स्वरूप, नाम, रूप और विशेषण मयुक्त लिखते हैं। जैनमत में जो परमेश्वर मान्या है, सो चारह गुण मयुक्त और अष्टादश दूषण रहित अर्हन्त परमेश्वर है और जो परमेश्वर उक्त चारह गुण रहित तथा अष्टादश दूषण सहित होगा तिस में कदापि परमेश्वरता सिद्ध नहीं होगी। यह कथन भागे चलकर लियेंगे।

अथ प्रथम चारह गुण लिखते हैं * अशोकवृक्षादि
अष्ट † महाप्रातिहार्य (सर्व जैन लोगों में
देव अरिहत के प्रसिद्ध हैं) तथा चार मूलातिशय ण्व सप्त
चारह गुण चारह गुण हैं तिस में चार मूलातिशय का
नाम कहते हैं—१ ज्ञानातिशय २ वागतिशय
३ अपायापगमातिशय ४ पूजातिशय। तत्र प्रथम ज्ञानातिशय

* अशोकवृक्ष मुरपुपवृष्टिर्दिव्यध्वनिधामरमासनञ्च ।

भामण्डल दुन्दुभिरातपत्र मप्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

अथ—१ अशोकवृक्ष, २ देवों द्वारा वृक्षों का वषा ३ दिव्य ध्वनि, ४ चामर, ५ मिहामन ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि ८ छत्र—यह जिनेश्वर के आठ प्रातिहार्य हैं।

† प्रातिहार्य शब्द की व्युत्पत्ति —

‘प्रतिहाग इ द्रवचनानुमारिणो देवास्तः कृतानि प्रातिहार्याणि’—इन्द्र

का स्वरूप कहे हैं। केवलज्ञान, केवलद्वन्द्वान करी भूत, भविष्य, वर्तमान काल में जो सामान्य विशेषात्मक वस्तु है, तिसको तथा * "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"—त्रिकालसम्बन्धी जो सत् वस्तु का जानना तिसका नाम ज्ञानातिशय है। दृजा वचनातिशय—तिसमें भगवन्त का वचन पैंतीस अतिशय करी सयुक्त होता है। तिन पैंतीस अतिशयों का स्वरूप ऐसा है ?

† "मस्कारप्रत्यम्-ससृतादि लक्षणयुक्तं, २, 'औदात्यम्'-शब्द में उच्चपना, ३, १ "उपचारपरीतता"—अग्राम्यत्वम्—ग्राम के रहने हारे पुष्प के वचन समान जिनों का वचन नहीं, ४ 'मेघगम्भीर घोषत्वम्"—मेघकी तरंग गम्भीर शब्द, ५ ॥ "प्रतिज्ञाद्विधायिता"—

के आदेश का अनुसरण करने वाले देव 'प्रतिहार' कहलाते हैं, उन देवों से किये गए भक्तिरूप कृत्य विशेष को प्रातिहार्य कहते हैं।

* यह तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का ५-२१ सूत्र है, जिस का अर्थ इस प्रकार है—

चो उत्पत्ति विनाश तथा स्थिति युक्त है उसे सत्-पदार्थ कहते हैं।

† मस्कारादि युक्त वचन अर्थात् जिस वचन में भाषा शास्त्र की दृष्टि में कोई भी दोष न हो।

पिम में शब्द और अर्थ विषयक गम्भीरता होती है।

१ ग्रामीणता दोष से रहित होना।

॥ अभिधान चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में ऐसा अर्थ उपलब्ध होता है—
'प्रतिरवोपेतता—प्रतिध्वनि से युक्त अर्थात् चारों ओर दूर तक गूँजने वाला। नाद शब्द का अर्थ वायु-वाजिभ्र भी है। अतः उपयुक्त अर्थ भी सगत हो है।

सर्वे वाजिप्रौंके साथ मिलता शब्द, ६ "दग्निणत्वम्"—सरलता
 सयुक्त, ७ "उपनीतरागत्वम्"—मालव, कौशिक्यादि ग्राम,
 राग सयुक्त । ए सात अतिशय तो शब्द की अपेक्षा से जानना
 और अन्य अनिशय जो हैं सो अर्थाशय जानना । ८ 'महार्थता"—
 बड़ा—मोटा जिसमें अभिधेय अर्थात् कहने योग्य जय है
 ९ "अव्याहृतत्वम्"—पूर्वापर विरोध रहित, १० "शिष्टत्वम्"—
 अभिमत सिद्धांत-नोकार्यता—एतावता अभिमत सिद्धान्त
 जो कहना सोइ वत्ता के शिष्टपने का सूचक है, ११
 "सशयानामसभव"—जिनों के कहने में श्रोता को शय
 नहीं होता, १२ निराकृताऽन्योत्तरत्वम्"—जिनों के कथन में
 कोई भी दूषण नहीं अर्थात् न तो श्रोता को शका उत्पन्न
 होवे न भगवान् दूसरी प्राग् उत्तर दें, १३ 'हृदयगमता"—
 हृदय प्राद्यत्व-हृदय में ग्रहण करने योग्य, १४ 'मिथःसाक्षा
 त्तना"—परस्पर आपस में पद वाक्यों का सापेक्षपना, १५
 "प्रस्तापौचित्यम्"—देशकाल करके रहितपना नहीं १६
 "तत्त्वनिष्ठता"—विचक्षित वस्तु के स्वरूपानुसारिपना, १७

* जिसमें शुद्ध मगीत की प्रधानता होती है ।

† अभिमत सिद्धांत को कहने वाला, अर्थात् अभिमत सिद्धांत
 का प्रतिपादन करना ही वत्ता का शिष्टता का सूचक है ।

‡ जो देशकाल के अनुसार हो ।

§ विचक्षित विषय के अनुकूल होता है अर्थात् अप्रासंगिक नहीं
 होता ।

* अप्रकीणप्रसन्नरसम्'—सुसम्बद्ध होकर प्रसरना अथवा जिसमें असम्बद्धाधिकार तथा अतिविस्तार नहीं १८ "अम्बद्गन्धान्यनिन्दता"—आमोत्कर्ष तथा परनिन्दा करके घञित, १९ "आमिजात्यम्"—प्रतिपाद्य वस्तु की भूमिकाजुसारिपना, २० १ अतिस्निग्धमधुरत्वम्"—घृत गुडादिवत् सुम्बकारी, २१ प्रसम्बन्धता—ऊपर कह जो गुण तिनकी योग्यता से प्राप्त हुई है श्लाघा जिसे २२ अमर्मवेधिता परके मर्मना जिसमें उघाहना नहीं है, २३ "आदायम्"—जिसमें अभिधेय अर्थ का तुच्छपना नहीं २४ "धमाद्यप्रतिबद्धता"—धर्म और अर्थ करके सयुक्त २ 'कारकाद्यविषयास"—जिसमें कारक काल घचन और लिङ्गादि का विषय नहीं, २६ विभ्रमादिवियुक्तता'—विभ्रम यत्ना के मन की भ्रान्ति तथा विक्षेपादि दोष रहितपना २७ "चित्रवृत्त्वम्"—उत्पन्न करा है अछिन्न (निरन्तर) कावहलपना जिसने १८ 'अद्भुतत्वम्"—अद्भुतपना २९ अनतिविलम्बिता'—अतिविलम्बरहितपना, ३० 'अनेकजातिवैचित्र्यम्—जातिया-वर्णन करने योग्य वस्तु स्वरूप वर्णन—उन्हीं का आश्रय ३१ 'आरोपितविशेषता"—वचनांतर की अपेक्षा करके स्थापन किया गया विशेषपना, ३२ 'सत्त्वप्रधानता"—

* जो सुसम्बद्ध होकर चलता है अथवा जिसमें असम्बद्ध अधिकार और अतिविस्तार का अभाव होता है ।

१ जो मृदु और मधुर होता है ।

जिसमें विविध वर्णनीय विषया का निरूपण होता है ।

साहसकारी वर्णन सयुक्त, ३३ * “वर्णपट्टवाक्यविविक्तता” ।
 घर्णादिकों का विच्छिन्नपना, ३४ § “अन्युच्छिन्ति”—विव-
 च्छितार्थ की सम्यक् सिद्धि जहा लग न होये तदा ताई
 अव्ययच्छिन्न वचन का प्रमेयपना, ३५ “अवेदित्यम्”—थकेरा-
 थकावट रहित । यह भगवत् के दूसरे वचनातिशय के पैंतीस
 भेद है । तीसरा “अपायापगमातिशय”—पनायता उपद्रव
 निवारक अतिशय है । और चौथा पूजातिशय अर्थात् भगवान्
 तीन लोक के पूजनीक है । इन दोनों अतिशयों के विस्तार
 रूप चौतीस अतिशय होते हैं, सो लिखते हैं—

१ तीथङ्कर भगवान् की देह का रूप और सुगन्ध

सर्वोत्कृष्ट और देह रोग रहित तथा पस्मीना

चौतीस और मल करी वजित है, २ श्वास

अतिशय निःश्वाम पद्म-कमल की तरें सुगन्धवाला,

३ रश्मि और मास गोदुग्धवत् उज्ज्वल,

४ आहार नीहार की विधि चर्मचक्षुवाले को नहीं दीये ।

ए चार अतिशय जन्म से ही साथ होते हैं । १ एक योजन

प्रमाण ही समवसरण का क्षेत्र है, परन्तु तिसमें देवता,

मनुष्य, और तिर्यञ्च की कोशाकोटि भी समाय सकती है

अर्थात् भीड़ नहीं होनी, २ चाण्डी-भाषा †अधमागधी देवता,

* जिसमें वर्ण, पद तथा वाक्य अलग अलग रहते हैं ।

§ जिसका प्रवाह विवच्छितार्थ की सिद्धि पयन्त जारी रहे ।

† तीथङ्कर भगवान् जिस भाषा में उपदेश दते हैं, उसका नाम अध-
 मागधी भाषा है । विशेष स्वरूप के लिये देखो परिशिष्ट न० १-क ।

मनुष्य, तियञ्च को अपनी अपनी भाषापने परिणमती है, और एक योजन में सुनाई देती है ३ प्रभामडल-मस्तक के पीछे सूय के घिस्र की मात्रो विडम्बना करता है अपनी शोभा करके, ऐसा मनोहर भामडल शोभे है ४ साढे पञ्चोम योजन प्रमाण चारों पासे उपद्रवरूप ज्वरादि रोग न होवें, ५ वैर-परस्पर विरोध न होवे, ६ ईति-धान्याद्युपद्रवकारी घण मूषकादि न होवें, ७ मारिमरी का उपद्रव न होवे ८ अतिवृष्टि-तिरन्तर वर्षण न होवे ९ अतिवृष्टि-वषणे का अभाव न होवे, १० दुर्मिच्छ न होवे, ११ स्ववक्र परवक्र का भय न होवे । ए ग्यारा अतिशय * ज्ञानावरणीय अष्टि चार घाती कर्मों के क्षय होने से उत्पन्न होत है । १ आकाश में धर्म-प्रकाशक चक्र होता है, २ आकाश गत चामर, ३ आकाश में पादपीठ सहित स्फटिकमय सिंहासन होता है, ४ आकाश में तीन छत्र, ५ आकाश में रत्नमय ध्वजा, ६ जय भगवान् चलते हैं, तब पग के हेठ सुवर्णकमल देवता रच देते हैं । ७ समवसरण में रत्न, सुवर्ण और रूपामय तीन मनोहर कोट होते हैं, ८ समवसरण में प्रभु के चार मुप दीपते हैं, ९ अशोक वृक्ष छाया करता है, १० फाटे अधो मुख हो जाते हैं, ११ वृक्ष ऐसे नम्रित होत हैं, मानो नमस्कार करते हों १२ उचनाद

* ज्ञानावरणीय, दशनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कम आत्मा के विषय गुणों का घात करते हैं, इस लिए यह घाती कर्म कहे जाते हैं ।

सै दुन्दुभि भुवनयापक नादध्वनि करता है, १३ पवन सुषदाई चलता है १४ पक्षी प्रदक्षिणा देते हैं, १५ सुगन्धमय पानी की वर्षा होती है, १६ गोडे प्रमाण पच वर्ण क फूलों की वर्षा होती है, १७ केश, दाढ़ी, मूत्र नय अग्रस्थित रहते हैं, १८ चार प्रकार के देवता जघन्य मे जघन्य भगवत के पास एक कोटी होते हैं, १९ पद्मस्तु अनुकूल होती है—एतावता उनके स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द ए पाचों धुरे तो लुप्त हो जाते हैं और अच्छे प्रगट हो जाते हैं । ए ओगणीय अतिशय देवता करते हैं । मतान्तर तथा वाचनान्तर में कोई कोई अतिशय अन्य प्रकार से भी हैं । ए पूर्वोक्त चार मूलातिशय और आठ प्रातिहार्य एक वारा गुणों करी विराजमान अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर है । और अठारह दूषण करके रहित है । सो अठारह दूषणों के नाम दो श्लोक करके लिखते हैं —

अन्तराया दानलाभरीर्यभोगोपभोगगाः ।

हासो स्त्वरती भीर्तिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥

कामो मिथ्यात्वमज्ञान निद्रा चाभिरतिस्तथा ।

रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥

[अभि० चि० का० १, श्लो० ७२-७३]

इन दोनों श्लोकों का अर्थ—१ “दान देने में अन्तराय”

* जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग रूप

२ “लाभगत अन्तराय” ३ “वीर्यगत अन्तराय” ४ जो एक रेरी भोगिये सो भोग पुष्पमालादि, तद्रत जो अतराय सो “भोगान्तराय,” ५ जो बार बार भोगने में आवे सो उपभोग खी आदि, घर आदि ६ कण कुण्डलादि, तद्रत जो अन्तराय सो “उपभोगान्तराय” ६ ‘हास्य -हसना, ७ ‘रति’-पदार्थों के ऊपर प्रीति, ८ ‘अरति’-रति से विपरीत सो अरति, ९ “भय”-सप्त प्रकारका भय, १० “जुगुप्सा”-घृणा-मलीन घस्तु को देखकर नाक चढ़ाना, ११ ‘शोक’ चित्त का विकल्पना, शक्तियों का घात करता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। उसके दाना-तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय ये पांच भेद हैं।

(१) दान की सामग्री उपस्थित हो, गुणवान् पात्र का योग हो और दान का फल ज्ञात हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उसाह नहीं होता वह ‘दानान्तराय’ है।

(२) दाता उदार हो, दान की वस्तु उपस्थित हो, याचना में करालता हो तो भी जिस कर्म के उदय से याचक को लाभ न हो सके वह लाभान्तराय है। अथवा योग्य सामग्री क रहते हुवे भी जिस कर्म के उदय से जीवको अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, उसको “लाभान्तराय” कहते हैं।

(३) वीर्य का अर्थ सामर्थ्य है। कमवान् हो, नीरोग हो और युवा भी हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृण को भी देना न कर सके वह “वीर्यान्तराय” है।

१२ "काम"-मन्मथ-स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों का वेद
 विकार, १३ "मिथ्यात्व"-दर्शन मोह-विपरीत श्रद्धान, १४
 "अज्ञान" मूढपना, १५ "निद्रा"-सोना, १६ "अविगति"-
 प्रत्याख्यान से रहित पना १७ "राग"-पूर्व सुखों का स्मरण
 और पूर्व सुख वा तिसके साधन में गृह्णित्वा, १८ "द्वेष"-
 पूर्व दुखों का स्मरण और पूर्व दुख वा तिसके साधन विषय
 क्रोध। यह अठारह दूषण जिनमें नहीं सो अर्हन्त भगवन्त
 परमेश्वर है। इन अठारह दूषण में से एक भी दूषण जिसमें
 होगा सो कभी भी अर्हन्त भगवत परमेश्वर नहीं हो
 सकता।

प्रश्न —दानान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर
 दान देता है ? अरु लाभान्तराय के नष्ट होने
 अठारह दोषों में क्या परमेश्वर को लाभ होता है ? तथा
 की मीमांसा धीर्यन्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर शक्ति
 दिग्पलता है ? तथा भोगान्तराय के नष्ट होने
 से क्या परमेश्वर भोग करता है ? उपभोगान्तराय के नष्ट

(४) भोग के साधन मौजूद हों, वराम्य भी न हो, तो भी जिन
 कम के उदय में जीव भोग्य वस्तुओं को भोग न सके वह "भोगान्तराय" है।

(५) उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस
 कम के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थ का उपभोग न कर सके यह
 "उपभोगान्तराय" है।

होने में—क्षय होने से क्या परमेश्वर उपभोग करता है ?

उत्तर—पूजाक पाचों विधियों के क्षय होने से भगवन्त में पूज पाच शक्तिया प्रगट होती हैं । जैसे—निमित्त चक्षु में पटलादिक बाधकों के नष्ट होने से देखने की शक्ति प्रगट होजाती है, चाहे देखे चाहे न देखे, परन्तु शक्ति विद्यमान है । जो पाच शक्तियों से रहित होगा वह परमेश्वर कैसे हो सकता है ?

छटा दूषण 'हास्य' है—जो हँसना आता है सो अपूर्व वस्तु के देखने से या अपूर्व वस्तु के सुनने से या अपूर्व आश्चर्य के अनुभव के स्मरण से आता है । इत्यादिक हास्य के निमित्त कारण हैं तथा हास्यरूप मोहकर्म की प्रकृति उपादान कारण है । सो ए दोना ही कारण अर्हन्त भगवन्त में नहीं हैं । प्रथम निमित्त कारण का समझ कैसे होवे ? क्योंकि अर्हन्त भगवन्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं उनके ज्ञान में कोई अपूर्व ऐसी वस्तु नहीं जिसको देखे, सुने, अनुभवे आश्चर्य होवे । इसमें कोई भी हास्य का निमित्त कारण नहीं । और मोह कम तो अर्हन्त भगवन्त ने सर्वथा क्षय कर दिया है, सो उपादान कारण क्यों कर समझे ? इस हेतु से अर्हन्त में हास्यरूप दूषण नहीं । और जो हसनशील होगा सो अग्र्य असर्वज्ञ असर्वदर्शी और मोहकरी सयुक्त होगा । सो परमेश्वर कैसे होवे ?

सातवा दूषण रति है—जिसकी प्रीति पदार्थों के ऊपर होगी सो अग्र्य सुन्दर शब्द, रूप गन्ध, रस, स्पर्श खी

आदि के ऊपर प्रीतिमान होगा । जो प्रीतिमान होगा सो अवश्य उस पदार्थ की लालसा वाला होगा, अरु जो लालसा वाला होगा सो अवश्य उस पदार्थ की अप्राप्ति में दुःखी होगा । वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे हो सकता है ?

आठवा दूषण "अरति" है—जिसकी पदार्थों के ऊपर अप्रीति होगी सो तो आपही अप्रीतिरूप दुःखकरी दुःखी है । सो अर्हन्त भगवन्त कैसे हो सके ?

नववा दूषण भय ' है—सो जिसने अपना ही भय दूर नहा किया वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे होवे ?

दशवा दूषण "जुगुप्सा" है—सो मलीन वस्तु को देखके घृणा करनी—नाक चढ़ानी सो परमेश्वर के ज्ञान में सर्व वस्तु का भासन होता है । जो परमेश्वर में जुगुप्सा होवे तो उदा दुःख होवे । इस कारण ते जुगुप्सामान अर्हन्त भगवन्त कैसे होवे ?

ग्यारवा दूषण "शोक" है—सो जो आपही शोक वाला है सो परमेश्वर नहीं ।

बारवा दूषण "काम" है—सो जो आपही विषयी है, स्त्रिया के साथ भोग करता है, तिस विषयाभिलाषी को कौन बुद्धिमान पुरुष परमेश्वर मान सकता है ?

तेरवा दूषण 'मिथ्यात्व' है—सो जो दर्शनमोहकरी लिप्त है सो भगवन्त नहीं ।

चौदवा दूषण "अज्ञान" है—सो जो आपही मूढ़ है—सो अर्हन्त भगवन्त कैसे ?

पदरवा दूषण "निद्रा" है—सो जो निद्रा में होता है, सो निद्रा में कुछ नहीं जानता और अर्हन्त भगवान् तो सदा सर्वज्ञ है, सो निद्राजान् कैसे होवे ?

सोलसा दूषण 'अप्रत्याख्यान' है—सो जो प्रत्याख्यान रहित है वोह सर्वाभिलाषी है सो तृष्णाजान् कैसे अर्हन्त भगवन्त हो सके ?

सतारवा और अठारवा—ए दोनों दूषण राग अरु द्वेष हैं। सो रागवान्, द्वेषवान् मध्यस्थ नहीं होता। अरु जो रागी द्वेषी होता है तिस में क्रोध मान भाया का सम्भव है। भगवान् तो धीतराग, सम शत्रुमित्र सर्व जीवों पर समबुद्धि, न किसी को दुःखी अरु न किसी को सुखी करे हैं। जेकर दुःखी सुखी करे तो धीतराग, करणा समुद्र कभी भी नहीं हो सकता। इस कारण तें राग द्वेष वाला अर्हन्त भगवन्त परमेस्वर नहीं। ए पूर्वोक्त अठारह ~ दूषण रहित अर्हन्त भग

ॐ अष्टादश दाप कर्मजय है, अत विम आत्मा में यह दाप उपलब्ध होंग उस में कर्ममल अवश्य ही विद्यमान होगा। और कममल से जो आत्मा लिप्त है वह जीव अथवा सामान्य आत्मा है परमात्मा नहीं। क्योंकि कममल से सवधा रहित हाना ही परमात्मपद की प्राप्ति अथवा आत्मा का सम्पूर्ण विक्रम है। इस लिए जो आत्मा कर्ममल से सवधा रहित हो गया है वही परमात्मा है और उस में यह दोष कभी नहीं रह सकने। अत सामान्य आत्मा आर परमात्मा की पराचा के लिए उक्त दोषों का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वन्त परमेश्वर है अपर कोई परमेश्वर नहीं ।

अथ अर्हन्त के नाम दो श्लोकों करि लिखते हैं —

अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालवित्,

क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः ।

शम्भु स्वयम्भुर्भगवान् जगत्प्रभु-

स्तीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वर' ॥

स्याद्वाद्यभयटमार्गा' सर्वज्ञः सर्वदर्शिकेनलिनौ ।

देवाधिदेवमोधिदपुरुषोत्तमप्रीतगगाप्ता ॥

[अभि० चि०—का० १, श्लो० २४ २५]

इन दोनों श्लोकों का अर्थ - १ "अर्हन्"—चौंतीम अतिशय

करी, सबसे अधिक होने से, तथा सुरेन्द्र

परमात्मा के आदिकों की करी हुई अष्ट महाप्रातिहार्य, और

विविध नाम जन्मस्तात्रादि पूजा के योग्य होने से

अर्हन्, अथवा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म

रूप घैरी को हनने से अर्हन्, अथवा चध्यमान कर्म रज के

हनने से अर्हन्, अथवा नहीं है कोई पदार्थ छाना जिन्हों के

ज्ञानमें सो अर्हन् । तथा नामान्तर में अरहन्-नहीं उत्पन्न होता

भवरूपी अकुर जिनों के सो अरहन् । २ "जिन"—जीते है

राग, द्वेष, मोहादि अष्टादश दूषण जिसने सो जिन । ३

"पारगत"—जो ससार के अथवा प्रयोजन जात के-प्रयोजन

मात्र के पार अन्त को गत प्राप्त हुआ है, पतावता ससार में

जिसका कोई प्रयोजन नहीं सो पारगत । ४ "त्रिकालवित्"—

भूत, भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों को जो जाने सो त्रिकालवित् । ५ “क्षीणाष्टकमा”-क्षीणाणि-क्षय हुए हैं आठ क्षानावरणीयादि कर्म जिसके सो क्षीणाष्टकर्मा । ६ “परमेष्ठी” परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी—परम—उत्कृष्ट पद में जो रहे सो परमेष्ठी । ७ अधीश्वर”-जगत का ईश्वर स्वामी सो अधीश्वर । ८ ‘शम्भु”-श-शाश्वत सुख, तिस में जो होवे सो शम्भु । ९ ‘स्वयम्भु”-स्वय आप ही अपनी आत्मा करके तथाभव्यत्वादि सामग्री के परिपक्व होने से न कि पर के उपदेय से (यह तिसही भवकी अपेक्षा का कथन है) जो होवे सो स्वयम्भु । १० “भगवान् —भग शब्द के चोदह अर्थ हैं । तिनमें से अर्क और योनि ए दो अर्थ वर्ज के शेष चारा अर्थ ग्रहण करने, तिनका नाम कहते हैं—१ ज्ञानवन्त, २ माहात्म्यवन्त, ३ शाश्वत वैरियों के वैर की उपशमने से यशस्वी ४ राज्यलक्ष्मी के त्याग से वैराग्यवन्त ५ मुक्तिवन्त ६ रूपवन्त, ७ अनन्तरल होने से वीर्य वन्त, ८ तप करने में उत्साहवान होने से प्रयत्नवन्त, ९ इच्छावन्त-ससार सेती जीवों का उद्धार करने में इच्छा वाला, १० चिंतीम अतिशय रूप लक्ष्मी करी विराजमान होने से धीमन्त, ११ धर्मवन्त १२ अनेक देवकोटि करी सेव्यमान होने से ऐश्वर्यवन्त—ए चारा अर्थ करी जो संयुक्त सो भगवान् । ११ “जगत्प्रभु १२ “तीर्थङ्कर”-तरिये ससार समुद्रे जिस करके सो तीर्थ—प्रवचन का आधार स्वरूप

घात प्रकार का सघ, अथवा प्रथम गणधर, तिसके जो करने वाला सो तीर्थङ्कर । १३ "जिनेश्वर"—सगादिकों के जीतने हारे सो जिन—केपली तिनका जो ईश्वर सो जिनेश्वर । १४ "स्याद्वादी"—'स्यात्' एह जो अव्यय है सो अनेकान्त का याचक है, वस्तु को अनेकान्तपने—अनेक स्वरूपे कहने का शील है जिसका सो स्याद्वादी । १५ * "अभयद"—भय सात प्रकार का है—१ मनुष्यादि को मनुष्यादि स्वजातीय से अर्थात् एक मनुष्य को अन्य मनुष्य सेती जो भय होवे सो "इहलोकभय," २ विजातीय तिर्यञ्च, देवतादिक सेती जो भय होवे सो "परलोकभय," ३ आदानभय—आदान कहिये धन, तिस धन के कारणे चोरादिक सेती जो भय होवे सो "आदानभय," ४ चाहिरले निमित्त विना घरादि में बैठे को जो भय होवे सो "अकस्मात् भय", ५ आजीविकाभय—मे निर्धन हूँ,

* अभि० वि०, का० १, श्लो० २५ की टीका से उद्धृत —

भय इहपरलोकादानाकस्मादाजीवमरणाभाषाभेदेन सतथा, एतत् प्रतिपन्नतोऽभय विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्य नि भ्रयसधर्मनिबन्धनभूमिकाभूत, तत् गुणप्रकर्षादचित्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परामकारित्वात् ददातीति अभयद ।

भावार्थ—सप्तविध भय से विलक्षण जो आत्मा की विशिष्ट निरा कुलता है उसका नाम अभय है । यह मोक्षप्राप्ति के साधनभूत धर्म को भूमिका—आधारशिला है । अनन्तवीर्य आदि गुणा के प्रकर्ष से सर्वशक्तिमान् और परोपकारी होने से उसे जो देता है उसको अभयद कहते हैं ।

कैसे दुर्भिक्षादिक में अपने आपको धारण करूंगा, ऐसा जो भय सो "आजीविकाभय," ६ मरणभय-मरण से जो भय सो "मरणभय" वह प्रसिद्ध ही है, ७ अश्लाघाभय-अपयश का भय जो मैं ऐसा करूंगा तो मेरा बड़ा अपयश होगा अपयश के भयसे किसी निन्दनीय कार्य में प्रवर्तें नहीं सो "अश्लाघाभय", ८ सात प्रकार का भय, इस का जो विपक्षी सो अभय है। सो क्या वस्तु है? आत्मा का विशिष्ट स्वास्थ्यपना, नि श्रेयस धर्मनिबन्धनभूमिकाभूत, तिस को गुण के प्रकर्ष से अचिन्त्य शक्तियुक्त होने से, सर्वथा परहितकारी होने से जो देवे सो अभयद। १६ 'सार्व'—सर्व प्राणियों के ताई जो हितकारी सो सार्व। १७ "सर्वज्ञ"—सर्व को जो जाने सो सर्वज्ञ। १८ "सर्वदर्शी"—सर्व को जो देवे सो सर्वदर्शी। १९ सर्व प्रकारे कर्मप्रण के दूर होने से जो चेतनस्वरूप प्रगट भया सो केवल—केवल ज्ञान, वह जिससे है सो केवली। २० देवाधि देव"—देवताओं का जो अधिपति सो देवाधिदेव। २१ 'बोधिद'—बोधि जिनप्रणीत धर्म की प्राप्ति, तिसको जो देव सो बोधिद। २२ "पुरुयोत्तम"—पुरुषों में उत्तम—सहज तथा भयत्वादि भावकरी जो श्रेष्ठ सो पुरुयोत्तम। २३ "वीतराग"—वीतो-गतो रागोऽस्मात् इति वीतराग, चला गया है राग जिससे सो वीतराग। २४ "आप्त"—हितोपदेशक होने से आप्त कहिये—यद्यर्थ वत्ता। इत्यादिक : हजारों नाम परमेश्वर के हैं। यह पृथोक्त परमेश्वर का स्वरूप थी हमचन्द्राचार्यकृत

ग्रन्थों के अनुसार तथा समवायाङ्ग, राजप्रश्रीय प्रमुख शास्त्रों के अनुसार सक्षेप से लिखा है, अन्यथा जिनसहस्रनाम ग्रन्थ में तो एक हजार आठ नाम अन्वयार्थ सहित कहे हैं। सर्व नाम व्युत्पत्ति सहित अर्हन्त परमेश्वर के हैं। सो अर्हन्त पद तो एक और अनादि अनन्त है, परन्तु इस पद के धारक जीव तो अतीत काल में अनन्त हो गये हैं। क्योंकि एक एक उत्सर्पिणी अथसर्पिणी काल में भारतवर्ष में चौबीस चौबीस जीव, अर्हन्त पद को धारकर पीछे सिद्धि पद को प्राप्त हो चुके हैं।

इस वर्तमान अथसर्पिणी में पिछली उत्सर्पिणी में जो जीव अर्हन्त पद के धारक हुए हैं, तिन के गत चौबीसी के नाम यह हैं — १ केवलक्षानी २ निर्वाणी तीर्थकर ३ सागर ४ महायश ५ विमलनाथ ६ सर्वानुभूति ७ श्रीधर ८ दत्त ९ दामोदर १० सुनेज ११ स्वामी १२ मुनिसुवत १३ सुमति १४ शिवगति १५ अस्ताग १६ नेमीश्वर १७ अनिल १८ यशोधर १९ कृतार्थ २० जितेश्वर २१ शुद्धमति २२ शिव कर २३ म्यन्दन २४ सम्प्रति ।

अथ वर्तमान चौबीस अर्हन्तों के नाम — १ श्रीऋषभनाथ २ श्री अजितनाथ ३ श्री सम्भवनाथ ४ वर्तमान चौबीसी श्री अभिनन्दननाथ ५ श्री सुमतिनाथ ६ श्री तीर्थकर पद्मप्रभ ७ श्री सुपार्श्वनाथ ८ श्री चन्द्रप्रभ ९ श्री सुविधिनाथ अपर नाम पुष्पदन्त १०

श्री शीतलनाथ ११ श्री श्रेयाम्बनाथ १२ श्री वासुपूज्य
 १३ श्री त्रिमलनाथ १४ श्री अनन्तनाथ १५ श्री धर्मनाथ
 १६ श्री शान्तिनाथ १७ श्री कुशुनाथ १८ श्री अरनाथ
 १९ श्रीमहिनाथ २० श्री मुनिसुव्रत स्वामी २१ श्री नेमिनाथ
 २२ श्री अरिष्टनेमि २३ श्री पार्श्वनाथ २४ श्री महावीर ।

अब चौबीस तीर्थङ्कर भगवन्तों के जो नाम हैं, सा किस

किस कारण स हुये हैं, तिन नामों का एक

सामान्य और तो सामान्यार्थ है, जो सब तीर्थङ्करों में

विशेष अर्थ *पाये और दृजा विशेषार्थ है जो एक ही

तीर्थङ्करके नाम का निमित्त है, सो लिखते हैं-

१ "ऋषति शच्छति परमपदभिति ऋषभ" ; जात्रे जो परम
 पद को सो ऋषभ । यह अर्थ सब तीर्थङ्करों में व्यापक है ।
 अथ विशेषार्थ- उर्वोर्ध्वमभलाच्छनमभूत्, भगवतो जनन्या च
 चतुर्दशाना स्वप्नानामादौ वृषभो दृष्टस्तेन ऋषभ'-भगवान की
 दोनों साधनों में वैल का लान्छन था, अथवा भगवन्त की

* चरिताथ होता है ।

! ऋषभदेव का दूसरा नाम 'वृषभ' भी है यथा-'वृष उठहने'
 समप्रययमभाराद्दहनाद् वृषभ, सर्व एव च भगवतो यथोचस्वरूपा ।

अर्थ—'वृष धातु भार उठाने के अर्थ म ह । अधान् सयम भार के
 उठाने से भगवान् ऋषभदेव का 'वृषभ' भी नाम है । समा भगवान् उक्त
 स्वरूप बाने होते हैं, अत यह सामान्य स्वरूप है ।

माता मरुदेवी ने चौदह स्वप्न की आदि में वैल का स्वप्न देखा था, तिस कारण से ऋषभ ऐसा नाम दिया। ऐसे ही सर्ग तीर्थङ्करों का प्रथम सामान्यार्थ और दूसरा विशेषार्थ जानना।

२—“परीपहादिभिर्न जित इत्यजित”—चावीस परीपह, आदि शब्द से चार † कषाय, आठ ‡ कर्म, चार प्रकार का §उपसर्ग-इनों करके जो न जीत्या गया सो अजित, “यद्वा गर्भस्येऽस्मिन् द्यते राक्षा जननी न जितेत्यजित”—अथवा जब भगवान गर्भ में थे तब जूआ खेलता हुआ राजा रानी को न जीत सका, इस हेतु से अजित नाम दिया।

३—“श सुप भवत्यस्मिन् स्तुते स शम्भव”—श नाम सुख का है, सुख होवे जिसकी स्तुति करने पर सो शम्भव, “यद्वा गर्भगतेऽस्मिन् अत्यधिकसस्यसभयात् सम्भवोपि”—अथवा भगवान जब गर्भ में थे तब पृथिवी में अधिक धान्य

* १ ध्रुवा, २ पिषामा, ३ शोत, ४ उष्ण, ५ दशमशक-

राम और मन्त्र ६ नगत्व, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चया, १०

निषया, ११ शय्या, १२ आश्रोग, १३ वध, १४ याचना, १५

अनाम, १६ रोग, १७ तृणस्पश, १८ मल, १९ मत्कारपुरस्कार,

२० प्रज्ञा, २१ अज्ञान, २२ अदशन। विशेष स्वरूप के लिये देखो

परि० न० १-ग।

† १ शोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ।

‡ १ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोदनीय,

५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अंतराय।

§ १ देवकृत, २ मनुष्यकृत, ३ तिर्यञ्चकृत, ४ कर्मजनित।

का सम्भव होने से *सम्भव ।

४—‘अभिनद्यते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनन्दन’—जिनकी स्तुति करी है देवेन्द्रादिकों ने सो अभिनन्दन । ‘यद्वा गर्भात्प्रभृत्येवाभीक्षणं शकेशाभिनन्दनादभिनन्दन’—अथवा जिस दिन भगवान् गर्भ में आये उस दिन से लेकर शप्तेन्द्र के बार बार स्तुति करने से अभिनन्दन ।

५—“शोभना मतिरस्येति सुमति”—भली है बुद्धि जिसकी सो सुमति । “यद्वा गर्भस्थे जनया सुनिश्चितामतिरभूदिति सुमति”—अथवा भगवान् के गर्भ में आने पर माता की बहुत निर्मल—निश्चित बुद्धि हुई, इस हेतु से सुमति ।

६—‘निष्पङ्कतामर्द्गाहृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्येति पद्मप्रभ - विगयत्पणा कर्म कलङ्क रूप की चड़ करी रहित पद्म की तरें प्रभा है इसकी सो पद्मप्रभ । “यद्वा पद्मशयनदोहदो मातुर्दधतया पूरति इति, पद्मशयश्च भगवानिति पद्मप्रभ’—अथवा पद्मशयन दोहद—दोहला माता को उत्पन्न हुआ सो देवता ने पूरणा किया इस कारण से पद्मप्रभ, अरु पद्मकमल सरीखा भगवान् के शरीर का वर्ण था इस हेतु से भी पद्मप्रभ ।

७—“शोभनी पाश्याजस्येति सुपार्श्व”—शोभनीक हैं दोनों पार्श्वे इसके सो सुपार्श्व । ‘यद्वा गर्भस्थे भगवति जनयपि

* सामान्याय —“सभवन्ति प्रकर्षणं भवति चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा यस्मिन्निति गमव” —जिसमें चौतीस अतिशय प्रकृष्टरूप से पाय जाने है, उग सम्भव कहते हैं । [आ० नि हा जी गा० १ ८१]

सुपाश्वभूदिति सुपाश्वं"—अथवा भगवान् के गर्भ में स्थित हुये माता के दोनों पासे बहुत सुन्दर होगये इस कारण से सुपाश्वं ।

८—"चन्द्रस्येय प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्य-चन्द्रप्रभं"—चन्द्रमा की तरें हैं प्रभा-कान्ति-सौम्य लेश्या-विशेष इसकी सो चन्द्रप्रभ । तथा "गर्भस्ये देव्याश्चन्द्रपानदोह-दोऽभूदिति चन्द्रप्रभं"—गर्भ में जब भगवान् थे तब माता को चन्द्रमा पीने का दोहद उत्पन्न हुआ था, इस कारण से चन्द्रप्रभ ।

९—"शोभतो विधिर्विधानमस्य—सुविधि"—भली है विधि इसकी सो सुविधि । "यद्वा गर्भस्ये भगवति जनन्य ष्वेवमिति सुविधि"—अथवा गर्भ में भगवान् के रहने से माता भी शोभनीक विधिवाली होती भई इस कारण से सुविधि ।

१०—"सफलसत्त्वसत्तापहरणाच्छीतल"—सर्व जीवों का सताप हरने से शीतल । तथा "गर्भस्ये भगवति पितु पूर्णो-त्पक्षाचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशात इति शीतल"—भगवन्त के गर्भ में आने से, भगवन्त के पित्त के शरीर में पित्तदाह रोग था, वैद्यों ने जिसकी शान्ति न हुई परन्तु भगवन्त की माता के हाथ का स्पर्श होते ही राजा का शरीर शीतल होगया, इस कारण से शीतल ।

११—"धेयान् समस्तभुवनस्यैव हितकर, प्राकृतशैल्या

छान्दसत्याद्य श्रेयास इत्युच्यते'—सद्य जगत का जो हित करें सो श्रेयांस । "यथा गर्भस्येऽस्मिन् कनाप्यनात्रात्पूर्वदेवताधिष्ठितशय्या जनन्याक्रातेति श्रेयो जातमिति श्रेयास'— भगवान जय गर्भ में थे तब भगवन्त के पिता के घर में एक देवताधिष्ठित शय्या थी । उस पर जो बैठता था उसही को *असमाधि उत्पन्न होती थी । भगवन्त की माता का उसी शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ । माता उसी शय्या पर सोई । देवता शान्त भया—उपद्रव न करा, इस हेतु से श्रेयास ।

१२—'तत्र वसुना पूज्य वसुपूज्य', 'वसवो देवा — वसुधो धरी जो पूजनीक होये सो वसुपूज्य, वसु कहिये देवता "वसुपूजनृपतेरपत्यं वासुपूज्य"—वसुपूज्य नामा राजा का जो पुत्र सो वासुपूज्य । 'वासवो देवराया तस्स गम्भयस्स अभिकरणं अभिकरणं जगत्सीय पूय करेइ तेण वासुपु ज्जोत्ति, अहवा वसुणि रयणाणि वासवो—वेसमणो सो गम्भय, अभिकरणं अभिकरणं त रायकुल रयणहिं पूरेइत्ति वासुपुज्जोत्ति' । [आ० नि० हारि० टी० गा० १०८५]

अस्यार्थ—वासव नाम इन्द्र का है सो भगवान् जय गर्भ में ध्याये तब बार बार इन्द्र ने भगवन्त की माता का पूजा इस कारण से वासुपूज्य । अथवा वसु कहिये रतन, अरु वासव नाम है वैश्रमण का, सो वैश्रमण जय भगवान् गर्भ में थे तब बार बार तिस राजा के कुलको रक्षों करी पूरण करता भया, इस हेतु से वासुपूज्य ।

१३—“विगतो मलोऽस्य—विमल, विमलज्ञानादियो-
गाद्वा विमल”—दूर हुआ है अष्टकर्मरूपमल जिसका सो
विमल, अथवा निर्मल ज्ञानादि योग से विमल। “यद्वा गर्भ
स्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमल”—अथवा भग
वान् जन्म गर्भ में थे, तब माता की बुद्धि अथवा शरीर ए दोनों
निर्मल होगये इस कारण से विमल नाम जानना।

१४—“न विद्यते गुणानामन्तोऽस्य—अनन्त, अनन्त
कर्मोराजयाद्वा अनन्त, अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्त”—
नहीं है गुणों का अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा
अनन्त कर्मोरा जीतने से अनन्त अथवा अनन्त है ज्ञानादि
गुण जिसके सो अनन्त। “रयणविचित्र—रयणपचिय
अणत—अश्महृत्पमाण दाम सुमिणे जगणीप दिष्ट तन्मो
अणतोत्ति”—[आ० नि०, हारि० टी०, गा० १०८६] रत्न
विचित्र—रत्न जडित अति मोटी दाम-माला रूप से माता
ने देखी तिस कारणे अनन्त।

१५—“दुर्गता प्रपतन्त सत्प्रसघात धारयतीति धर्म”—
दुर्गति में पड़ते जीवों के समूह को जो धारण करे सो धर्म।
तथा “गर्भस्थे जननी दानादिधर्मपरा जातेति धर्म”—परमे-
श्वर के गर्भ में आने से माता दानादिक धर्म से तत्पर भयी,
इस कारण से धर्म नाम।

१६—“शान्तियोगात्तत्कृत्वाच्चाय शान्ति”—शान्ति के
योग से वा शान्तिरूप होने से वा शान्ति करने से शान्ति।

“गर्भस्थे पूर्वोत्पन्नाशिवशान्तिरभूदिति शान्ति —तथा गर्भ में भगवान् के उत्पन्न होने से पूर्व में जो श्रिया था सो शान्त होगया, इस कारण शान्ति नाम ।

१७— ‘कु पृथ्वी तस्या स्थितवानिति कुन्धु ’—कु नाम पृथ्वी का है, तिस पृथ्वी में जो स्थित हाता भया सो कुन्धु । तथा—“गर्भस्थे भगवति जननी रत्नाना कुन्धुगणि दृष्टवनीति कुन्धु —भगवन्त के गर्भ में स्थित हुये माता रत्नमयी कुन्धुओं की शशि नेपतो भइ, इस हेतु से कुन्धु ।

१८—‘ *सर्वो नाम महासत्त्व , कुले य उपजायते ।

“तस्याभिष्टब्धये वृद्धैरसावर उदाहृत ॥

[अभि० चि० का० १, स्योपप टीका]

इति घचनादर । जो कोई महासत्त्वान-महापुरुष किसी कुल में उत्पन्न होवे और तिस कुल की वृद्धि के वास्ते होवे तिसको वृद्ध पुरुष प्रधान अर्थात् अर कहते हैं । तथा ‘गर्भस्थे भगवति जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयाऽरो दृष्ट इत्यर’—भगवन्त के गर्भ में स्थित हुये माता ने स्वप्न म मय रत्नमय अर देखा इस कारण से अर नाम ।

१९— परीषहादिमल्लजया मल्लि —परीषहादि मल्लों के जीतने से मल्लि । तथा—‘गर्भस्थे भगवति मातु सुरमिबुसुम मायशयनीयक्षोहदो देवतया पूरित इति मल्लि —भगवन्त

* आवश्यक भाष्यनियुक्ति की थी हरिभद्रसृजित टीका (गा० १ पद)
म पूवाथ का पाठ एसा है —सर्वोत्तमे महासत्त्वकुले य उपजायते ।

के गर्भ में स्थित हुये भगवन्त की माता को सुगन्ध वाले फूलों की माला की शय्या पर सोने का दोहद् उत्पन्न भया, सो देवता ने पूरणा किया, इस कारण से मल्लि ।

२०—“मन्यते जगत्त्रिकालावस्थामिति मुनि, शोभ नानि व्रतान्यस्येति सुव्रत, मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसु-
व्रत” —माने जो जगत को तीनों ही काल में सो मुनि, भले हैं व्रत जिसके सो सुव्रत, ए दोनों पद इकट्ठे करने से मुनिसु-
व्रत यह नाम हुआ । तथा ‘गर्भस्थे जननी मुनिव्रत सुव्रता जातेति मुनिसुव्रत’ —भगवन्त के गर्भ में स्थित हुये माता मुनि की तरह भले व्रतवाली होती भई, इस हेतु से मुनिसुव्रत ।

२१—“परीपहोपसर्गादिनामनात्—[* नमेस्तुप्रेतित्रि-
कटपेनोपान्त्यस्येकाराभावपक्षे] नमि —परीपह तथा उप-
सर्ग आदि को नमावने से नमि । यद्वा “गर्भस्थे भगवति पटचक्रवृपरपि प्रणति ऋतेति नमि’ —भगवन्त के गर्भ में स्थित होने पर घेरी राजाओं ने भी नमस्कार करी, इस कारण से न म ।

२२—“वमचक्रस्य नेमिउन्नेमि —वमचक्र की धारावत् जो हो सो नेमि । तथा “गन्मगए तस्स मायाए रिट्टरयणा-
मओ महइमहालओ नेमी उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति तेण से रिट्ठणेमिच्चि गाम कय” —[आ० नि०, हारि० टी,० गा०

* वमिचक्रस्य नेमिउन्नेमि नमेन्नु या [मि० ई०, उणादि सू० ६१३]

१०७०] भगवन्त के गर्भगत हुये माता ने अरिष्ट रक्षमय बड़ा मोटा, नेमि-चक्रधारा आकार में उत्पद्यमान स्वप्न में देखा, जिस कारण से अरिष्टनेमि नाम किया ।

२३—“स्पृशति ज्ञानेन सबभायानिति पार्श्व” —स्पर्श-जाणो सत्र पदार्थों का ज्ञान करी सो पार्श्व । तथा “गर्भस्थे जनया निशि शयनीयस्थयाऽधकारे सप्तो दृष्ट इति गर्भा नुभायोऽयमिति मत्वा पश्यतीति निरुक्तात्पार्श्व पार्श्वोऽस्य वैयावृत्यकरा यक्षस्तन्य नाथ पार्श्वनाथ”, भीमो भीमनेन इति न्यायाद्धा पाश्व —भगवन्त के गर्भ में स्थित होने से निशि-रात्रि में शय्या ऊपर बैठी माता ने अंधेरे में जाता हुआ सप देखा, माता पिता ने विचार कि ए गर्भ का प्रभाव है अथवा देगे सो पार्श्व, अथवा पाश्व नामा वैयावृत्य करनहारा देवता जिसका जो नाथसो पार्श्वनाथ अथवा भीम और भीमनेन इम न्याय की तरें पाश्वनाथ ही पार्श्व हैं ।

२४—“विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति धीर” — विशेष करके प्रेरे जो कर्मों को सो धीर, बट उग्र परीपह, उपसग सहने से देवता ने जिसका नाम महाधीर किया । तथा माता पिता का दिया नाम अयद्धमान है ।

* जन्म होने व अन्तर जो ज्ञानाद के द्वारा वृद्धि की प्राप्त हुआ सो वर्धमान तथा भगवान् के गर्भ में आने के बाद ज्ञाबुल म वन धान्यादि की वृद्धि हुई अत वर्धमान नाम रखा । तथा— ‘उत्पत्तेराभ्य ज्ञानादिभिर्वर्धत इति वर्धमान यद्वा गभस्थे भगवति ज्ञातकुल धनधान्यादिभिर्वर्धत इति वर्धमान । [अभि० चि० का० १, पृ० १२]

इस प्रकार यह अत्रसर्पिणी में जो तीर्थङ्कर हो गये हैं, तिनों के नाम अत्र किस हेतु से यह नाम रखे गये सो प्रकरण समाप्त हुआ । ❀

यह जो चौबीस तीर्थङ्कर हैं । इनमें से बासीस तो इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुए हैं, एतावता ऋषभदेव तीर्थङ्करा के वंश की सन्तान में से हैं । इक्ष्वाकु कुल ऋषभदेव तथा वर्ण ही से प्रसिद्ध है, यह आगे चलकर लिखेंगे । एक तो बीसवें मुनिसुव्रत ऋषामी तथा दूसरे बावीसवें श्री अरिष्ट नेमि भगवान्, ये दोनों तीर्थङ्कर हरिवर्ण में उत्पन्न हुए हैं । तथा इन चौबीसों तीर्थङ्करों में छठा पद्मप्रभ और बारहवा घामुपूज्य ये दोनों तीर्थङ्कर रक्तवर्ण शरीर वाले हुए हैं । आठवा चन्द्रप्रभ और नवमा सुत्रिधिनाथ-पुष्पदन्त ए दोनों तीर्थङ्कर श्वेत वर्ण-स्फटिक के समान उज्ज्वल शरीर वाले हुए हैं । तथा उन्नीसवा मल्लिनाथ और तेईसवा पार्श्व नाथ, ए दोनों तीर्थङ्कर हरितवर्ण शरीर वाले हुए हैं । तथा बीसवा मुनि सुव्रत ऋषामी और बासीसवा अरिष्टनेमि भगवान् ए दोनों तीर्थङ्कर श्यामवर्ण-अलसी के फूल सदृश रङ्ग वाले शरीर के धारक हुए हैं । और गेय सोला तीर्थङ्कर सुवर्ण वर्ण शरीर वाले हुए हैं ।

❀ उपर्युक्त तीर्थङ्कर के नामों के सामान्य और विदेष अर्थ अभि० वि० तथा आवश्यक्भाष्य की श्री हरिभद्रसृष्टिण टीकागत लेख के अनुसार किये गये हैं ।

अथ चौबोस तीर्थङ्करों के चिह्न जो कि उनके दक्षिण पग में धा उाकी ध्रजा में होते हैं। [अथ तीर्थङ्करों के चिह्न भी उनकी प्रतिमा के आसन में ए चिह्न रहते हैं] सो कहते हैं—१ ऋषभदेव जी के बैल का चिह्न २ अजितनाथ जी के हाथी का चिह्न, ३ सम्भ्रमनाथ जी के घोड़े का चिह्न ४ अभिनन्दन जी के बन्दर का चिह्न, ५ सुमतिनाथ जी के कौटिल्यपत्नी का चिह्न, ६ पद्म प्रम जी के कमल का चिह्न, ७ सुपार्श्वनाथ जी के साथिये का चिह्न, ८ चन्द्रप्रमजी के चन्द्रमा का चिह्न ९ सुविधिनाथ पुष्पदन्त जी के मकर का चिह्न, १० शीतलनाथ जी के शीतल का चिह्न ११ श्रेयासनाथ जी के गेडे का चिह्न, १२ वासुपूज्य जी के महिष का चिह्न १३ जिमलनाथ जी के शूकर का चिह्न, १४ अनन्तनाथ जी के घोड़ा का चिह्न, १५ धर्मनाथ जी के वज्र का चिह्न १६ शान्तिनाथ जी के हरिण का चिह्न १७ कुन्थुनाथ जी के बकरे का चिह्न, १८ अरनाथ जी के नन्दावत का चिह्न, १९ मतिनाथ जी के कुम्भ का चिह्न २० मुतिसुव्रतनाथ जी के फण्डु का चिह्न २१ नमिनाथ जी के नीले कमल का चिह्न २२ अरिष्टनेमि जी के शङ्ख का चिह्न, २३ पार्श्वनाथ जी के सप का चिह्न २४ महावीर जी के सिंह का चिह्न, होता है।

१ "नामि —नह्यत्ययायिनो *हकारादिभिर्नीतिभरिति-

* कलकरी की दण्ड नीति का विधान 'हकार' मकार' और 'विश्वार' ग किया जाता था । इन तीनों नीतियों में पहली जयय

नाभिरन्त्यकुलकर"—हकार आदि को नीति

ताथङ्करपितनाम से जो अन्यायिया को दण्ड देने है सो
नाभि—अन्तिम कुलकर ।

दूसरी मध्यम और तीसरी उत्कृष्ट अथात् स्वल्प अपराध में पहिला मे,
मध्यम अपराध में दूसरी से और उत्कृष्ट अपराध में तीसरी मे
दण्ड दिया जाता था ।

पहिले तथा दूसरे कुलकरके समय में पहली हृकाररूप दण्डनीति का
उपयोग किया जाता था । तीसरे और चौथे कुलकर के समय में
दूसरी मन्काररूप दण्डनीति का उपयोग होता था । पाचमें, छठे और
सातवें कुलकरके समय में तीसरी दण्डनीति का प्रयोग होता था । यथा—
हृकारे मन्कारे धिन्कारे चैव दण्डनीदु ।

पदमाविद्याण पटमा तद्यचउत्थाण अहण्णिवा विद्या ।

पंचमहृत्स्व य सत्तमस्व तद्या अहण्णिवा हु ॥

[आ० नि०, गा० १६७, १६८]

हृकारे मन्कारे धिन्कारे चैव दण्डनीतय । तत्र प्रथम
द्वितीययो कुलकरयो प्रथमा हृकारलक्षणा दण्डनीति । तृतीय चतुर्थ-
योरभिनवा द्वितीया—मन्कारलक्षणा दण्डनीति । तथा पंचमपष्ठयो
सप्तमस्य च तृतीया अभिनवा उत्कृष्टा धिन्काररथा दण्डनीति । किमुक्त
भवति ? स्वल्पापराधे प्रथमया मध्यमापराधे द्वितीयया महापराधे तृतीयया
च दण्ड त्रियते । एताश्च तिस्रोऽपि लघुमध्यमोत्कृष्टापराधेषु यथाक्रम
प्रवर्तिता इति भावार्थः ।

[अभि० रा० ३ भाग, पृ० ५९५ व अनुगार]

२ "जितशत्रु — जिता शत्रयोऽनेन" — जीते हैं शत्रु जिसने सो जितशत्रु, ३ 'जितारि — जिता शत्रयोऽनेन" — जीते हैं घेरी जिसने सो जितारि, ४ "स्वर — सृष्टोतीन्द्रियाणि — वश में करी हैं इन्द्रिया जिसने सो स्वर ५ "मेघ — सकजसत्प्रसतापहरणान्मेघ इव" — सकल जीवों का सताप हरने से मेघ की तरे मेघ, ६ 'धर — धरति धात्रीम्' — धारण करे जा पृथ्वी को सो धर, ७ "प्रतिष्ठ — प्रतिष्ठति धर्मकार्य — धर्म के कार्य में जो स्थित रह सो प्रतिष्ठ, ८ महासेननरेश्वर — महती पूज्या सेनाऽस्येति-महासेन स चासौ नरेऽश्वरश्च" — मोटी-पूजने योग्य हैं सेना जिसकी सो महासेन, इसका नरेऽश्वर के साथ समास होने पर महासेननरेश्वर, ९ "सुप्रीव — शोभता प्रीयाऽस्य" — भली है प्रीया — गदन जिसकी सो सुप्रीव, १० — ददरथ — ददोरथोऽस्य" — बलवान् है रथ जिसका सो ददरथ ११ 'विष्णु — त्रेवेष्टि षलं पृथिवीम्' — त्रेष्टित किया है पृथिवी को सेना करी जिसने सो विष्णु १२ वसुपूज्यराट् — अथै राजभिर्वसुभिर्धने पूज्यत इति वसुपूज्य स चासौराट् च" — दूसरे राजाओं ने धन करी जिसे पूज्या सो वसुपूज्य, इसका राज् के साथ समास होने पर वसुपूज्यराट्, १३ "हनवर्मा — हृत वर्माऽनेन" — करा है सनाह — कयच जिसने सो हनवर्मा, १४ 'सिंह सेन — सिंहवत् पराक्रमवती सेना-स्य" — सिंह की तरे है पराक्रम वाली सेना जिसकी सो

सिंहसेन, १५ “भानु —भाति त्रिवर्गण’—शोभे है जो अर्थ, काम अरु धर्म करके सो भानु, १६ “विश्वसेनराट्— विश्वयापिनी सेनाऽस्येति विश्वसेन स चासौ राट् च’— जगत मे व्यापने वाली है सेना जिसकी सो विश्वसेन, इस का राज् के साथ समास होने पर विश्वसेन राट्, १७ “सूर — तेजसा सूर इव’—तेज करके जो सूर्यसमान सो सूर, १८ “सुदर्शन —शोभन दर्शनमस्य”—भला है दर्शन जिसका सो सुदर्शन, १९ “कुम्भ —गुणपयसामाधारभूतत्वात् कुम्भ इव”—गुणरूप पानी का आधार भूत होने से कुम्भ की तरे कुम्भ, २० “सुमित्र —शोभनानि मित्राण्यस्य”—भले हैं मित्र जिस के सो सुमित्र, २१ “विजय —विजयते शत्रुनिति”— जीता है शत्रुओं को जिसने सो विजय २२ “समुद्रविजय — गाम्भीयण समुद्रस्यापि विजेता”—गाम्भीर्य करी समुद्र को भी जीतने वाला—समुद्र विजय, २३ “अश्वसेन —अश्व- प्रधाना सेनास्य”—घोड़ों करी प्रधान है सेना जिसकी सो अश्वसेन, २४ “सिद्धार्थ —सिद्धा अर्था पुर्यार्था अस्य”— सिद्ध हुये हैं अर्थ—पुर्यार्थ जिसके सो सिद्धार्थ । ए ऋषभ आदि चौबीस तीर्थङ्करो के क्रम करके चौबीस पिताओं के नाम कहे हैं ।

अथ चौबीस तीर्थङ्करो की माताओं के नाम लिखते हैं —

१ “मरुदेवा—मरुद्विर्दीव्यते स्तूयते [पृषोदरा तीर्थङ्क मातृनाम दित्यात् तलोप] मरुदेव्यपि”—देवताओं करी जिसकी स्तुति की गयी सो मरुदेवा,

महदेवी भी नाम है, २ 'विजया—विजयत'—जो विजय-
 वन्तो है सो विजया, ३ 'मेना—सह इनेन जितारि-
 स्वामिना वतते"—जितारि स्वामो के साथ जा उतें—रहे सो
 सेना, ४ 'सिद्धार्था—सिद्धा अथा अस्य"—सिद्ध हुये हैं
 अथ-प्रयाजन जिसक सो सिद्धार्था ५ "मद्गला-मद्गलहतु-
 त्वात्"—मद्गल का हेतु होने से मद्गला ६ "सुसीमा—शोभना
 सीमा मर्यादास्या —भली है सुसीमा—मर्यादा जिस की
 सो सुसीमा, ७ 'पृथ्वी—स्येन्ना पृथ्वीव -स्थिर है जो पृथ्वी
 की तरे सो पृथ्वी, ८ 'लक्ष्मणा—लक्ष्मी शोभास्त्यस्या'—
 लक्ष्मी—शोभा है जिसकी सो लक्ष्मणा, ९ 'रामा-धर्मकृत्येषु
 रमते'—धर्मकृत्य में जो रमे सो रामा १० 'नदा—नदति
 सुपात्रेण -सुपात्र में देने से जो वृद्धि को प्राप्त होवे-प्रफुल्लित
 होवे सो नदा, ११ "विष्णु —त्रेष्टि गुणैर्जगत्"—गुणों करी
 जो जगत् में व्याप्त है सो विष्णु, १२ 'जया—जयति
 सतीत्येन —सती पणे करी जो उत्कृष्ट है सो जया, १३
 श्यामा—श्याम वर्णात्वात् —श्याम वर्ण होने से श्यामा,
 १४ सुयता शोभन यतोऽस्या'—भला है यत जिसका
 सो सुयता १५ 'सुव्रता—शोभन व्रतमस्या सुव्रता
 पतिव्रतात्वात्"—पतिव्रता होने से भला है व्रत जिसका सो
 सुव्रता, १६ "अचिरा—न चिरयति धर्मकार्येषु —
 नहीं चिर-द्वेर करती है जो धर्म काय में सो अचिरा १७
 "श्री —श्रीरिव"—लक्ष्मी की तरे प्रभा है जिसकी सो श्री

१८. "देवी-देवी इव"—देवी की तरे प्रभा है जिसकी सो देवी,
 १९ "प्रभावती-प्रभास्त्यस्या"—जो प्रभावती है सो
 प्रभावती, २० "पद्मा-पद्म इव पद्मा"—पद्म की तरे पद्मावती,
 २१ "वप्रा-वपति धर्मरीजमिति"—रोती है जो धर्मरूपी
 बीज को सो वप्रा २२ "शिवा-शिवहेतुत्वात्"—कल्याण का
 हेतु होने से शिवा, २३ "वामा-मनोज्ञत्वाद्दामा पापकार्येषु
 प्रातिकुल्याद्वा वामा"—मनोज्ञ होने से वामा, अथवा पाप
 कार्यो के प्रतिकूल होने से वामा, २४ "त्रिशला-
 त्रीणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि शलयति प्राप्नोतीति"—तीन-
 ज्ञान दर्शन और चारित्र को जो प्राप्त होवे सो त्रिशला। इस
 क्रम करके ऋषभ आदि चौबीस तीर्थद्वारों की माताओं के
 नाम हैं।*

अथ सुगमता के कारण चौबीस तीर्थद्वारों के साथ राजन
 बाल का जो सम्बन्ध है तिसका स्वरूप यत्रोध लिखते हैं।
 प्रथम धावन धोल का नाम लिखते हैं।

* तीर्थद्वारों की माता व पिता के नामों की व्युत्पत्ति अभिधान
 चित्तमणि के प्रथम काण्ड में दी है।

वावन वोल

स० गोल का नाम

स० बोल का नाम

१ च्यवन तिथि	१८ प्रथम पारणे का आहार
२ किस विमान से आये	१९ प्रथम पारणों का स्थान
३ किस नगरी में जन्म हुआ	२० कितने दिन का पारणा
४ जन्म तिथि	२१ दीक्षा की तिथि
५ पिता का नाम	२२ छद्मस्थ काल
६ माता का नाम	२३ ज्ञान प्राप्ति स्थान
७ जन्म नक्षत्र	२४ ज्ञानोत्पत्ति के दिन का तप
८ जन्म राशि	२५ दीक्षावृत्त
९ लाञ्छन नाम	२६ ज्ञानोत्पत्ति की तिथि
१० शरीरमान	२७ गणधरों की सख्या
११ आयुमान	२८ साधुओं की सख्या
१२ शरीर का वर्ण	२९ साधियों की सख्या
१३ पदवी	३० वैत्रियलथिवालों की सख्या
१४ विवाहित या ब्रह्मचारी	३१ अथविज्ञानियों की सख्या
१५ कितनों ने साथ दीक्षा ली	३२ मन पर्यवज्ञानियों की सख्या
१६ दीक्षा नगरी	३३ केवलज्ञानियों की सख्या
१७ दीक्षा दिवस का तप	३४ चौदह पूर्वधारियों की सख्या

३५ वादिग्रों की सख्या	४४ मोक्ष प्राप्ति दिवस का तप
३६ श्रावकों की सख्या	४५ मोक्ष जाने का आसन
३७ श्राविकाग्रों की सख्या	४६ परस्पर अन्तर का मान
३८ शासनयज्ञ नाम	४७ गण नाम
३९ शासनयज्ञगी नाम	४८ योनि नाम
४० प्रथम गणधर का नाम	४९ मोक्ष परिवार
४१ प्रथम आर्या का नाम	५० सम्यक्त्वप्राप्ति के बाद के भव
४२ मोक्ष प्राप्तिस्थान	५१ कुल गोत्र नाम
४३ मोक्ष प्राप्ति की तिथि	५२ गर्भवास का कालमान



प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

म०	बोल	श्री ऋषभदेव	श्री अजितनाथ
१	च्यवन निधि	आपाढ वदि ४	वैशाख शुदि १३
२	विमान	सर्वायसिद्ध	विजय
३	जन्म नगरी	विनीता	अयोध्या
४	जन्म तिथि	चैत्र व० ८	माघ शु० ८
५	पिता का नाम	नाभि कुलकर	जितयनु
६	माता का नाम	मरुदेवी	विजया
७	जन्म नक्षत्र	उत्तरापाढा	रोहिणी
८	जन्म राशि	धन	वृष
९	लाञ्छन	वृषभ	हस्ती
१०	शरीरमान	५०० धनुष	४५० धनुष
११	आयुमान	८४ लक्ष पूष	७२ लक्ष पूष
१२	शरीर का घण्ट	स्वर्ण घर्ण	स्वर्ण वण्ट
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुआ	हुआ
१५	सहस्रीक्षित	४००० साधु	१००० साधु
१६	क्षीक्षा नगरी	विनीता	अयोध्या
१७	क्षीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणिका आ०	इक्षुरस	परमात्र क्षीर

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

स० बोल श्री ऋषभदेव श्री अजितनाथ

१६ पारणो का स्थान	श्रेयास के घर में	ब्रह्मदत्त के घर में
२० पारणो के दिन	१ वर्ष पीछे	२ दिन पीछे
२१ दीक्षा तिथि	चैत्र व० ८	माघ व० ६
२२ छद्मस्थ काल	१००० वर्ष	१२ वर्ष
२३ ज्ञानप्राप्तिस्थान	पुरिमताल	अयोध्या
२४ ज्ञान सम्बन्धी तप	३ उपवास	२ उपवास
२५ दीक्षा वृत्त	वट वृत्त	साल वृत्त
२६ ज्ञानोत्पत्तिकी तिथि	फाल्गुन व० ११	पौष व० ११
२७ गणधर सख्या	८४	६५
२८ साधु सख्या	८४०००	१०००००
२९ साध्वी सख्या	३०००००	३३००००
३० वैक्रियलब्धि वाले	२०६००	२०४००
३१ वादी सरया	१२६५०	१२४००
३२ अवधिज्ञानी	६०००	६४००
३३ केजली	२००००	२२०००
३४ मन पर्यत्रज्ञानी	१२७५०	१२५५०
३५ चौदह पूर्वधारी	४७५०	३७२०
३६ ध्याक सरया	३५००००	२६८०००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

स० गोल श्री रूपभदेव श्री अजितनाथ

३७ धाविका सख्या	५५४०००	५४५०००
३८ शासन यत्न नाम	गोमुर यत्न	महायत्न
३९ शासन यत्निणी नाम	चक्रेश्वरी	अजितयला
४० प्रथम गणवर	पुण्डरीक	सिंहसेन
४१ प्रथम आर्या	ब्राह्मी	फाल्गु
४२ मोक्षस्थान	अष्टापद	समेतशिपर
४३ मोक्ष तिथि	माघ ष० १३	चैत्र शु० ५
४४ मोक्ष सलेगना	६ उपवास	१ मास
४५ मोक्ष आसन	पद्मासन	फायोत्सर्ग
४६ अन्तरमान	५० लाख फोटि	
	सागर	३० लाख फोटि सा०
४७ गण नाम	मानव	मानव
४८ योनि	नकुल	सप
४९ मोक्ष परिवार	१००००	१०००
५० भय संख्या	१३ भय	३ भय
५१ पुत्रगोत्र	इन्द्राकु	इन्द्राकु
५२ गर्भशाल मान	६ मास ३ दिन,	८ मास २५ दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

स०, बोल	श्री सम्भरनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
१ च्यवनतिथि	फाल्गुन शु० ८	वैशाख शु० ४
२ विमान	ऊपरका प्रयेयक	जयन्त
३ जन्म नगरी	सावर्धी	अयोध्या
४ जन्मतिथि	भाद्रशु० १४	माघ शु० २
५ पिता का नाम	जितारि	सवर
६, माता का नाम	मेना	सिद्धार्थ
७ जन्म नक्षत्र	मृगशिर	पुनर्वसु
८ जन्मराशि	मिथुन	मिथुन
९ लान्छन	अग्र	चदर
१० शरीरमान	४०० ध०	३५० ध०
११ आयुमान	६० लक्ष पूर्व	५० लक्ष पूर्व
१२ शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	स्वर्ण वर्ण
१३ पदवी	राजा	राजा
१४ पाणिप्रहण	हुवा	हुवा
१५ सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६ दीक्षा नगरी	सावर्धी	अयोध्या
१७ दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८ प्रथम पारणे का आहार	परमान्नक्षीर	क्षीर

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

स० बोल	श्री सम्भरनाथ श्री अभिनन्दननाथ	
१६ पारणे का स्थान	सुरेंद्रवृत्तके घर, इन्द्रवृत्तके घर	
२० पारण के दिन	२ दिन	२ दिन
२१ दीक्षा तिथि	मगसिर शु० २१, माघ शु० १२	
२२ कृष्णस्थ काल	१४ वर्ष	१८ वर्ष
२३ ज्ञानप्राप्तिस्थान	सावत्यी	अयोध्या
२४ ज्ञान सम्यग्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५ दीक्षा वृत्त	प्रियाल वृत्त	प्रियगु वृत्त
२६ ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	कार्तिक व० ५	पौष व० १४
२७ गणधर सख्या	१०२	११६
२८ साधु सख्या	४०००००	३०००००
२९ साध्वी सख्या	३३६०००	६३००००
३० वक्रियलब्धि वाले	१९८००	१९०००
३१ चादी सख्या	१२०००	११०००
३२ अवधिज्ञानी	९६००	९८००
३३ कथली	१५०००	१४०००
३४ मन पयचज्ञानी	१२१५०	११६००
३५ चौदह पूर्व धारी	२१५०	१५००
३६ श्रावक सख्या	२९३०००	२८८०००

प्रत्येक तीर्थकर के चावन बोल

म० बोल श्री मभवनाथ श्री अभिनन्दननाथ

३७	श्राविका सख्या	६३६०००	१०७०००
३८	शासन यक्ष नाम	त्रिमुख यक्ष	नायक यक्ष
३९	शासन यन्त्रिणी नाम	दुर्गितारि	शालिका
४०	प्रथम गणधर	चाग	चक्रनाभ
४१	प्रथम श्राया	श्यामा	अजिता
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिवि	चंद्र शु० ५	चैशाम्ब शु० ८
४४	मोक्ष सलेखना	२ उपवास	१ मास
४५	मोक्ष जासन	कायोन्सर्ग	कायो सर्ग
४६	अन्तरमा	१०लाखमोटिसा	१०ला०योटिसा
४७	गण नाम	देव	देव
४८	योनि	सर्प	छाग
४९	मोक्ष परिचार	१०००	१०००
५०	भय सख्या	३ भय	३ भय
५१	पुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	० मास ६ दिन	८ मास २८दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

स०	बोध	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
१	च्यवनतियि	श्रावण शु० २	माघ २० ६
२	विमान	जयन्त	ऊपर का प्रेययक
३	जन्म नगरी	अयोध्या	कोशाम्बी
४	जन्म तिथि	पुशाग शु० ८	कार्तिक घ० १२
५	पिता का नाम	मेघ	धर
६	माता का नाम	मगला	सुसीमा
७	जन्म नक्षत्र	मघा	चित्रा
८	जन्म राशि	सिंह	कन्या
९	लाञ्छन	कौञ्च पत्नी	पद्म
१०	शरीरमान	३०० घ०	२०० घ०
११	आयुमान	४० लाख पूव	३० लाख पूव
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	रक्त वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	अयोध्या	कौशाम्बी
१७	दीक्षा तप	नित्यभक्त	१ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीर	क्षीर

प्रत्येक तीर्थकर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
१९	पारणे का स्थान	पद्म के घर में	सोमदेव के०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	वैशाख शु० ६	का०च० १३
२२	छद्मस्थकाल	२० वर्ष	६ मास
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	अयोध्या	कौराम्भी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	चौथभक्त
२५	दीक्षा वृत्त	सालवृत्त	छत्रवृत्त
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	चैत्र शु० ११	चैत्र शुदि १५
२७	गणधर सख्या	१००	१०७
२८	साधु सख्या	३२००००	३३००००
२९	मात्री सख्या	५३००००	४२००००
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१८४००	१६१०८
३१	घादी सख्या	१०४०००	६६०००
३२	अवधि ज्ञानी	११०००	१००००
३३	केवली	१३०००	१२०००
३४	मन पर्यवशानी	१०४' ०	१०३००
३५	चोदह पूर्वधारी	२४००	२३००
३६	आचक सख्या	२८१०००	२७६०००
३७	आविका सख्या	५१६०००	५०' ०००

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
३८	शासन यत्त नाम	तुम्हर यत्त	बुसुम यत्त
३९	शासन यत्तिणी नाम	महाकाली	श्यामा
४०	प्रथम गणधर	चरम	प्रद्योतन
४१	प्रथम आया	काश्यपी	रति
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	चैत्र शु० ९	मगसिर घ ११
४४	मोक्ष सल्लेपना	१ मास	१ मास
४	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	९० ह० कोडि मा०	९६०को सा०
४७	गण नाम	राक्षस	राक्षस
४८	योनि	मूपरु	महिष
४९	मोक्ष परिवार	१०००	२०८
५०	भय सख्या	३ भय	३ भय
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	९मा ६दि

प्रत्येक तीर्थकर के वावर्न बोल

स० बोल	श्री सुपाईर्नाथ	श्री चन्द्रप्रभ
१ च्यवन तिथि	भाद्रपद व० ८	चैत्र व० ५
२ विमान	मध्यम गेरेयक	वैजयन्त
३ जन्म नगरी	वनारस	चन्द्रपुरी
४ जन्म तिथि	ज्येष्ठ शु० १२	पौष व० १०
५ पिता का नाम	प्रतिष्ठ	महासेन
६ माता का नाम	पृथिवी	लक्ष्मणा
७ जन्म नक्षत्र	विशाखा	अनुराधा
८ जन्म राशि	तुला	वृश्चिक
९ लाङ्घन	सायिया	चन्द्र
१० शरीरमान	२०० ध०	१५० ध०
११ आयुमान	२० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
१२ शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	श्वेत वर्ण
१३ पदवी	राजा	राजा
१४ पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५ सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६ दीक्षा नगरी	वनारस	चन्द्रपुरी
१७ दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८ प्रथमपारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बचिन बोल

सं०	बोल	श्री सुपार्वनाथ श्री चन्द्रप्रभ	१
१६	पारणे का स्थान	माहेन्द्र के घर	सोमदत्त के घर
२०	पारणे के दिन	७ दिन	७ दिन
२१	दीक्षा तिथि	ज्येष्ठ शु० १३	पौष व० १३
२२	छ्त्रस्य काल	९ मास	३ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	वनारस	चन्द्रपुरी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	७ उपवास
२५	दीक्षा वृत्त	शिरीष वृत्त	नाग वृत्त
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	फाल्गुन व० ६	फाल्गुन व० ७
२७	गणधर सख्या	६५	६३
२८	साधु सख्या	३०००००	२५००००
२९	भाष्यी सख्या	४३००००	३८००००
३०	वैक्रिय लब्धि बोल	१' ३००	१४०००
३१	वादी सख्या	८४००	७६००
३२	अवधिज्ञानी	६०००	८०००
३३	फेयली	११०००	१००००
३४	मन पर्यवक्षानी	६१५०	८०००
३५	चौदह पूर्वधारी	२०३०	२०००
३६	श्रावक सख्या	२५७०००	२५००००

प्रत्येक तीर्थर के चावन बोल

म० बोल श्री सुपार्श्वनाथ श्री चन्द्रप्रभ

३७ श्राविका सरया	४९३०००	४७६०००
३८ शासन यक्ष नाम	मातंग यक्ष	विजय यक्ष
३९ शासन यक्षिणी		
नाम	शान्ता	भृकुटी
४० प्रथम गण प्र	विदर्भ	दिन्न
४१ प्रथम आर्या	सोमा	सुमना
४२ मोक्ष स्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३ मोक्ष तिथि	फाल्गुन व० ७	भाद्रपद व० ७
४४ मोक्षसलेखना	१ मास	२ मास
४५ मोक्ष आसन	कायोत्सग	कायोत्सग
४६ अन्तर मान	६ सौ कोटि सा०	६० कोटि सा०
४७ गणनाम	राक्षस	देव
४८ योनि	मृग	मृग
४९ मोक्ष परिवार	५००	१०००
५० भय सरया	३ भय	३ भय
५१ कुल गोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२ गर्भकाल मान	६ मास १६ दिन	९ मास ७ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

स० बोन श्री सुविधिनाथ श्री शीतलनाथ

१ च्यवनतिथि	कालगुन व० ६	वैशाख व० ६
२ विमान	भानत	अच्युत
३ जन्म नगरी	काकन्दी	भद्विलपुर
४ जन्म तिथि	मगसिर व० ५	माघ व० १२
५ पिता का नाम	सुभीव	दृढरथ
६ माता का नाम	रामा	नन्दा
७ जन्म नक्षत्र	मूल	पूर्वाषाढा
८ जन्म राशि	धन	धन
९ लाञ्छन	मकर	धीवत्स
१० शरीरमान	१०० ध०	६० ध०
११ आयुमान	० लाख पूष	१ लाख पूर्व
१२ शरीर का वण	इयेत वण	स्वण वण
१३ पदवी	राजा	राजा
१४ पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५ सहव्रीक्षित	१०००	१००० साधु
१६ दीक्षा नगरी	काकन्दी	भद्विलपुर
१७ दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास

प्रत्येक तीर्थकर के वावन चोल

स० ज्ञान श्री सुविप्रिनाथ श्री शीतलनाथ

१८ प्रथम पारणे का

आहार

श्रीगभोजन

क्षीरभोजन

१९ पारणे का स्थान

पुष्प कं घर में

पुनर्वसु के घर

२० पारणे के दिन

२ दिन

२ दिन

२१ दीक्षा तिथि

मगसिर २० ६

मगसिर २० १२

२२ छत्रस्थ फल

५ मास

३ मास

२३ ज्ञान प्राप्ति स्थान

काकन्दी

महिलपुर

२४ ज्ञान सम्पन्नी तप

२ उपवास

२ उपवास

२५ दीक्षा वृत्त

सालघृभ

प्रियगु वृत्त

२६ ज्ञानोत्पत्ति की

तिथि

कार्तिक शु० ३

पौष घ० १४

२७ गणधर सख्या

६८

८१

२८ साधु सख्या

२०००००

१०००००

२९ साध्वी सख्या

१२००००

१००००६

३० वैश्वीय लघ्विघाते

१३०००

१२०००

३१ घादी सख्या

२०००

५८००

३२ अचधि ज्ञानी

८५००

७२००

३३ केवली

७०००

७०००

३४ मन पर्यध ज्ञानी

७ ००

७५००

प्रत्येक तीर्थकर के वाचन बोल

म० बोल श्री सुविधिनाथ श्री गीतलनाथ

३५ चौदह पूर्व धारी	१५००	१४००
३६ श्रावण सख्या	२२६०१०	२६६०००
३७ श्राविका सख्या	४७१०००	४५८०००
३८ शासन यज्ञ नाम	अजित यज्ञ	ब्रह्मा यज्ञ
३९ शासन यज्ञिणी		
नाम	सुतागिका	अशोका
४० प्रथम गणधर	चरहक	नर
४१ प्रथम आर्या	वारुणी	सुयशा
४२ मोक्षस्थान	समेतशिखर	समतशिखर
४३ मोक्ष तिथि	भाद्रपद गु० ०	चैशाख ३० ०
४४ मोक्ष सखना	१ मास	१ मास
४५ मोक्ष आसन	कायोत्सग	कायोत्सग
४६ अन्तर स्थान	६ कोडी सा०	१ कोडी सा०
४७ गण नाम	राक्षस	मानव
४८ योनि नाम	जानर	नकुल
४९ मोक्ष परिहार	१०००	१०००
५० भव सख्या	३ भव	३ भव
५१ कुल गोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२ गभकाल मान	८ मास २६ दिन	६ मास ६ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री श्रेयासनाथ श्री वासुपूज्य
१	व्ययन तिथि	ज्येष्ठ व० ६
२	विमात	अच्युत
३	जन्म नगरी	सिंहपुरी
४	जन्म तिथि	फाल्गुन व० १२
५	पिता का नाम	विष्णु
६	माता का नाम	विष्णु
७	जन्म नक्षत्र	श्रावण
८	जन्म राशि	मकर
९	लाञ्छन	गैंडा
१०	शरीर मान	८० ध०
११	आयुमान	८४ लाख वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा
१५	सहवीक्षित	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	सिंहपुरी
१७	दीक्षा तप	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीरभोजन
		ज्येष्ठ शु० ९
		प्राणत
		चम्पापुरी
		फाल्गुन व० १४
		वासुपूज्य
		जया
		शतभिषा
		कुम्भ
		महिष
		७० ध०
		७२ लाख वर्ष
		रक्त वर्ण
		कुमार
		हुवा
		६०० साधु
		चम्पापुरी
		२ उपवास
		क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री श्रेयासनाथ	श्री वासुपूज्य
१६	पारणे का स्थान	नट के घर में	सुन व के घर,
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	फाल्गुन व० १३	फाल्गुन शु० १५
२२	छद्मस्थ काल	२ मास	१ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	सिंहपुरी	चम्पापुरी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृत्त	नन्दुक वृत्त	पाडल वृत्त
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	माघ व० ३	माघ शु० ०
२७	गणधर सख्या	७६	६६
२८	साधु सख्या	८४०००	७२०००
२९	साध्वी सख्या	१०३०००	१०००००
३०	चैक्रिय लम्बि घाले	११०००	१००००
३१	चादी सख्या	५०००	४३००
३२	अवधि ज्ञानी	६०००	५४००
३३	फेरली	६५००	६०००
३४	मन पर्ययज्ञानी	६०००	६५००
३५	चौदह पूर्वधारी	१३००	१२००
३६	धावक सख्या	२७१०००	२१५०००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री श्रेयामनाथ	श्री वासुपूज्य
३७	श्राविका सख्या	४४८०००	४३६०००
३८	शासन यत्न		
	नाम	मनुज या ईश्वर	कुमार
३९	शासन यत्निणी		
	नाम	मानवी	घण्डा
४०	प्रथम गणवट	कच्छप	सुभूम
४१	प्रथम आर्या	धारिणी	धरणी
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	चम्पापुरी
४३	मोक्ष तिथि	श्रावण व० ३	अषाढ शु० १४
४४	मोक्ष सलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	५४ स्तो	३० स्तो
४७	गणनाम	देव	राक्षस
४८	योनि नाम	यानर	अदर
४९	मोक्ष परिवार	१०००	६००
५०	भव सख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	८ मास २० दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

म०	बोध	श्री विमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
१	च्यवन तिथि	पैशाख १० २०	भाषण प० ७
२	विमान	सहस्राण	प्राणत
३	जन्म नगरी	कम्पिलपुरी	अयोध्या
४	जन्म तिथि	भाष १० ३	पैशाख प० १३
५	पिता का नाम	एनवमा	मिहमेन
६	माता का नाम	इयामा	सुयशा
७	जन्म नक्षत्र	उत्तम भाद्रपद	रेयती
८	जन्मराशि	मीन	मीन
९	गण्डून	घराह	श्येन—शर
१०	शरीरमान	६० घ०	५० घ०
११	आयुमान	६० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
१२	शरीर का घण	सुवर्ण घर्ण	सुवर्ण घण
१३	पदवी	गना	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुषा	हुषा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	कम्पिलपुरी	अयोध्या
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारण का भा०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थकर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री विमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
१९	पारणे का स्थान	जय राजा के घर	विजय रा०घ०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	० दिन
२१	दीक्षा तिथि	माघ शु० ४	वशाख व०१४
२२	छद्मस्थ काल	२ मास	३ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	कम्पिलपुरी	अयोध्या
२४	ज्ञानसम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृत्त	जम्बू वृत्त	अशोकवृत्त
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	पौष शुदी ६	वशाख व०१४
२७	गणधर संख्या	५७	५०
२८	साधु संख्या	६८०००	६६०००
२९	साध्वी संख्या	१००८००	६२०००
३०	धैर्यवृत्तधि वाले	६०००	८०००
३१	वादी संख्या	३६००	३२००
३२	अवधिज्ञानी	४८००	४३००
३३	केजली	५५००	५०००
३४	मनःपर्यवज्ञानी	५५००	५०००
३५	चौदहपूर्वधारी	११००	१०००
३६	आवक संख्या	२०८०००	२०६०००

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री प्रिमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
३७	श्राविका सख्या	४०४०००	४१४०००
३८	शासन यक्ष नाम	पण्मुण यक्ष	पाताल यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	चिदिता	बहुशा
४०	प्रथम गणधर	मन्दर	जस
४१	प्रथम आया	धरा	पद्मा
४२	मोक्ष म्यान	समेतशिपर	समेतशिपर
४३	मोक्ष तिथि	भापाढ वदी ७	चंद्र शु० ५
४४	मोक्ष सलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	९ सागरोपम	४ सागरोपम
४७	गण नाम	मानव	देव
४८	योनि नाम	छाग	हस्ती
४९	मोक्ष परिवार	६००	७००
५०	भव सख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गमकालमान	८ मास २१ दिन	९ मास ६ दिन

प्रत्येक तीर्थकर के वावन बोल

स०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
१	च्यवनतिथि	वैशाख शु० ७	भाद्रपद व०७
२	विमान	विजय	सर्वार्थसिद्ध
३	जन्म नगरी	रतापुरी	* गजपुर
४	जन्म तिथि	भाद्र शु० ३	ज्येष्ठ वदी १३
५	पिता का नाम	भानु	विश्वमेन
६	माता का नाम	सुवता	अचिरा
७	जन्म नक्षत्र	पुष्य	भरिणी
८	जन्मराशि	कर्क	मेघ
९	लाञ्छन	चक्र	सृग
१०	शरीर ल	४५ ध०	४० ध०
११	आयुमान	१० लाख वर्ष	१ लग्नवर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	चक्रवर्ती
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	रजपुरी	गजपुर

* हस्तिनापुर ।

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन चोल

म० चोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
१७ दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८ प्रथम पारणे का आ०	चौर भोजन	चौर भोजन
१९ पारणे का स्थान	धनार्निह के घर में	मुमिप्रके घरमें
२० पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१ दीक्षा तिथि	मात्र शु १३	ज्येष्ठ व० १४
२२ छद्मस्थकाल	२ घण्टा	१ घण्टा
२३ ज्ञान प्राप्ति स्थान	रत्नपुरी	गजपुर
२४ ज्ञानसम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५ दीक्षा वृत्त	दधिपण वृत्त	नदी वृत्त
२६ ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	पाँच शु० १५	पाँच शु० ६
२७ गणधर सत्या	४३	३६
२८ साधु सत्या	६४०००	६२०००
२९ साध्वी सत्या	६२४००	६१६००
३० त्रैत्रियत्वधि जाते	७०००	६०००
३१ चादी सत्या	२८००	२४००
३२ अत्रधिज्ञानी	३६००	३०००
३३ केजली	४५००	४३००
३४ मन पर्यवज्ञानी	४५००	४०००

प्रत्येक तीर्थकर के वाचन बोल

स० बोल श्री र्मनाय श्री शान्तिनाथ

३५ चौदह पूर्वधारी	६००	८००
३६ श्रावक नल्या	२०४०००	१६००००
३७ श्राविका सल्या	४१३०००	३६३०००
३८ शासन यक्ष नाम	त्रिंशत् यक्ष	गरुड यक्ष
३९ शासन यक्षिणी नाम	कन्दर्पा	निर्याणी
४० प्रथम गणधर	अरिष्ट	चक्र युद्ध
४१ प्रथम श्राया	आर्यशिखा	शुचि
४२ मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३ मोक्ष तियि	ज्येष्ठ श ७	ज्येष्ठ व १३
४४ मोक्ष मलेचना	१ मास	१ मास
४५ मोक्ष धामन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६ अन्तरमान	३ सागरोपम	०॥ पत्योपम
४७ गण नाम	देव	मानव
४८ योनि	मार्जार	हस्ती
४९ मोक्ष परिहार	१०८	९००
५० भव सल्या	३ भव	१२ भव
५१ कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२ गर्भकालमान	८ मास २६ दिन	९ मास ६ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन घोल

सं०	घोल	श्री कुन्थुनाथ	श्री अरनाथ
१	च्यवन तिथि	आश्विन व० ६	फाल्गुन शु० १२
२	विमान	सवाथसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
३	जन्म नगरी	गजपुर	गजपुर
४	जन्म तिथि	वैशाख व० १४	मगसिर शु० १०
५	पिता का नाम	सूर	सुदशन
६	माता का नाम	श्री	देवी
७	जन्म नक्षत्र	वृत्तिका	रेवती
८	जन्म राशि	वृष	मीन
९	लाञ्छन	बकरा	नन्दावर्त
१०	शरीरमान	३५ ध०	३० ध०
११	आयुमान	९१००० वर्ष	८५००० वर्ष
१२	शरीर का घण	सुवर्ण वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	चक्रवर्ती	चक्रवर्ती
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	गजपुर	गजपुर
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का भा०	क्षीर भोजन	शरीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

स० गोन श्री कुन्धुनाथ श्री अरनाथ

१९ पारणे का स्थान	व्याघ्रमिह के घर	अपरजिन के घर में
२० पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१ दीक्षा तिथि	चैत्र व० ५	मगसिर शु० ११
२२ छत्रस्य काल	१६ वर्ष	३ वर्ष
२३ ज्ञान प्राप्तिस्थान	गजपुर	गजपुर
२४ ज्ञान सन्नधी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५ दीक्षा वृत्त	मीलक वृत्त	आम्र वृत्त
२६ द्वातोत्पत्तिका तिथि	चैत्र शु० ३	कानिक शु० १२
२७ गणघर सरया	३५	३३
२८ साधु सख्या	६००००	५००००
२९ साध्वी सख्या	६०६००	६००००
३० धनियलन्धि वाले	११००	७३००
३१ वादी सख्या	२०००	१६००
३२ अग्रधिजानी	२५००	२६००
३३ केजली	३२००	२८००
३४ मन पर्यवजानी	३३४०	२५५१
३५ चाँदह पूर्वधारी	६७०	६१०

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

स०	बोन	श्री कुन्धुनाथ	श्री अरनाथ
३६	आयक सख्या	१७९०००	१८४०००
३७	धावि । सख्या	३८१०००	३७२०००
३८	शासन यक्ष नाम	गधर्व	यक्षेद्र
३९	शासन यक्षिणी नाम बला		धणा
४०	प्रथम गणधर	साम्भ	कुम्भ
४१	प्रथम आर्या	दामिनी	रक्षिता
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिरवर
४३	मोक्षतिथि	वैशाख व० १	मगसिर शु० १०
४४	मोक्ष सलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अतरमान	० । पल्योपम	१००० ऋद्ध वष
४७	गणनाम	राक्षस	देव
४८	योनि	छाग	हस्ती
४९	मोक्ष परिवार	१०००	१०००
५०	भव सख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	६ मास ५ दिन,	६ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

सं०	बोल	श्री मल्लिनाथ	श्री मुनिमुवत
१	च्यवन तिथि	फाल्गुन शु० ४	धात्रण शु० १७
२	विमान	जयन्त	अपराजित
३	जन्म नगरी	मथुरा	राजगृही
४	जन्म तिथि	मग्निर शु० ११	ज्येष्ठ व० ८
५	पिता का नाम	कुम्भ	सुमित्र
६	माता का नाम	प्रभावती	पद्मावती
७	जन्म नक्षत्र	शश्विनी	श्रवण
८	जन्म राशि	मेघ	मकर
९	लाञ्छन	कलश	कच्छप
१०	शरीरमान	२५ ध०	२० ध०
११	आयुमान	५५००० वर्ष	३०००० वर्ष
१२	शरीरका वर्ण	नीला	श्याम
१३	पदवी	कुमार	राजा
१४	पाणिग्रहण	नहीं	हुआ
१५	सहदीक्षित	३०० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	मिथिला	राजगृही
१७	दीक्षा तप	३ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आ०, क्षीर भोजन	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के वावन बोल

स० बोल श्री मल्लिनाथ श्री मुनिमुत्रत

१९ पारणे का स्थान	विदरसेनके घर	ब्रह्मदत्त के घर
२० पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१ दीक्षा तिथि	मगसिर शु० ११, फाल्गुन शु० १२	
२२ छद्मस्थ काल	एक अहोरात्र	११ मास
२३ ज्ञान प्राप्ति स्थान	मथुरा	राजगृही
२४ ज्ञान सवन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५ दीक्षा वृक्ष	अशोक वृक्ष	चम्पक वृक्ष
२६ ज्ञानोत्पत्ति की तिथि, मगसिर शु० ११, फाल्गुन व० १२		
२७ गणधर संख्या	२८	१८
२८ साधु संख्या	४००००	३००००
२९ साध्वी संख्या	५५०००	१००००
३० वैक्रियलधि वाले	२९००	२०००
३१ वादी संख्या	१४००	१२००
३२ अधधिज्ञानी	२२००	१८००
३३ केवली	२२००	१८००
३४ मन पर्यवज्ञानी	१७५०	१५००
३५ चौदह पूर्वधारी	६६८	५००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री मल्लिनाथ	श्री मुनिमुत्रत
३६	ध्रावक सख्या	१८३०००	१७२०००
३७	ध्राविका सख्या	३७००००	३५००००
३८	शासन यत्न नाम	पुत्रेय यत्न	चरण यत्न
३९	शासन यत्निणी	धरणप्रिया	नरदत्ता
४०	प्रथम गणधर	अभीक्ष्णिक	मल्ली
४१	प्रथम आर्या	चधुमती	पुष्पमती
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्षतिथि	फात्गुन शु० १२,	ज्येष्ठ व० ९
४४	मोक्ष सलेग्ना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	५४००००० वर्ष,	६००००० वर्ष
४७	गणनाम	देव	देव
४८	योनि	अद्वय	चानर
४९	मोक्ष परिवार	५००	१०००
५०	भव सख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	हरिवंश
५२	गर्भकालमान	६ मास ७ दिन,	९ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

सं०	बोल	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
१	च्यवन तिथि	आश्विन शु० १५, कार्तिक घ० १२	
२	विमान	प्राणत	अपराजित
३	जन्म नगरी	मथुरा	शौरीपुर
४	जन्म तिथि	आषण घ० ८	आषण शु० ५
५	पिता का नाम	विजय	समुद्र विजय
६	माता का नाम	घमा	शिया
७	जन्मनक्षत्र	अश्विनी	चित्रा
८	जन्मराशि	मेघ	कन्या
९	लाञ्छन	कमल	शय
१०	शरीरमान	१५ ध०	२० ध०
११	आयुमान	१०००० वर्ष	१००० वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	पीला	श्याम
१३	पदधी	राजा	धुमार
१४	पाणिग्रहण	हुआ	नहीं
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	मथुरा	द्वारिका
१७	दीक्षा तप	२ उपायस	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आ०, क्षीर भोजन	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के वाचन बोलः

स०	बोलः	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
१६	पारणे का स्थान	दिन्न कुमा० के०	वरदिन्न के घर में
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	आषाढ वदि ९,	आषण शु० ६
२२	छद्मस्थकाल	९ मास	५४ दिन
२३	ज्ञान प्राप्तिस्थान	मथुरा	गिरनार
२४	ज्ञान सबन्धी तप	२ उपवास	३ उपवास
२५	दीक्षा वृत्त	चकुल वृत्त	वेडस वृत्त
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि,	मगशिर शु० ११,	आश्विन व० अमा०
२७	गणधर सख्या	१७	११
२८	साधु सख्या	२००००	१८०००
२९	साध्वी सख्या	४१०००	४००००
३०	वैक्रियलम्बि घाले	५०००	१५००
३१	वादी सख्या	१०००	८००
३२	अवधिज्ञानी	१६००	१५००
३३	केवली	१६००	११००
३४	मन पर्यवज्ञानी	१२५०	१०००
३५	चौदह पूर्वधारी	४५०	४००

प्रत्येक तीर्थकर के वाचन बोल

म० बोल	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
३६ श्रावक मख्या	१७००००	१६९०००
३७ श्राविका सख्या	३४८०००	३३६०००
३८ शासन यक्षनाम	भृकुटि यक्ष	गोमेधयक्ष
३९ शासन यक्षिणीनाम	गान्धारी	अभ्यिका
४० प्रथमगणधर	शुभ	चरदत्त
४१ प्रथम आर्या	अनिला	यक्षदिग्धा
४२ मोक्षस्थान	समेतशिखर	गिरनार
४३ मोक्षतिथि	वैशाख व० १०	आषाढ शु ८
४४ मोक्ष संलक्षण	१ मास	१ मास
४५ मोक्ष आसन	कायोसग	पद्मासन
४६ अ तरमान	५००००० घण्ट	८३७५० वर्ष
४७ गणनाम	देव	राक्षस
४८ योनि	अश्व	महिष
४९ मोक्ष परिवार	१०००	५३६
५० भव सं०	३ भव	० भव
५१ कुलगोत्र	६ इक्ष्वाकु	हरियश
५२ गर्भकालमान	६ मास ८ दिन	६ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के वावन बोल

स० बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महावीर
१ च्यवनतिथि	चैत्रवदी ४	भाषाङ्ग शु० ६
२ विमान	प्राणत	प्राणत
३ जन्म नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
४ जन्मतिथि	पौष घ० १०	चैत्र शु० १३
५ पिता का नाम	अश्वसेन	सिद्धार्थ
६ माता का नाम	वामा	त्रिशला
७ जन्मनक्षत्र	विशाखा	उत्तरा फाल्गुनी
८ जन्मराशि	तुला	कन्या
९ लान्छन	सर्प	सिंह
१० शरीरमान	६ हाथ	७ हाथ
११ आयुमान	१०० वर्ष	७२ वर्ष
१२ शरीर का वर्ण	नीला	पीला
१३ पदवी	कुमार	कुमार
१४ पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५ सहदीक्षित	३०० साधु	पन्नाकी
१६ दीक्षा नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
१७ दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८ प्रथम पारणेका आ०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के वाचन बोल

सं०	बोल	श्री पार्ष्वनाथ	श्री महावीर
१९	पारणे का स्थान	धन्य के घर में	बहुल प्राणण के०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	पाँच व० ११	मगसिर व० ११
२२	छद्मस्थमाल	८४ दिन	१० वष
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	घाराणसी	ऋजुवालिपानदी
२४	ज्ञानसंयन्धी तप	३ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृत्त	धातकी वृत्त	सालवृत्त
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	चैत्र व० ४	वैशाख शु० १०
२७	गणधर सं०	१०	११
२८	साधु सं०	१६०००	१४०००
२९	साध्वी सं०	३८०००	३६०००
३०	वैश्विनवखिद्याले	११००	५००
३१	चाद्री सं०	६००	४००
३२	अद्यधिज्ञानी	१०००	१३००
३३	फेवली	१०००	७००
३४	मनः पयवज्ञानी	७५०	५००
३५	स्वीदह पूर्वधारी	३५०	३००

प्रत्येक तीर्थकर के वाचन बोल

स०	बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महाशरीर
३६	श्रावक स०	१६४०००	१५६०००
३७	श्रावित्रा स०	३३९०००	३१८०००
३८	शासन यत्ननाम	पार्श्व यत्न	मातङ्ग यत्न
३९	शासनयत्तिणी नाम	पद्माप्रती	सिद्धायित्रा
४०	प्रथम गणधर	जार्यद्विघ्न	इन्द्रभूति
४१	प्रथम आर्या	पुष्प चूडा	चन्दनवाला
४२	मोक्षस्थान	समेत शिखर	पावापुरी
४३	मोक्ष तिथि	श्रावण शु० ८	कार्तिक व० जमा०
४४	मोक्ष सलेपना	१ मास	२ उपवास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	पद्मासन
४६	अन्तरमान	२५०	चरम जिनेश्वर
४७	गणनाम	राक्षस	मानव
४८	योनि	मृग	महिष
४९	मोक्ष परिवार	३३	पत्नीकी
५०	भव स०	१० भव	२७ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकालमान	९ मास ६ दिन	९ मास ७ दिन

इस यत्र के अनुसार एक एक तीर्थकर के साथ वाचन वाचन बोलका सम्यग्ध जान लेना । इनमें स मातादिषु कितनेक द्वार जा प्रथम चारों लिख गये हैं, सा ध्युत्पत्ति के कारण से लिखे हैं ।

इन चौबीस तीर्थकरों में से नवमें, दशव ग्यारवें, बारवें, तेरवें, चौदहवें और पंद्रहवें, ए सात तीर्थकरों के निर्धारण हुए पीछे इन सातों का शासन-जो द्वादशागमाणी रूप शास्त्र अरु साधु तथा साध्वी, धामक और धाविका, ए चतुर्विध श्री सधरूप तीर्थ-सो कितनेक काल तक प्रवृत्त होकर पीछे से ध्यवच्छेद हो गया । तब तो भारत वय में जैन मत का नाम भी न रहा था । तब ही से अनेक मत मतान्तर और कुशाग्रों की प्राय प्रवृत्ति भयी सो अथ ताईं होतो हो चलो जाती है । बहुत से लोगों ने स्वकपोलकल्पित शास्त्र बना करके पूर्व मुनि व ऋषि या ईश्वर प्रणीत प्रसिद्ध कर दिए हैं । ऐसे तीनसौ त्रिसठ मत प्रवृत्त हुए हैं । अरु चारों आय वेद तो ध्यवच्छेद हो गये अरु नवीन वेद बना लिये । उन नवीनों को भी कई बार लोगों ने नयी २ रचना से बनाकर उलट पुलट कर दिया । जो कुछ बन बनाके शेष रहे उनमें भी अनेक तरों के भाष्य टीका, आदि रच कर अर्थों की गड़ बड़ कर दीनी, सो अथ ताईं करते ही चले जाते हैं । ए सर्व स्वरूप जहा वेदों की उत्पत्ति लिखेंगे तहा स्पष्ट करेंगे । वेद जो नाम है सो तो बहुत प्राचीन काल में है अरु जिन पुस्तकों

का नाम वेद अथ प्रसिद्ध है सो पुस्तक प्राचीन नहीं हैं,
इसका प्रमाण आगे चल कर लिखेंगे ॥

इति श्री तपागन्ठीय-मुनिश्रीवृद्धिविजय-शिष्य मुनि
आनन्दविजय आत्माराम विरचिते जैनतत्त्वादर्शे
प्रथम परिच्छेद सम्पूर्ण ।



द्वितीय परिच्छेद

अथ दूसरे परिच्छेद में बुदेव का स्वरूप लिखत है—

बुदेव उसको कहते हैं जो भगवान् तो नहीं
 बुदेव का स्वरूप परन्तु लोकों ने अपनी बुद्धि से जिसमें
 परमेश्वर का आरोप कर लिया है। सो बुदेव
 का स्वरूप तो उक्त देवस्वरूप से विपर्ययरूप है सब बुद्धिमान्
 आपही जान लेंगे। परन्तु जो विस्तार से लिखा ही समझ
 सकते हैं तिनों के ताड़ लिखते हैं —

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादि रागाद्यककलकिता ।

निग्रहानुग्रहपरा-स्तेदेवा स्युर्न मुक्तये ॥

नाट्याट्टहाससगीता द्युपप्लवनिमस्कुन्ना' ।

लभयेयु' पद शान्त, प्रपन्नान्प्रागिन' कथम् ॥

[यो० शा०, प्र० २ श्लो० ६-७]

अस्यार्थ — जिस देव के पास स्त्री होवे तथा जिसकी
 प्रतिमा के पास स्त्री होवे—क्योंकि जैसा पुरुष होता है उसकी
 मूर्ति भी प्रायः वैसी ही होती है। आज कल सर्व चित्रों में
 ऐसा ही देवने में आता है। सो मूर्ति द्वारा देव का भी
 स्वरूप प्रगट हो जाता है। इस प्रकार मूर्ति द्वारा तथा अन्य
 मनावलवी पुर्यों के ग्रन्थानुसार समझ लेना। तथा शस्त्र,

धनुष, चक्र, त्रिशूलदि जिसके पास होने तथा अक्षसूत्र-जपमाला, आदि शब्द से कमडल प्रमुख होने। फिर कैसा वो देव होवे ? राग छेपादि दूषणों का जिममें चिन्ह होवे। स्त्री को जो पास रखेगा वो जरूर कामी और स्त्री से भोग करने वाला होगा। इस से अधिक रागी होने का दूसरा कौनसा चिन्ह है ? इसी काम राग के बरा होकर कुदेवों ने स्वरत्री, पररत्री, जेटी, माता, बहिन, अथ पुत्र की बधू प्रमुख से अनेक कामकीडा कुचेष्टा करी है।

जो पुरुष मात्र होकर पररत्री गमन करता है उसको आज कल के मतावलत्रियों में से कोई भी अच्छा नहीं कहता। तो फिर परमेश्वर होकर जो पररत्री से काम कुचेष्टा करे, तो उसके कुदेव होने में कोई भी बुद्धिमान् शका नहीं कर सकता। जो अपनी स्त्री से काम मेलन करता है और पर स्त्री का त्यागी है उसको भी पर स्त्री का त्यागी, धर्मी गृहस्थ तो लोक कह सकते हैं, परन्तु उसको मुनि वा ऋषि वा ईश्वर कभी नहीं कहेंगे क्योंकि जो कामाग्नि के कुण्ड में प्रज्वालित हो रहा है, उसमें कभी ईश्वरता नहीं हो सकती। इस हेतु से जो रागरूप चिन्ह करी सयुक्त है, सो कुदेव है। पुन जो छेप के चिन्ह करी सयुक्त है वो भी कुदेव है। छेप के चिन्ह शस्त्रादि का धारण करना क्योंकि जो शस्त्र, धनुष, चक्र, त्रिशूल प्रमुख रखेगा उसने अवश्य ही किसी वैरी को मारना है, नहीं तो शस्त्र रखने से क्या प्रयोजन है ? अथ

जिसको धैर्य विरोध लगा हुआ है सो परमेश्वर नहीं हो सकता है। जो ढाल घा खड़ग रफनेगा वह भय करी अवश्य सयुक्त होगा और जो ध्याप ही भय सयुक्त है तो उसकी सेवा करने में हम निभय कैसे हो सकते हैं? इस हेतु से छेप सयुक्त को कौन पुद्धिमान् परमेश्वर कह सकता है? परमेश्वर जो है सो तो धीतराग है और जो राग छेप करी सयुक्त है सो परमेश्वर या सुदय नहीं किन्तु पुत्र्य है।

तथा जिसके हाथ में जपमाला है, सो असर्वज्ञ है। क्योंकि यह असव्ययता का चिन्ह है। जेकर स्वयज्ञ होता तो माला के मण्डकों बिना भी जपकी सत्या कर सकता। और जो जप को करता है, सा भी अपने में उच्चका करना है तो परमेश्वर से उच्च कौन है जिसका धो जप करता है? इस हेतु में जो माला से जप करता है सो देव नहीं है। तथा जो शरीर को भस्म लगाता है और धूनी तापता है नंगा होकर कुचेष्टा करता है भाग, अफीम, धतूरा, मदिरा प्रमुख पीता है तथा मांसादि अगुद्ध आहार करता है या हस्ती, ऊट, बिल, गर्दभ प्रमुख की सवारी करना है सो भी बुदेव है। क्योंकि जो शरीर को भस्म लगाता है, और जो धूनी तापता है सो किसी वस्तु की इच्छा धाला है। सो जिसका अभी तक मनोग्थ पूरा नहीं हुआ सो परमेश्वर नहीं धो तो बुदेव है। और जो नशे, अमल की चीजें खाता पीता है, सो तो नशे के अमल में आनन्द और हृष्य ढढता है परन्तु परमेश्वर तो

सदा आनन्द और सुख रूप हैं। परमेश्वर में धो कौनसा आनन्द नहीं था जो नया पीने में उसको मिलता है ? इस हेतु से नया पीने वाला अरु मानादि अशुद्ध आहार करने वाला जो है सो कुदेव है। और जो सगरी है सो परजीवों को पीड़ा का कारण है अरु परमेश्वर तो दयालु है, सो पर जीवों को पीड़ा कैसे देवे ? इस हेतु में जो किसी जीव की सगरी करे, सो कुदेव है। और जो कमडल गन्वता है, सो शुचि होने के कारण रजता है। परन्तु परमेश्वर तो सदा ही पवित्र है उनको कमडल से क्या काम है ? यत —

स्त्रीसङ्गः काममाचष्टे, द्वेष चायुधसग्रहः ।

व्यामोह चाक्षुत्रादि-रशौच च कमडलु ॥

अर्थ — स्त्री का जो सग है सो कामको कहता है, शस्त्र जो है सो द्वेष को कहता है, जपमाला जो है सो व्यामोह को कहती है, और कमडलु जो है सो अशुचिपने को कहता है। तथा जो निग्रह करे—जिसके ऊपर क्रोध करे तिसको यध, धन्वन, मारण, नरकपान का दुःख देवे तथा रोगी, शोकी, शृष्ट्रियोगी, निर्धन, हीन, दीन, क्षीण करे—सोभी कुदेव है। और जो अनुग्रह करे जिसके ऊपर तुष्टमान होवे तिसको इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, महामाडलिक बनावे और माडलिकादिकों को राज्यादि पदवी का घर देवे, तथा सुन्दर अप्सरा सहस्र स्त्री, पुत्र परिवारादिकों का मयोग

जो करे, सो बुद्ध है। क्योंकि जो ऐसा रागी अरु द्वेषी है वो मोक्ष के ताड़ कभी नहीं हो सकता। वो तो भूत, प्रत पिशाचादिकों की तरे क्रीडाप्रिय देवता मात्र है। ऐसा देव अपने सेवकों को कैस मोक्ष दे सकता है? आपही यदि वो रागी, द्वेषी, कर्मपरतन्त्र है, तो मेवकों का क्या फाय सार सकता है? इस हतु से वो भी बुद्ध है।

पुन बुद्ध के लक्षण लिखते हैं—जो नाद, नाटक, हास्य, संगीत, इनरु रस में मग्न है याजा वजाता है, आप नृत्य करता है, तथा औरों को नचाता है, आप हसता अरु कूदता है, विषय बढ़ाने वाले रागों को गाता है, घाघ अरु संगीत खोलुप है इत्यादि मोह कर्म के घरा से ससार की चेष्टा करता है, तथा जिसका स्वभाव अस्थिर हो रहा है। सो जो आपही ऐसा है तो फिर मेवकों को शांति पद कैसे प्राप्त करा सकता है। जैसे परड वृक्ष कल्पवृक्ष की तरें किसी की इच्छा नहीं पूरी कर सकता। यदि किसी मूढ पुरुष ने परड का कल्पवृक्ष मान लिया तो क्या वो कल्पवृक्ष का काम दे सकता है? ऐसे ही किसी मिथ्यादृष्टि पुरुष ने जो बुद्ध को परमेश्वर मान लिया तो क्या वो परमेश्वर हो सकता है? कभी नहीं। इस वास्ते प्रथम परिच्छेद में जो लक्षण परमेश्वर के लिखे हैं तिनही लक्षणों वाला परमेश्वर देव है। शेष सब बुद्ध है।

प्रश्न—हमने तो ऐसा सुन रक्खा है कि जैनी ईश्वर को नहीं मानते। उनका जो मत है, सो अनीश्वरीय है। परन्तु

तुमने तो प्रथम परिच्छेद में कई जगह पर धर्मेत भगवत परमेश्वर लिखा है अरु प्रथम परिच्छेद तो भगवान् ही के स्वरूप कथन में समाप्त किया है। यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

उत्तर—हे भय ! जो कोई कहते हैं कि जैनमतावलम्बी ईश्वर को नहीं मानते उनका ऐसा कहना जैन धर्म और मिथ्या है। उन्होंने कभी जैन मत का शास्त्र ईश्वर पढ़ा या सुना न होगा, तथा किसी बुद्धिमान् जैनी का ससर्ग भी न करा होगा। जेकर जैन मत का शास्त्र पढ़ा या सुना होता तो कभी ऐसा न कहते कि जैनी ईश्वर को नहीं मानते। जेकर जैनी ईश्वर को न मानते होते तो यह जो श्लोक लिखे जाते हैं, वो किस की स्तुति के हैं ?

त्वामव्यय विभुमर्चित्यमसरयमाद्य,
 ब्रह्माण्मीश्वरमनन्तमनगकेतुम् ।
 योगीश्वर विदितयोगमनेकमेरु,
 ज्ञानस्वरूपममल प्रवदति सतः ॥

[भक्तामरस्तोत्र-श्लो० २४]

अस्यार्थ—हे जिन ! 'सत'—सत्पुरुष 'त्वा—तेरे को 'अव्ययम्'—अव्यय 'प्रवदति'—कहते हैं। अव्यय-अपचय को जो न प्राप्त

होने सो द्रव्याथ * नय के मत से अर्थय-सीता फालों में एक स्वरूप है । जिभुम'-जिभाति-शोभता है परमेश्वरता करी सो विभु, अथवा विभयति-समर्थ हाने फर्मों मूलन करके सो जिभु, अथवा इन्द्रादिक देवताआ फा जो स्वामी सा विभु, सत्पुरुष इम घास्ते तुभको जिभु कहते हैं । पुन कैसे तुभका ? अचिन्त्यम-अध्यामनाता भी तुमार चिंतन करने को समथ नहीं, इम घास्त सत्पुरुष तुभको अचित्य कहते हैं । फिर कैसे तुभका ? असग्यम-तुमारे गुणों की सत्या-गिणाती नहई कि कितन गुण है, इम हेतु से सत्पुरुष तुभका असत्य कहते हैं । फिर कैसे तुभको ? 'आद्यम-आदिर्म जो होवे-सब लाकव्यवहार फा प्रयत्तक होने से सन तेरे को आद्य कहते हैं । अथवा अपने तार्थ को आदि करन से आद्य । फिर कैसे तुभको ? ब्रह्माणाम-अनत आनद करी सर्व से अधिक वृद्धि वाला होने से सत्पुरुष तुभको

* वस्तु में रहे हुए अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का सापेक्ष दृष्टि से निरूपण करन वाउ विचार को नय कहत है । वह द्रव्य और पयाय भद स दो प्रकार का है । कवल द्रव्य-मूल वस्तु का सापेक्ष दृष्टि से निरूपण करने वाला विचार द्रव्यार्थिक नय है । वस्तु में रहे हुए अनन्त धर्मों का सापेक्ष दृष्टि से निरूपण करने वाले विचार को पयायाथक नय कहते हैं । यह दोनों नैगम, संग्रह, व्यवहार, अजुमूत्र, शब्द, समभिदण और एव भूत के भेद से सात प्रकार क है । विषय स्वरूप के लिय दस्ता परि०

ब्रह्मा कहते हैं। फिर कैसे तुम्हको ? 'ईश्वरम्'—सर्व देवताओं का स्वामी—ठाकुर होने से ईश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुम्हको ? 'अनन्तम्'—अनंत ज्ञान, दर्शन के योग में अनन्त, अथवा नहीं है अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनंत ज्ञान, अनंतबल, अनंत सुख, अनंतजीवन इन चारों करी संयुक्त होने से अनंत कहते हैं। फिर कैसे तुम्हको ? 'अनगकेतुम्'—कामदेव को केतु के उदय समान-नाशकारक होने से अनगकेतु कहते हैं, अथवा नहीं है अद्भ-अौदारिक, वैश्विय, आहारक, तजस, कामण शरीर रूपी चिन्ह जिसके सो अनग केतु। यह भविष्य नैगम के मत करी कहते हैं फिर कैसे तुम्हको ? योगीश्वरम्—योगी—जो चार ज्ञान के धरनारे, तिनों का ईश्वर होने से योगीश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुम्हको ? 'त्रिदितयोगम्'—जाना है सम्यक् ज्ञानादि का रूप जिसने, अथवा ध्यानादि योग जिसने, अथवा त्रिगोप करक दित—प्रागिडन किया है कर्म का संयोग जीव के साथ जिसने ऐसे तुम्हका त्रिदितयोग कहते हैं। फिर कैसे तुम्हको ? 'अनेकम्'—ज्ञान करके सर्गत होने से, अथवा अनेक सिद्धों के एकत्र रहने से, अथवा गुण पर्याय की अपेक्षा करके, अथवा ऋषभादि व्यक्ति भेद से तुम्हको अनेक कहते हैं। फिर कैसे तुम्हको ? 'एकम्'—अद्वितीय—उत्तमोत्तम अथवा जीव द्रव्यापेक्षया एक कहते हैं। फिर कैसे तुम्हको ? 'ज्ञानस्वरूपम्'—

ज्ञान-त्त्वायिक केवल है स्वरूप जिसका, अतः ज्ञानस्वरूप कहते हैं। फिर कैसे तुमको ? 'अमलम्'—नहीं है अष्टादश दोषरूप मल जिसके, इस वास्ते अमल कहते हैं। ए पूर्वोक्त पदरा विशेषण ईश्वर के *महानरों में प्रसिद्ध है।

तथा —

“बुद्धस्त्वमेव त्रिगुणार्चित ! बुद्धिगोपात,
त्व शकरोऽसि भुवनत्रयशकरत्वात् ।
घातासि धीर ! शिवमार्गविधेनिधानात्,
व्यक्त त्वमेव भगवन् । पुरुषोत्तमोसि ॥

* पाठ्य तुलना करें—

त्वमक्षर परम वदितव्य त्वमस्य विद्वम्य पर निधानम् ।
त्वमद्वय शश्वतधर्मगोप्ता, सनातनस्त्व पुरो मता म ॥

[भगवद्राता अ० ११ श्लो० १८]

त्वामामनन्ति मुनयः परम पुमान्—
मान्दित्यवर्णममल तमस परस्तात् ।
त्वामत्र सम्यगुपलभ्य जयति मृत्यु,
नाय शिव शिवपदस्य मुनीन्द्र पथा ॥

[भक्ता० स्तो० श्लो० २३]

वदाहमत पुरुष महात्तमादियवण तमस परस्तात् ।
तमव विदिवाऽतिशुभति नाय पथा विद्यतऽयनाय ॥

[श्वेता० उप , अ० २ मंत्र ८]

अर्थ — हे त्रिभुवाक्षिन ! त्रिभुव-देवताओं कगी पूजित !
 बुद्ध-सातों सुगतों में से कोई एक सुगत-उभयुद्धि प्रगट करने
 मे सो बुद्ध तूही है । तीना भुवनों में सुख करने मे तू शकर
 है । श-सुख को जो करे सो शकर । हे धीर ! शिव-मोक्ष
 तिसका जो मार्ग-धानदशनचारित्ररूप-तिमका विधान
 करने से तू धाता-विधाता-ब्रह्मा है । हे भगवन् ! तूही व्यक्त-
 प्रगट रूप मे पुण्यों में उत्तम है । इत्यादि लागों श्लोक परमे-
 श्वर की स्तुति के हैं । जेकर जेनी ईश्वर को न मानते तो
 इन श्लोकों मे उन्होंने किसकी स्तुति करी है ? इस कारण
 मे जो कहते हैं कि जेनो लोग ईश्वर को नहीं मानते, वे
 प्रत्यक्ष मृपाजादी हैं ।

प्रश्न — बहुत अच्छा हुआ जो मेरे मनका सशय दूर
 हुआ । परन्तु एक बात का सशय मेरे मनमें है कि तुमने
 ईश्वर तो मान्या, परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर जेनमत
 में मान्या है वा नहीं ?

उत्तर — हे भय ! जगत् का कर्त्ता जो ईश्वर सिद्ध हो
 जाये तो जेनी क्यों नहीं मानें ? परन्तु जगत्
 जगत्कृत्वा का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध
 मोमासा नहीं होता ।

प्रश्न — जे कर किसी प्रमाण से ईश्वर जगत् का कर्त्ता
 सिद्ध नहीं होता तो, नवीनपेदाती, नैयायिक, वैशेषिक,
 पातञ्जल, नवीनसाय्य, ईसाई, मुसलमान प्रमुख अनेक

मतावलम्बी पुरुष, ईश्वर को जगत् का कर्त्ता या सर्व वस्तु का कर्त्ता क्यों मानते हैं ? क्या हम में से कोई भी ईश्वर के जगत्कर्त्तापने का निषेध करने वाला समझदार नहीं भया ?

उत्तर—हे भव्य ! जैन बौद्ध प्राचीनसाह्य, पूर्वमीमांसाकार जमिनी मुनि के सप्रदाया भट्ट प्रभाकर इत्यादि अनेक मतावलम्बियों में से कोई भी समझदार न भया जा ईश्वर को जगत् का कर्त्ता स्थापन करता ।

प्रश्न — जैन बौद्ध अथ प्राचीन साह्यादि उक्त मतावलम्बी सब अज्ञानी हुए हैं इस हेतु में ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानते ।

उत्तर — नवीन वैदानी नैयायिक अथ वैशेषिकादि यह भी सर्व अज्ञानी हुए हैं जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं ।

प्रश्न — ईश्वर जगत् का या सब वस्तु का कर्त्ता है किन्ने जा मानिये, तो क्या दूषण है ?

उत्तर — ईश्वरका जगत् का कर्त्ता या सर्व वस्तु का कर्त्ता मानने में बहुत दूषण आते हैं ।

प्रश्न — तुम तो अपूर्व बात सुनाते हो हमन तो कदापि नहीं सुना कि ईश्वर को जगत्कर्त्ता या सब वस्तुका कर्त्ता मानने में दूषण आता है । अथवा आपको कहना चाहिये कि जगत् का कर्त्ता मानने से ईश्वर में क्या दूषण आता है ?

उत्तर — हे भव्य ! प्रथम तुम यह बात कहो कि तुम कानसा ईश्वर जगत् का कर्त्ता मानने हो ?

प्रश्न — क्या ईश्वर भी कई एक तरों के हैं, जो आप हमसे ऐसा पूछते हो ?

उत्तर — क्या तुम नहीं जानते हो कि दो तरोंक ईश्वर अन्य मतावलम्बियों ने माने हैं ? एक तो जगदुत्पत्ति निरपेक्ष ईश्वर से पहिले केवल एक ही ईश्वर था । जगत् कर्तृवखण्डन का उपादानादिक कोई भी कारण वा दूसरी वस्तु नहीं थी—एक ही शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दादि स्वरूप युक्त परमेश्वर था । कई एक जीवों को तो ऐसा ईश्वर, जगत् वा सर्व वस्तु का रचने वाला अभिमत है । और दूसरों ने तो जीव, परमाणु, आकाश, काल, दिशादि सामग्री धाला—एतावता एक तो उक्त विशेषण सयुक्त ईश्वर और दूसरी सामग्री जिससे जगत् रचा जाये, ए दोनों वस्तु अनादि हैं—एतावता एक तो ईश्वर और दूसरी जगत् उत्पन्न करने की सामग्री, ए दोनों किसी ने बनाये नहीं—ऐसा माना है । तुम को इन दोनों मतों मे से फौनसा मत सम्मत है ?

पूर्वपक्ष — हमको तो प्रथममत सम्मत है, क्योंकि वेदादि शास्त्रों में ऐसा लिखा है —

* एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आका-

* उस सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा (ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से

शाद्वायु' । वायोरग्नि । अग्नेराप । अद्वायु पृथिवी । पृथिव्या
 ओषधय । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेत । रेतस' पुरुष ।
 स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय । [तै० उ०, २—१]

तथा—*मदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

[छा० उ०, ६—२—१]

+ तदैक्षत गृह्ण्या प्रजायेयेति ।

[छा० उ०, ६—२—३]

ना सदासीन्नो सदासीत्तदानी,
 नासीद्रजो नो व्योमापरोयत् ।
 किमावरीव' कुहकस्य शर्म—

पृथ्वी, पृथ्वी से औपधियें, औपधियों से अन्न, अन्न में वीर्य, और वीर्य
 में पुरुष उत्पन्न हुआ । सो यह पुरुष अन्नरसमय है ।

* हे सौम्य ! यह दृश्यमान् जगत् उत्पत्ति में प्रथम सत् रूप ही था,
 वह सत् एक और अद्वितीय अर्थात् सजातीय विजातीय और स्वगत
 भेद से शून्य है ।

† उस—परमात्मा ने यह इच्छा की कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ ।

‡ तब—मूलारम्भ में अस्तन् नहीं था और सत् भी नहीं था । अन्तरिक्ष
 नहीं था और उसका परे का आकाश भी नहीं था । किसने किस पर आवरण
 ाला ? कहा ? जिसके मुख के लिए ? अगाध और गहन जल कहाँ था ?

अम्भ. किमासीद् गहन गभीरम् ॥

[ऋग्वेद म० १०, मू० १२६, मंत्र १]

। आत्मा या इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत किञ्चि-
न्मिपत् । स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति ।

[ऐत० उ०, १—१]

इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है, कि सृष्टि से पहिले केवल एक ईश्वर ही था, न जगत् था और न जगत् का कारण था, एक ही ईश्वर शुद्ध स्वरूप था । तथा ईसाई या मुसलमान मतवाले भी ऐसे ही मानते हैं । इस हेतु से हम प्रथम पक्ष मानते हैं ।

उत्तर — हे पूर्वपक्षी ! तुमारा यह कहना ईश्वर को घड़ा फलकित करता है ।

पूर्वपक्ष — जगत् के रचने से ईश्वर को क्या फलक प्राप्त होता है ?

उत्तरपक्ष — प्रथम तो जगत् का उपादान कारण नहीं है, इस हेतु से जगत् कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि जिसका उपादान कारण नहीं है, सो कार्य कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता जैसे ग्रे का सींग ।

पूर्वपक्ष — ईश्वर ने अपनी शक्ति, नामांतर शुद्धरत से

। प्रथम द्रव्य ही था और कुछ नहीं था । उस ने इच्छा को कि सृष्टि की उत्पन्न करे ।

जगत् को रचा है, ईश्वर की जो शक्ति है सोई उपादान कारण है ।)

उत्तरपक्ष — ईश्वर की जो शक्ति है सो ईश्वर से भिन्न है, वा अभिन्न है ? जे कर कहोगे कि भिन्न है, तो फिर जड है वा चेतन है ? जेकर कहोगे कि जड है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? जेकर कहोगे कि नित्य है तो फिर यह जो तुमारा कहना था कि सृष्टि से पहिले केवल एक ईश्वर था, दूसरा कुछ भी नहीं था, यह ऐसा हुआ कि जैसे उमत्तों का वचन अर्थात् अपने ही वचन को आपही भ्रष्टा करा । जेकर कहोगे कि अनित्य है, तो फिर उसका उपादान कारण ईश्वर की और शक्ति हुई, तिस शक्ति को उत्पन्न करने वाली और शक्ति हुई इसी तरें अनवस्थादूषण आता है, जेकर कहोगे कि चेतन है तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? दोनों ही पक्षों में पूर्वोक्त अपरापरस्ववचनव्याघात अरु अनवस्था दूषण है । जेकर कहोगे कि ईश्वरशक्ति ईश्वर से अभिन्न है, तो सब वस्तु को ईश्वर ही कहना चाहिये । जब सब वस्तु ईश्वर ही हो गई, तो फिर अन्धता और धुरा, नरक और स्वर्ग पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म, ऊच नीच, रड्ड राजा, सुशील और दुशील, राजा और प्रजा, चोर और साध— सत, सुपी और दुम्बी इत्यादिक सब कुछ ईश्वर ही आप बना । तब तो ईश्वर ने जगत् क्या रचा, आप ही अपना सत्यानारा कर लिया—ए प्रथम कलक ईश्वर

को लगता है। तथा जब ईश्वर आप ही मय बुरूध बन गया, तो फिर वेदादिक शास्त्र क्यों बनाए ? अरु उनके पढ़ने से क्या फल हुआ ? ए दूसरा फलक। तथा अपने आप जानो होने वास्ते वेदादिक शास्त्र बनाए अर्थात् पहिले तो अज्ञानी था—ए तीसरा फलक। तथा शुद्ध से अशुद्ध बना, और जो जगत् रूप होने की मेहनत करी, सो निष्फल हुई—ए चौथा फलक। कोई वस्तु जगत् में अच्छी वा पुरी नहीं—ए पाचवा फलक। क्यों अपने आपको सकट में डाला ? ए छठा फलक। इत्यादि अनेक फलक तुम ईश्वर को लगाते हो।

पूर्वपक्ष — ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, इस हेतु से ईश्वर, बिनाही उपादान कारण के जगत् रच सकता है।

उत्तरपक्ष — यह जो तुमारा कहना है सो प्यारी भार्या वा मित्र मानेगा परन्तु प्रेक्षायान् कोई भी नहीं मानेगा, क्योंकि इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। परन्तु जिसका उपादान कारण नहीं वो कार्य कदे भी नहीं हो सकता, जैसे गधे का सींग, ऐसा प्रमाण तुमारे कहने को बाधने वाला तो है। जेकर हठ करके स्वकपोलकटिपत ही को मानोगे तो परीक्षा वालो की पक्ति में कदे भी नहीं गिने जाओगे। तथा इस तुमारे कहने में इतरेतराश्रय द्रूपण रूप घञ्ज का प्रहार पड़ता है, यथा सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध हो जावे तो सर्वशक्तिमान् सिद्ध होने, जब सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे

ना सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध होते। इन दानों में से जब तक एक सिद्ध न होये तब तक दूसरा कभी सिद्ध नहीं होता। तथा इस नुमांरे कहने में *चक्र दूयण भी होना है जैसे यदा सृष्टि का कला सिद्ध होये तदा मवशक्तिमान् सिद्ध होये जब मव शक्तिमान् सिद्ध होये तब सृष्टि से पहिले सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध होये जब सृष्टि से पहिले शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध होये तब सृष्टि कला सिद्ध होये—ऐसे प्रगट चक्र दूयण है।

पूर्वपक्ष — ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है फिर तुम उसको सृष्टिकर्ता क्यों नहीं मानते ?

उत्तरपक्ष — जे कर ईश्वर सृष्टि का कला प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होय तो किसी को भी अमाय न होय, और तुमारा हमारा ईश्वर विषयक विवाद कभी नहीं होये, क्योंकि प्रत्यक्ष में विवाद नहीं होता है। तथा ईश्वर का प्रत्यक्ष दृग्गता भी तुमारे वेदमंत्र से प्रसिद्ध है। तथा च वेदमंत्र —

* एक अनिष्ट प्रसङ्ग रूप दाप है, जा तान या अधिक सापेक्ष विषयों में प्रसक्त होता है अथवा पहला दूसरे की, दूसरा तीसरे की और तीसरा पहिल की अपेक्षा रखता है। फिर पहला दूसरे की और दूसरा तीसरे का, इस प्रकार यह दोष चक्रमंत्र धरावर गनता रहता है।

*अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
 पश्यत्यक्षुः शृणोत्यकर्णः ।
 स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता,
 तमाहुरग्रथ पुरुष महान्तम् ॥

[श्रुतेता० उ०, ३—१६]

इस मन्त्र में कहा है कि ईश्वर को जानने वाला कोई भी नहीं है।

पूवपक्ष—बिना कर्ता के जगत् कैसे हो गया ? इस अनुमान प्रमाण से ईश्वर सृष्टि का कर्ता सिद्ध होता है। सो तुम क्यों नहीं मानते ?

उत्तरपक्ष—इस तुमारे अनुमान को दूसरे ईश्वर पक्ष में पण्डन करेंगे। यद्यपि उक्त प्रकार से सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित, केवल एक परमेश्वर नहीं सिद्ध हुआ, तो भी हम आगे चलते हैं। कि जग ईश्वर ने यह जीव रचे थे तब ?—निर्मल रचे थे ? २-पुण्य वाले रचे थे ? ३-पाप वाले रचे थे ? ४-मिश्रित पुण्य पाप-अर्द्धों अर्द्धों पुण्य पाप वाले रचे थे ? ५-पुण्य छोड़ा पाप अधिक वाले रचे थे ?

ॐ यह—परमात्मा हाथ और पाओं के बिना ग्रहण करता और चलता है, आल के बिना देखता है, कान के बिना सुनता है। जो कुछ जानने योग्य है वह सब जानता है और उसका जानने वाला कोई नही है। उमे प्रथम—आद्य और महान्—धेष्ठ पुरुष कहते हैं।

फिर हमारा रचने वाला इश्वर परम शत्रु हुआ कि नहीं ? बिना प्रयोजन रक जीर्ण से सामग्री द्वारा पाप करा के क्यों उन को नरक में डाले ? सामग्री द्वारा प्रथम पाप कराना और पीछे नरकपात का दंड देना—इस तुमारे कहन में ईश्वर में अधिक अन्यायी फोड़ नहीं क्योंकि उस ने जीव को प्रथम तो रचा फिर नरक में डाला । उस तुमने ईश्वर का ये ही—अन्यायी, असवग निदयी, अमानि वृथा मेहनती रूप बलक देने, इस वास्ते निमल जीव इश्वर ने नहीं रच । ए प्रथम पक्षोत्तर ।

अथ दूसरा पक्षोत्तर—जेकर कहागे कि इश्वर ने पुण्य वाले ही जीव रचे हैं ता यह भी तुमारा कहना मिथ्या है । क्योंकि जय पुण्य जाने ही सब जीव थ ता गभ म ही अध, लगडे लूले बहिरे होना भूगडा रूप नीच वा निधन के कुल में उत्पन्न होना जाव जीव दु र्ण रहना, माने पीन का पूरा न मिलना महा कष्टकारक मेहनत करके पेट भरना—यह पुण्य क उदय में नहीं हो सकते । अरु बिना ही पुण्य के करे जीर्ण को ईश्वर ने पुण्य क्यों लगा दिया ? जे कर बिना हो करे जीर्ण को इश्वर न पुण्य लगा दिया तो फिर बिना ही धर्म करे जीर्णों को स्वग तथा मोक्ष क्यों नहीं पढुचा देता ? शास्त्रोपदेश कराय के, भूर्वा मराय के, तृष्णा छुडाय के, राग डेप मिटाय के, घर घर छुडाय के साधु धनाय के, दुकडे मगाय के, दया, दम, दान, मत्यवचन चोरी का त्याग, स्त्री

का त्याग, इत्यादिक अनेक साधन कराय के, पीछे मृग मोक्ष में पहुँचाना—यह मकड़ ईश्वर ने व्यर्थ खड़ा करके क्यों जीवों को दुःख दीना। इस बात से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि ईश्वर को कुछ भी समझ नहीं।

अथ तृतीय पक्षोत्तर—जे कर कहोगे कि ईश्वर ने पाप सयुक्त ही जीव रचे हैं, तो फिर बिना ही जीवों के करे पाप लगा दिया। इस तरे जब ईश्वर ने ही हमारा सत्यानाश करा, तो हम किस आगे विनति करें कि बिना गुनाह हमको यह ईश्वर पाप लगाता है, तुम इस को मने करो। जो बिना ही करे पाप लगा देवे, ऐसे अन्यायी ईश्वर का तो कभी नाम ही न लेना चाहिये। तथा जे कर ईश्वर ने पाप सयुक्त ही सर्व जीव रचे हैं तो राजा, अमात्य—मन्त्री, श्रेष्ठी, सेनापति, धनवानों के घर में उत्पन्न होना, नीरोगकाय, सुन्दर रूप, सुन्दर सहनन, घर में आदर, बाहिर यशोकीर्ति पचेन्द्रिय विषय भोग, इत्यादिक सामग्री पाप से कदे भी समझ नहीं होती। इस वास्ते जीवों को केवल पापवान् ईश्वर ने नहीं रचा।

अथ चतुर्थ पक्षोत्तर—जे कर कहोगे कि अर्द्धोऽर्द्ध पुण्य पाप वाले जीव ईश्वर ने रचे हैं तो यह पक्ष भी अच्छा नहीं, क्योंकि आधे सुग्री, आधे दुःखी ऐसे भी सर्व जीव देखने में नहीं आते।

अथ पंचम पक्षोत्तर—पाचरा पक्ष भी ठीक नहीं

कि सुख थोड़ा और दुःख बहुत ऐसे भी सर्व जीव देवने नहीं आते, परन्तु सुख बहुत और दुःख अल्प, ऐसे बहुत जगत् देखने में आते हैं।

अथ पष्ठ पक्षोत्तर — छठा पक्ष भी समीचीन नहीं क्योंकि सुख बहुत और दुःख थोड़ा ऐसे भी सर्व जीव देवने में नहीं आते परन्तु दुःख बहुत और सुख अल्प, ऐसे बहुत जीव देवने में आते हैं। इन हेतुओं से ईश्वर जीवों को किसी व्यवस्था में रखा नहीं रख सकता, तो फिर ईश्वर सृष्टि का कर्ता क्यों-कर सिद्ध हो सकता है। कर्मा नहीं हो सकता। तथा जब ईश्वर ने सृष्टि नहीं रची थी तब ईश्वर को क्या दुःख था? और जब सृष्टि रची तब क्या सुख हुआ?

✓ पूर्वपक्ष — ईश्वर तो सदा ही परम सुखी है। क्या ईश्वर को कुछ न्यूनता है कि उस न्यूनता के पूरण करने को सृष्टि करे, यो तो जगत् में अपनी ईश्वरता प्रगट करने को सृष्टि करती है।

उत्तरपक्ष — जब ईश्वर ने सृष्टि नहीं रची थी तब तो ईश्वर की ईश्वरता प्रगट नहीं थी, और जब सृष्टि रची तब ईश्वरता प्रगट भई, तो प्रथम जब ईश्वर की ईश्वरता प्रगट नहीं भई थी तब तो ईश्वर बड़ा उदास, असपूर्णमनोरथ और ईश्वरता को प्रगट करने में विह्वल था, इस हेतु से अवश्य ईश्वर को दुःख होना चाहिये। फिर जब ईश्वर सृष्टि से पहिले ऐसा दुःखी था तब खाली क्यों बैठ रहा था? इस सृष्टि

मे पहिले अपर सृष्टि रचके क्यों नहीं अपना दुःख दूर करा ?

पूर्वपक्ष — ईश्वर ने जो सृष्टि रची है सो जीवों को धर्म के द्वारा अनन्त सुख हो इस परोपकार के वास्ते ईश्वर ने सृष्टि रची है ।

उत्तरपक्ष — धर्म कराके जीवों को सुख देना यह तो तुमारे कहने मे परोपकार हुआ परन्तु जो पाप करके नरक गये उनके उपरि क्या उपकार करा ? उनको दुःखी करने मे क्या ईश्वर परोपकारी हो सकता है ?

पूर्वपक्ष — उनको नरक से निकाल के फिर स्वर्ग में स्थापन करेगा ।

उत्तरपक्ष — तो फिर उसने प्रथम ही नरक में क्यों जाने दिये

पूर्वपक्ष — ईश्वर ही मत्र कुछ पुण्य पापादि कराता है, जीव के अधीन कुछ भी नहीं । ईश्वर जो चाहता है सो कराता है, जैसे काठ की पुतली को वाजीगर जैमे चाहता है, नैमे नचाता है, पुतली मे कुछ अधीन नहीं ।

उत्तरपक्ष — जय जीव के कुछ अधीन नहीं, तो जीव को अच्छे धुरे का फल भी नहीं होना चाहिये । क्योंकि जो कोई सरदार किसी नौकर को कहे, कि तुम यह काम करो, फिर नौकर सरदार के कहने मे वो काम करे, धरु वो काम अच्छा है वा बुरा है तो क्या फिर वो सरदार उस नौकर को कुछ दंड आदि दे सकता है ? कुछ भी नहीं दे सकता । ऐसे

ही ईश्वर की आज्ञा से जब जीव ने पुण्य या पाप करे, तो फिर पुण्य पाप का फल जीव को नहीं होना चाहिये । जब पुण्य पाप जीव के करे न हुए तब स्वर्ग भ्रष्ट नरक भी जीव को न होंगे, तब जीव को नरक, स्वर्ग तिर्यग् भ्रष्ट मनुष्य ए चार गति भी न हाँगी, जब चार गति न होवेंगी, तब ससार भी न होगा जब ससार न होगा तब तो वेद, पुरान, कुरान, तौरैत, जवूर इजील प्रमुख शास्त्र भी न होंगे जब शास्त्र न होंगे तब शास्त्र का उपदेशक भी न होगा, जब शास्त्र का उपदेशक भी नहीं तो ईश्वर भी नहीं, जब ईश्वर ही नहीं तो फिर सब शून्यता सिद्ध भई । तब बताओ कि ए फलक क्योंकर मिटेगा ?

पूर्वपक्ष — यह जो जगत् है सो वाजीगर की वाजीपत्त है भ्रष्ट ईश्वर इस का वाजीगर है । सो इम जगत् को रच कर ईश्वर इस खेल मे खेलता—क्रीडा करना है नरक, स्वर्ग, पुण्य और पाप कुछ नहीं ।

उत्तरपक्ष — जब ईश्वर ने क्रीडा ही के धास्त जगत् रचा, तो क्रीडा ही मात्र फल होना चाहिये, परन्तु इस जगत् में तो कुष्ठी रोगी, शाकी धनहीन, बलहीन महात्नी जीव महा-प्रलाप कर रह है, जिनको नम्बने से दया के वश होकर हमारे रोंगटे—रोम खड होने है । तो क्या फिर इश्वर को इन दु खी जीवों को देव कर दया नहीं आती ? जब इश्वर को दया नहीं तो फिर क्या निर्दयी भी कहे ईश्वर हो सकता

है ? अरु जो क्रीडा करने वाला है, सो बालक की तरे रागी, द्वेषी, अहं होता है । जय राग द्वेष है, तो उस में सर्व दृषण हैं । जय आप हो औगुणों से भरा है, तो वो ईश्वर काहे का ? वो तो समारी जीव है । अरु जय राग द्वेष वाला होवेगा तब सर्वज्ञ कदापि न होवेगा, जय सर्वज्ञ नहीं तो उसको ईश्वर कौन बुद्धिमान् कह सकता है ?

पूर्वपक्ष — जीवों के करे हुए पुण्य के अनुसार ईश्वर बड देता है । इस हेतु से ईश्वर को क्या दोष है ? जैसा जिसने किया, वैसा ही उस को फल दिया ।

उत्तरपक्ष — इस तुमारे कहने से यह ससार अनादि सिद्ध हो गया, अरु ईश्वर कर्ता नहीं, ऐसा सिद्ध हुआ । बाहरे मित्र ! तैने अपने हाथ से ही अपने पाय पर कुठाराघात किया, क्योंकि जो जीव अय हैं, अरु जो कुछ इन को यहा फल मिला है, सो पूज जन्म में करा हुआ ठहरा, अरु जो पूर्व जन्म था, उस में जो दुःख सुख जीव को मिला था, वो उस से पूर्व जन्म में करा था, इसी तरे पूर्व पूर्व जन्म में दुःख सुख उपजाने वाला कर्म करना अरु उत्तरोत्तर जन्म में सुख दुःख का भोगना इसी तरे ससार अनादि सिद्ध होता है । तो फिर अय सोचो कि जगत् का कर्ता ईश्वर कैसे सिद्ध हुआ ?

पूर्वपक्ष — हम ता एक ही परम ब्रह्म पारमार्थिक सद्रूप मानते हैं ।

उत्तरपक्ष — जेकर एक ही परम ब्रह्म सद्रूप है, तो फिर यह जो सरल, रसाल, प्रियाल, विताल, ताल,

तमाल, प्रमाल, प्रमुग्य पदार्थ अप्रगामि रूप करके प्रतीत होते हैं, वह क्योंकर सत् स्वरूप नहीं हैं ?

पूवपक्ष —ए पूर्वोक्त जो पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे सब मिथ्या हैं तथाच अनुमान-प्रपक्ष मिथ्या है प्रतीत होने से जो ऐसा है सो ऐसा है यथा सीप में चादी का प्रतीत होना, तैसा ही यह प्रपक्ष है। इस अनुमान से प्रपक्ष मिथ्या रूप है अरु एक ब्रह्म ही पारमार्थिक सद्रूप है।

उत्तरपक्ष —हे पूर्वपक्षी ! इस अनुमान के कहने से तू तीक्ष्ण बुद्धिमान् नहीं है। सोई बात कहते हैं। यह जो प्रपक्ष तुमने मिथ्यारूप माना है सो मिथ्या तीन तर का होता है। एक तो अत्यन्त असत् रूप, अरु दूसरा, है तो कुछ और परन्तु प्रतीति और तरे होये, अरु तीसरा अनिर्गन्ध इन तीनों में से कौनसे मिथ्यारूप प्रपक्ष को माना है ?

पूवपक्ष —इन तीनों पक्षों में से प्रथम दो पक्ष तो भेरे स्वीकार ही नहीं। इन कारण से मैं तो तीसरा अनिर्गन्ध पक्ष मानता हू। सो यह प्रपक्ष अनिर्गन्ध मिथ्यारूप है।

उत्तरपक्ष —प्रथम तो तुम यह कहो कि अनिर्गन्ध क्या धस्तु है—यनायना तुम अनिर्गन्ध किस अद्वैतवाद का धस्तु को कहते हो ? क्या धस्तु को कहने खण्डन वाला शब्द नहीं है ? अथवा शब्द का निमित्त

* प्रपक्षो मिथ्या, प्रतीयमानत्वान् यदेव तदेव यथा शुक्तिशकृत् बलपीतम्, तथा चायम्, तस्मात्तथा । [स्थ। रत्ना०, परि० १]

नहीं है ? प्रथम त्रिकल्प तो कल्पना ही करने योग्य नहीं है, क्योंकि यह सरल है, यह रसाल है, ऐसा शब्द तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। अथ दूसरा पक्ष है, तो उस में भी शब्द का निमित्त ज्ञान नहीं है ? अथवा पदार्थ नहीं है ? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं, क्योंकि सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान तो प्राणी प्राणी के प्रति प्रतीत है। सर्प जीव देखने वाले जानते हैं कि, सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान हमको है। अथ दूसरा पक्ष कहो तो, पदार्थ भावरूप नहीं है ? कि अभावरूप नहीं है ? जेकर कहोगे कि पदार्थ भावरूप नहीं, अरु प्रतीत होता है, तो तुम को असत्ख्याति माननी पड़ी, परन्तु अद्वैतवादियों के मत में असत्ख्याति माननी महा दूषण है। अथ दूसरा पक्ष, कि पदार्थ अभावरूप नहीं है तो भाव रूप सिद्ध भया, तत्र तो सत्ख्याति माननी पड़ी। तथा जत्र अद्वैत मत अङ्गीकार किया, अरु सत्ख्याति मानी, तत्र तो सत्ख्याति के मानने से अद्वैत मत की 'जड़ को 'कुहाड़े से काट दिया—एतावता अद्वैत मत कदापि सिद्ध नहीं होगा।

पूर्णपक्ष—यस्तु भावरूप तथा अभावरूप ए दोनों ही प्रकार से नहीं।

* असत् पदार्थ का सत् रूप में मान होना।

† सत् पदार्थ का सत् रूप में मान होना। नोट—ख्यातिवाद के विशेष विवरण के लिये देखो परि० न० २-क।

उत्तरपक्ष—हम तुमको पूछते हैं कि भाव अरु अभाव इन दोनों का अर्थ जो लोक में प्रसिद्ध है वही तुमने माना है ? वा इस से विपरीत—और तरे का ? जेकर प्रथम पक्ष मानोगे तो जहा भाव का निषेध करोगे तहा अग्रश्यमेव अभाव कहना पडगा, अरु जहा अभाव का निषेध करोगे, तहा अग्रश्यमेव भाव कहना पडेगा । क्योंकि जो परस्पर विरोधी हैं, तिन में से एक का निषेध करोगे तो दूसरे की विधि अग्रश्य कहनी पडेगी । तथ अनिर्वाच्यता तो जड मूल से नष्ट हो गई । अथ दूसरा पक्ष अगीकार करो तब भी हमारी कुछ हानि नहीं, क्योंकि अलौकिक, एतावता तुमारे मन कल्पित शब्द अरु शब्द का निमित्त जो नष्ट हाजावेगा, तो लौकिक शब्द अरु लौकिक शब्द का निमित्त कदापि नष्ट नहीं हागा, ता फिर अनिर्वाच्य प्रपच किस तरे सिद्ध होगा ? जय अनिर्वाच्य सिद्ध न हुआ, तो प्रपच मिथ्या कैसे सिद्ध होगा ? तत्र एक ही अद्वैत ब्रह्म है यह भी सिद्ध न हुआ ।

पूवपक्ष—हम तो जो प्रतीत न होवे, उसको अनिर्वाच्य कहते हैं ।

उत्तरपक्ष—इस तुमारे कहने में तो बहुत विरोध आवे है । जे कर प्रपच प्रतीत नहीं होता तो तुमने अपने प्रथम अनुमान में प्रपच को धर्मीपने और *प्रतीयमानत्व को हेतुपने क्योंकिर ग्रहण किया ? जे कर कहोगे कि इस

* प्रतीति का विषय होना ।

नरे ग्रहण करने में क्या दुपण है ? तो फिर तुम ने यह जो ऊपर प्रतिज्ञा करी थी, कि हम तो जो प्रतीत नहीं होते, उस को अनिर्वाच्य कहते हैं, यह मिथ्या ठहरेगी और फिर प्रपच भी अनिर्वाच्य सिद्ध नहीं होगा ? जब प्रपच अनिर्वाच्य नहीं, तब या तो वो भाव रूप सिद्ध होगा, या अभावरूप सिद्ध होगा । इन दोनों ही पक्षों में एक रूप प्रपच को मानने में पूर्वोक्त अमत्ख्याति तथा सत्ख्याति रूप दोनों दुपण फिर तुमारे गले में रस्सो डालते हैं, अब भाग कर कहा जावोगे ? अच्छा हम फिर तुम को पूछते हैं कि यह जो तुम इस प्रपच को अनिर्वाच्य मानते हो, सो प्रत्यक्ष प्रमाण से मानते हो ? वा अनुमान प्रमाण से मानते हो ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो इस प्रपच को सत् स्वरूप ही सिद्ध करता है, जैसा जैसा पदार्थ है तैसा तैसा ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, अब प्रपच जो है सो परस्पर-आपस में न्यारी न्यारी वस्तु, सो अपने अपने स्वरूप में भाव रूप है, अब दूसरे पदार्थ के स्वरूप की अपेक्षा से अभाव रूप है । इस इतरेतर विविक्त वस्तुओं का समुदाय ही प्रपच माना है । तो फिर प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रपच को अनिर्वाच्य कैसे सिद्ध कर सकता है ?

पूर्वपक्ष — पूर्वोक्त जो हमारा पक्ष है, तिस को प्रत्यक्ष, *प्रतिक्षेप नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष तो विधायक ही है, जेकर प्रत्यक्ष इतर वस्तु में इतर वस्तु के स्वरूप का

निषेध करे, तो हमारे पक्ष को वह बाधक ठहरे, परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण तो ऐसा है नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण तो इतर वस्तु में इतर वस्तु के स्वरूप का निषेध करने में *शुण्ठित है।

उत्तरपक्ष—यह भी तुमारा कहना असत्य है। अन्य वस्तु के स्वरूप का निषेध किये बिना वस्तु क यथार्थ स्वरूप का कदापि बोध न होगा क्योंकि जय पीनादिक घणों करी रहित, ऐसा बोध होगा, तब ही नील रूप का बोध होगा। तथा जब प्रत्यक्ष प्रमाण करी यथाथ वस्तु स्वरूप ग्रहण किया जायगा, तब तो अवश्य अपर वस्तु के स्वरूप का निषेध भी तहा जाना जायगा। जेकर अन्य वस्तु के निषेध को अन्य वस्तु में प्रत्यक्ष नहीं जानेगा तो तिस वस्तु के विधि स्वरूप को भी प्रत्यक्ष न जान सकेगा। केवल जो वस्तु के स्वरूप का ग्रहण करना है, सोइ अन्य वस्तु के स्वरूप का निषेध करना है। जय प्रत्यक्ष प्रमाण, विधि अरु निषेध दोनों हा को ग्रहण करता है, तब तो प्रपञ्च मिथ्या रूप कदापि सिद्ध न होगा। जय प्रपञ्च मिथ्यारूप प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध न भया, तब तो परम ब्रह्म रूप एक ही अद्वैत तरंग कैसे सिद्ध होगा? तथा जो तुम प्रत्यक्ष को नियम करके विधायक ही मानोगे तब तो विद्यावत् अविद्या की भी विधि तुम को माननी पड़ेगी। सो यह ब्रह्म अविद्यारहित जय प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण किया, तब तो अविद्या का निषेध भी प्रत्यक्ष से ग्रहण होगा। फिर जो तुमारा यह कहना है कि प्रत्यक्ष

जो है, सो विधायक ही है, निषेचक नहीं, ऐसे वचन कहने वाले को क्यों न उन्मत्त कहना चाहिये ?

अब जो आगे अनुमान कहेंगे, तिस करके भी तुमारे पूर्वोक्त अनुमान का पक्ष बाधित है। सो अनुमान ऐसे है— प्रपञ्च मिथ्या नहीं है, असत् से विलक्षण होने से, जो असत् से विलक्षण है, सो ऐसा है अर्थात् मिथ्या नहीं है, यथा आत्मा। तैसा ही यह प्रपञ्च है अतः प्रपञ्च मिथ्या नहीं है। तथा प्रतीयमानत्व जो तुमारा हेतु है, सो ब्रह्मरूप आत्मा के साथ व्यभिचारी है, जैसे ब्रह्मात्मा प्रतीयमान तो है, परन्तु मिथ्यारूप नहीं है। जेकर कहोगे कि ब्रह्मात्मा अप्रतीयमान है तो उचनगोचर न होगा, जय वचनगोचर नहीं, तब तो तुमको गूंगे घनना ठीक है क्योंकि ब्रह्म के बिना अपर तो कुछ है नहीं, अरु जो ब्रह्मात्मा है सो प्रतीयमान नहीं, तो फिर तुमको हम गूंगे के बिना और क्या कहें ? प्रथम अनुमान में जो तुमने सीप का दृष्टान्त दिया था, सो साध्यविकल है, क्योंकि जो सीप है सो भी प्रपञ्च के अन्तर्गत है, अरु तुम तब प्रपञ्च को मिथ्यारूप सिद्ध करा चाहते हो, सो यह कन्नी नहीं हो सकता कि जो साध्य होये सोइ दृष्टान्त में करूँ उद्देश्य। जय सीप का भी अभी तक नत् असत् पना सिद्ध नहीं तो उसको दृष्टान्त में काहे को लाना ? तथा हम तुम्हें यह पूछते हैं कि जो प्रथम अनुमान तुमने प्रपञ्च के सिद्ध करने को लीना था सो अनुमान इस प्रपञ्च से सिद्ध है अन्वित

है ? जे कर कहोगे भिन्न है, तो फिर सत्य है, वा असत्य है ? जे कर कहोगे सत्य है, तो फिर तिस अनुमान की तरें प्रपच भी सत्य ही क्यों नहीं । जे कर कहोगे असत्य स्वरूप है, तो फिर क्या शून्य है ? वा अच्युतयात्यान है ? वा अनिर्वचनीय है ? प्रथम के दोनों पक्ष तो कदापि साध्य के साधक नहीं हैं, मनुष्य के शृङ्ख की तरें, तथा मीप में रूपे की तरें । अग नीसरा जो अनिर्वचनीय पक्ष है तिसका तो समग्र ही है नहीं; तय यह अपने साध्य को कैसे साधेगा ?

पूवपक्ष — हमारा जो अनुमान है, सो व्यवहार सत्य है । इस कारण से असत्य नहीं । फिर अपने साध्य को यह क्यों कर नहीं साध सकता ? अपितु साध सकता है ।

उत्तरपक्ष — हम तुम से पूछते हैं कि जा यह व्यवहार सत्य है, तिस का क्या स्वरूप है ? व्यवहरनीनि व्यवहार'— ऐमे जो व्युत्पत्ति करिय तय तो ज्ञान का ही नाम 'व्यवहार ठहरता है अरु ज्ञान से जो सत्य है, सो परमार्थिक ही है । इस पक्ष में सत्ख्याति रूप प्रपच सिद्ध हुआ । जय प्रपच सत् सिद्ध हुआ, तय तो एक ही परम ब्रह्म सद्रूप अद्वैत तय किन्ही तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता । जेकर कहोगे कि 'व्यवहार नाम शब्द का है उस करके जो सत्य हो यह व्यवहार सत्य है । तो फिर हम पूछते हैं, जो व्यवहार नाम शब्द का है, तो वह शब्द स्वरूप से सत्य है ? वा असत्य है ? जे कर कहोगे कि शब्द सत्स्वरूप है तो शब्द की तरें प्रपच भी सत्

स्वरूप ही है। जे कर कहोगे कि असत् स्वरूप है, तो फिर ब्रह्मादि शब्द से कहे हुए पदार्थ कैसे सत् स्वरूप हो सकेंगे ? क्योंकि जो आप ही असत् स्वरूप है, सो पर की व्यवस्था करने या कहने का हेतु कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष — जैसे ग़ोटा रुपया सत्य रुपये के साथ विफ़ायादिक व्यवहार का जनक होने से सत्य रुपया माना जाता है, तैसे ही हमारा अनुमान यद्यपि असत् स्वरूप है तो भी जगत् में सत् व्यवहार करके प्रवृत्त होने से व्यवहार सत् है। इस वास्ते अपने साध्य का साधक है।

उत्तरपक्ष — हे भव्य ! इस तुमारे कहने से तो तुमारा अनुमान पारमार्थिक असत् स्वरूप ठहरता है, फिर तो जो दूषण असत् पक्ष में देने है, सो सर्व ही इहा पड़ेंगे। जे कर कहोगे कि हम प्रपञ्च से अनुमान को अभिन्न मानते हैं, तब तो प्रपञ्च की तरफ अनुमान भी मिथ्या रूप ही ठहरा, फिर वह अपने साध्य को कैसे साध सकेगा ? इस पूर्वोक्त विचार से प्रपञ्च मिथ्या रूप नहीं, किन्तु आत्मा की तरफ सत्स्वरूप है, तो फिर एक ही ब्रह्म अद्वैत तत्त्व है, यह तुमारा कहना क्योंकि सत्य हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष — हमारी *उपनिषदों में तथा शंकर स्वामी के

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जानानि जावन्ति यत् प्रथमं यमिसविसन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मनि । [तै० उ०, ३—१]

निम मे विश्व के सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से

शिष्य आनन्दगिरि ने, शंकरदिग्विजय के तीसरे प्रकरण में लिखा है कि—* 'परमात्मा जगदुपादानकारणमिति'—परमात्मा जो है, सोई। इस सब जगत् का कारण है। कारण भी कैसा ? उपादान रूप है। उपादान कारण उसको कहते हैं कि जो कारण होवे सोई कायरूप हो जावे। इस कहने से यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ जगत् में है, सो सब कुछ परमात्मा ही आप बन गया। तब तो जगत् परमात्मा रूप ही है। फिर तुम सृष्टि कर्त्ता ईश्वर क्यों नहीं मानते ?

उत्तरपक्ष—हे ब्रह्मोपादानवादी ! तुम अपने कहने को कभी सोच विचार कर भी कहते हो वा नहीं ? इस तुमारे कहने से तो पूरा नास्तिकपना तुमारे मन में सिद्ध होता है। यथा—जब सब जगत् परमात्मा रूप ही है तब तो न कोई पापी है, न धर्मी है, न कोई शानी है, न कोई अशानी है, न तो नरक है, न स्वर्ग है, साधु भी नहीं और जोर भी नहीं, नत् शस्त्र भी नहीं अरु मिथ्या शस्त्र भी नहीं। तथा जैसा गोमालभन्दी, तैसा ही अश्वभन्दी है, जैसा स्वमार्या से काम भोग सेवन किया तैसा ही माता, बहिन, बेटा से किया, जोवित है और जिन में लान होने है वह ब्रह्म है, उसी का जानना चाहिये।

* समग्र पाठ इस प्रकार है —

य सर्वत्र स सर्वत्र च यस्य ज्ञानमथ तप इत्यादिशास्त्रप्रसिद्ध
परमात्मा जगदुपादानकारणम् । [पृ० १४]

जैसा चाण्डाल, तैसा ब्राह्मण, जैसा गधा, तैसा सन्यासी । क्योंकि जब सर्व वस्तु का कारण—उपादान ईश्वर परमात्मा हो ठहरा, तब तो सर्व जगत् एकरस-एक स्वरूप है; दूसरा तो कोई है नहीं ।

पूर्वपक्ष — हम एक ब्रह्म मानते हैं, अरु एक माया मानते हैं, सो तुम ने जो ऊपर बहुत से आल जंजाल लिये हैं, सो तो सर्व मायाजन्य है अरु ब्रह्म तो सच्चिदानन्द शुद्ध स्वरूप एक ही है ।

उत्तरपक्ष — हे अद्वैतवादी ! यह जो तुमने पक्ष माना है सो बहुत असमीचीन है । यथा—माया जो है तिस का ब्रह्म से भेद है, वा अभेद है ? जे कर भेद है तो जड है, वा चेतन है ? जे कर जड है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? जेकर कहोगे कि नित्य है, तो यह मान्यता अद्वैत मत के मूल को ही दाह करती है, क्योंकि जब ब्रह्म से भेद रूप हुई, अरु जड रूप भई, अरु नित्य हुई, फिर तो तुमने अद्वैत पथ मत आप ही अपने कहने से सिद्ध कर लिया । अरु अद्वैत पथ जड मूल से कट गया । जे कर कहोगे कि अनित्य है, तो द्वैतता कभी दूर नहीं होगी । क्योंकि जो नाश होने वाला है, सो कार्य रूप है, अरु जो कार्य है सो कारण जन्य है । तो फिर उस माया का उपादान कारण कौन है ? सो कहना चाहिये । जेकर कहोगे कि अरु माया, तब तो अनवस्था दूषण है, अरु अद्वैत तीनों कालों में कदापि सिद्ध नहीं

होगा। जेकर ब्रह्म ही को उपादान कारण मानोगे, तब तो ब्रह्म ही आप सब कुछ बन गया, तब फिर पूर्वोक्त ही द्रूपण आया। जेकर माया को चेतन मानोगे, तो भी यही पूर्वोक्त द्रूपण होगा। जेकर कहोगे कि माया का ब्रह्म से अभेद है तब तो ब्रह्म ही कहना चाहिये, माया नहीं कहनी चाहिये।

पूर्वपक्ष — हम तो माया को अनिर्वचनीय मानते हैं।

उत्तरपक्ष — इस अनिर्वचनीय पक्ष को ऊपर जैसे खण्डन कर आये हैं तैसे इहा भी जान लेना। तथा अनिर्वचनीय जो शब्द है तिस में निस जो उपसर्ग है, तिसका अर्थ तो निषेध रूप किया है (कलापक व्याकरण में)। शेष जो शब्द है, सो या तो भाव का वाचक है या अभाव का वाचक है। जब भाव को निषेध करोगे, तब तो अभाव आ जायेगा, अरु जेकर अभाव को निषेधोगे, तब भाव आ जायेगा। ए भावाभाव दोनों को वर्ज के तीसरा वस्तु का रूप ही कोई नहीं है। इस वास्ते अनिर्वचनीय जो शब्द है, सो दमी पुरुषों द्वारा छलरूप रचा हुआ प्रतीत होता है। तथापि इस उक्त कथन से ही द्वैत सिद्ध होता है अद्वैत नहीं।

पूर्वपक्ष — यह जो अद्वैत मत है, इस के मुख्य आचार्य शंकर स्वामी हैं जिन्होंने सर्वमतों को खण्डन करके अद्वैत मत सिद्ध किया है। शंकर स्वामी साक्षात् शिव का अवतार, सवज्ञ, ब्रह्मज्ञानी, शीलवान्, और सर्वसामर्थ्ययुक्त थे फिर उन्हीं के अद्वैत मत को खण्डन करने वाला कौन है ?

उत्तरपक्ष — हे बल्लभ मित्र ! तुमारी समझ मूजब नो जरूर जँमे तुम कहते हो, तैसे ही है, परन्तु शकर स्वामी के शिष्य आनन्दगिरि ने शकरदिग्विजय के अठारनवें प्रकरण में जो शकर स्वामी का वृत्तांत लिखा है, उसके पढ़ने में नो ऐसा प्रतीत होना है, कि शकरस्वामी सर्वज्ञ नहीं थे प्रत्युत कामी, अज्ञानी अरु असमर्थ थे तथा तिस में ऐसा भी प्रतीत होता है कि वेदातियों का अद्वैतब्रह्मज्ञान जब ताई यह स्थूल देह रहेगी, तब ताई रहेगा, परन्तु इस शरीर के छूटने पीछे किसी वेदाती को ब्रह्मज्ञान नहीं रहेगा ।

पूर्वपक्ष — वो कौनसा शकरस्वामी का वृत्तांत है जिस से तुमारी पूर्वाक्त बातें सिद्ध होती हैं ?

उत्तरपक्ष — जो तुमको वृत्तांत सुनना है, तो हमारे क्या *डील है । हम इसी जगें लिख देते हैं—
श्री शंकराचार्य और जब शकरस्वामी ने मडनमिश्र को जीता,
सरसवाणी तब मडनमिश्र ने यतिव्रत ले लिया, अरु
मडनमिश्र की भार्या जिसका नाम “सरसवाणी” था, सो सरसवाणी अपने पति को यतिव्रत लिया देख कर आप ब्रह्मलोक को चली । सरसवाणी को जाती देखकर शकरस्वामी ने धनदुर्गामित्र के द्वारा दिग्गधन किया । तिसके पीछे शकरस्वामीने—हे सरसवाणि ! तू ब्रह्म शक्ति है, ब्रह्म के अराभूत मडनमिश्रकी नू भार्या है, उपाधि करके सर्वको फलित है,

तिस कारण से भर साथ *प्रसंग कर के तुमको जाना योग्य है—ऐसे कहा । तब सरसबाणी ने शंकरस्वामी के प्रति कहा कि पति के संन्यासग्रहण से प्रथम ही वैधव्य क भय से मैंने पृथिवीको त्यागा है, तिस कारण से फिर मैं पृथिवी का स्पर्श न करूंगी । हे यति ! तुम तो पृथिवी में स्थित हो । तब तुम्हारे साथ प्रसंग करन के वास्ते एक विषय—स्थानर्म कैसे स्थिति होये ? तिसपर शंकरस्वामी कहते भये कि—हे माता ! तो भी भूमि के ऊपर ६ हाथ प्रमाण ऊंची आकाश में तुम रहो और मेरे साथ सर्व वचनप्रपंच का संचार करके, पीछे से जाना । शंकरस्वामी के इस प्रकार कहने से आकाश प्रदेश में ठहरी हुई सरसबाणी ने आदर युक्त होकर शंकरस्वामी के साथ सर्व शास्त्रों—वेद पुराण, इतिहास आदि के विषे समय प्रसंग करके, पीछे शंकरस्वामीको पराजित करनेके वास्ते जिस में दुःख से प्रवेश हो, ऐसा जो कामशास्त्र, तिस विषे नायिका अथ नायक—इन के भेदविस्तार को शंकर स्वामी से पूछा । तब तो शंकरस्वामी इस विषय को जानते नहीं थे, तातें उत्तर न दे सके, किन्तु मौन चुप हो गये । तिस पीछे सरसबाणी ने शंकरस्वामी से कहा कि तुम्हारे जानने में यह शास्त्र नहीं आया, तिस शास्त्र को मैंही जानती हूँ । यह सुन, काल—समय के जानकार शंकरस्वामी

सरसगङ्गा की प्रति कहने लगे कि *हे माता ! तुम ६ महीने तक इहा ही रहो, पीछे मैं सर्व रहस्यमय अर्थों का निश्चय करके तेरे पूछे का उत्तर कहूँगा । ऐसे कह कर आग्रह पूर्वक सरसगङ्गा को तहा ही आकाशमंडल में स्थापन करके सर्व शिष्यों को यथास्थान भेज कर उन में मे हस्ता-मलक, पद्मगाद, विविचित और आनन्दगिरि, इन चार प्रधान शिष्यों को साथ लेकर, तिस नगर से पश्चिमदिशा की ओर अमृतपुर नाम के नगर में पहुँचे । उस नगर का राजा मर गया था, उस का शरीर तिस अगसर में चिता में जलाने के वास्ते रक्खा था । उस शरीर को देख कर शंकर स्वामी ने अपना शरीर उस नगर के प्रात में एक पर्वत की गुफा में स्थापन कर दिया, और शिष्यों को कह दिया कि तुमने इस शरीर की रक्षा करनी । और आप परकायप्रवेश-विद्या करके, † लिंगशरीर संयुक्त अभिमान सहित उस

* मातस्त्वन्ध दध्माम तिष्ठ पद्मात्कथामु च ।

सति † सर्वं त्रिभेदासु करोम्यर्थविनिर्णयम् ॥

[श० वि०, प्र० ७८]

† स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर है जिस की सबत्र अव्यारत गति है; अर्थात् उसके प्रवेश का वहाँ पर भी रुकावट नहीं है और वह मोक्ष पर्यंत आत्मा के साथ रहता है । पंच धानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार इन—अनाह तत्त्वा मे यह निमित्त है । जैन सिद्धांत में इस के स्थापन कारण शरीर है ।

राजा के शरीर में प्रहरध के छारा प्रवेश कर गये । तब तो राजा जी उठा और घड़ा पर आये हुए नगर निवासियों को बड़ा आनन्द और आश्चर्य हुआ, तथा राजा के शरीर को पीनादिक उपचार से स्वस्थ कर के बड़े उत्सव में नगर में ले आये और राजा मरा नहीं था—यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध कर दी । तब लोगों ने फिर से बड़े आडम्बर पूर्वक राजा-शकरस्वामी को राजसिंहासन पर थिठलाया । पश्चात् राजसिंहासन से उठकर राजा—शकरस्वामी प्रथम बड़ी राणी के घर में गये । तहा जाकर उस राणी से काम धीडा करने लगे * तब तो शकरस्वामी की कुशलता से तिस के आलिंगन करने से उत्पन्न हुआ जो सुख समोग ता करिके शकरस्वामी ने उस राणी के मुख क साथ तो अपना मुख जोड़ा, और अपनी छाती उस राणी के दोनों कुचों—स्तनों के ऊपर रखी । तैमे ही उस राणी की नाभि मे अपनी नाभि जोड़ी और

* तदालिङ्गनसञ्जातमुग्गभुग्ग्यतिकीशलात् ।

मुख मुगेन सयोय वचो वभोजयोस्तया ॥

नाभ्या नाभिञ्च भक्तोय्य सक्तोय पदा पटम् ।

एवमेकाहवत् क्त्वा गालालिङ्गनतत्पर ॥

कथास्थानपु हस्ताभ्या स्पृशन् प्रौढ इवावभौ ।

सदात्मापविशेयसा ज्येष्पभी कथादिवित् ॥

देहमान हि भर्तुं स्यात् न नीवोडय हि सववित् ।

अपने पगों करके राणी के पग सकोचे एतापता जघों में जघा फसाइ अर्थात् एक शरीरवत् हो गये । दोनों जने बहुत गाढ आलिगन करने में तत्पर हुये । और राणीके कच्चा स्थानो जिसे हाथों करी स्पर्श करते हुये शङ्करस्वामी बहुत सुख में मग्न हुये । तब राणी, उनकी आलाप चतुराई को देख कर चित्त में विचार करने लगी, कि देह मात्र मे तो यह मेरा भर्ता है, परन्तु इस का जीव मेरा भर्ता नहीं, व तो कोई सर्वज्ञ है । ऐसा विचार करके राणी ने अपने नौकरों को चारों दिशा में भेजा, अरु कह दिया कि जो पर्वतों में वा गुफाओं में चारह योजनों के बीच में जितने शरीर जीव रहित होव सो सब शरीर चिता में रख कर जला देओ । शङ्करस्वामी तो विषय में अत्यन्त मूर्च्छित हो गये । अर्थात् अपने पूर्व चरित्र का उन्हें कोई पता नहीं रहा । तब राणी के नौकरों ने चार दिश्यों के द्वारा सुरक्षित देग कर शङ्करस्वामी के शरीर को उठाकर चिता में रख दिया और उस को दाह करने लगे । तब शङ्करस्वामी के चारों दिश्य, उस नगर में गये, जहा कि शङ्करस्वामी थे । वहा शङ्करस्वामी को काम लोलुपी देग कर शङ्कर राजा के आगे नाटक करने लगे एतापता शङ्करस्वामी को परोक्तियों करके प्रतिरोध करने लगे । सो लिखते हैं —

१. *यत्सत्यमुरयशब्दार्थानुकूल, तत्त्वमसि २ राजन् !

* १—जो सत्य और मुग्य शब्दार्थ वृत्ति के अनुकूल हैं, हे राजन् !

बह वृ ह, २ ।

- २ नह्येतच्च विदितं नृपु भाव, तत्त्वमसि २ राजन् !
 ३ विश्वोत्पत्त्यादिप्रिधिहेतुभूत, तत्त्वमसि २ राजन् !
 ४ सर्वं चिदात्मक सर्वमद्वैत, तत्त्वमसि २ राजन् !
 ५ परतार्किकैरीश्वरसर्वहेतु—स्तत्त्वमसि २ राजन् !
 ६ यद्देदातादिभिर्व्रह्म सर्वस्थ, तत्त्वमसि २ राजन् !
 ७ यज्जैमिनिनोक्तमखिलकर्म, तत्त्वमसि २ राजन् !
 ८ यत्पाणिनि प्राह शब्दस्वरूप, तत्त्वमसि २ राजन् !
 ९ यत् साख्यानाना मतहेतुभूत, तत्त्वमसि २ राजन् !
 १० अष्टांगयोगेन अनतरूप, तत्त्वमसि २ राजन् !
 ११. सत्य ज्ञानमनत ब्रह्म, तत्त्वमसि २ राजन् !
 १२ नह्येतद् दृश्यप्रपञ्च, तत्त्वमसि २ राजन् !
 १३ यद् ब्रह्मणो ब्रह्मचिष्णोश्चरा एभ्यन्, तत्त्वमसि २
 राजन् !

२—जो भाव मनुष्यों में विदित नहीं वह तू है, २ ।

३—विश्व की उत्पत्ति आदि का हेतुभूत जो तत्त्व है, वह तू है, २ ।

४—जैन-यस्वरूप आर अद्वैतस्वरूप जो तत्त्व है, वह तू है, २ ।

५—अप्य तार्किकों के द्वारा कल्पित सब का हेतु जो ईश्वर, हे राजन् !
 वह तू है, २ ।

६—वदात प्रतिपाद्य, सब में रहने वाला जो ब्रह्म, हे राजन् !
 वह तू है २ ।

१४. तद्रूपमेवमस्माभिर्विदित राजन् ! तव पूर्णय-
त्याश्रमस्थम् ॥ [श० वि०, प्र० ५६]

इन परोक्तियों करके राजा को प्रतिबोध हुआ। तब सब के समुप शकर स्वामी का जीव तिस राजा की देह से निकल कर जब उस पर्वत की कदरा में पहुँचा तब उसने अपने शरीर को घटा न देख कर चिन्ता में देखा। अरु देखते ही कपाल मध्य में से होकर उसमें प्रवेश किया, परन्तु शरीर के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, इसमें निकलना दुष्कर होगया। फिर वहाँ पर शङ्कर स्वामी ने लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करी। तब लक्ष्मी नृसिंह ने शङ्कर स्वामी को जीता अग्नि में से बाहिर निकाला। इत्यादि।

७—जैमिनि ऋषि ने जिस समस्त कर्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है,

हे राजन् ! वह तू है, २।

८—वाणिनि ऋषि ने जिस शब्दस्वरूप तत्त्व का कथन किया है,

वह तू है, २।

९—जो सार्यों का अभिमत तत्त्व है, वह तू है, २।

१०—अष्टाङ्गयोग के द्वारा जानने योग्य अनन्तस्वरूप जो तत्त्व है,

वह तू है, २।

११—हे राजन् ! सत्यज्ञान और अनन्तस्वरूप जो ब्रह्म है, वह तू है, २।

१२—इस हृदय प्रपञ्च से भिन्न जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१३—ब्रह्म का ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१४—हे राजन् ! आप के पूर्वाश्रम क स्वरूप को हमने जान लिया है।

हे भव्य ! तू अब स्वयं विचार कर देव कि जो वार्त्ता मैंने पूव में तुम्हको कही थी सो सत्र सत्य है या नहीं ? १ जत्र सरसवाणी के प्रश्न का उत्तर नहीं आया, तब तो शङ्कर स्वामी को सवज्ञ, कौन निष्पत्ती बुद्धिमान् मान सकता है ? कोई भी नहीं मानेगा । २ जब राजा की राणी से विषय सेवन करा, तब तो उनके कामी होने में कोई शक्ता भी नहीं रहती है । ३ जब शिष्यों ने आकर प्रतिबोध करा, तब उन को पता लगा, तब तो अज्ञानी अग्रय हो चुके । ४ जब चिता में से न निकल सके, तब लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करी और नृसिंह ने आय करके जलती अग्नि में से उन को निकाला, इस से तो शङ्कर स्वामी अवश्य असमथ सिद्ध हो गये । ५ तथा जब शङ्कर स्वामी ने फिर आकर सरसवाणी के प्रश्नों का उत्तर दिया तब सरसवाणी ने कहा—हे स्वामी ! तू * सर्वज्ञ है । क्या मृतक के शरीर में प्रवेश करके उस की राणी के साथ विषय सेवन करके और राणी के पास से कछुक काम शास्त्र की धातें सीख कर प्रश्नों का उत्तर देने का सा सर्वज्ञ हो सकता है ? सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता, परंतु इस से गचे खुरकनी तो अवश्य हो गई । सरसवाणी को उसने—शङ्कर ने सर्वज्ञ कह दिया, अरु शङ्कर को सरसवाणी ने सवज्ञ कह दिया । चाह क्या ही सवज्ञों की जोड़ी मिली

* सर्वज्ञा सरसवाणी, सर्वज्ञस्त्वमिति स्वामिन प्रस्तुतव्यासीत् ।

है । सरसवाणी तो ब्रह्म की शक्ति हो कर फिर ग्री धन कर मडनमिश्र से विषय सेवन करती रही अरु सर्वज्ञ भी बन बैठी । अरु शकर स्वामी परस्त्री से विषय सेवन करके उस से कलुक काम शास्त्र सींग कर सर्वज्ञ बन बैठे, क्या यह गधे गुरकनी न हुई तो और क्या हुआ ? तथा उक्त वृत्तान्त से यह भी मालूम पड़ता है कि जब शङ्कर स्वामी, अपना स्थूल शरीर छोड़ कर राजा के शरीर में गये, तब सब ब्रह्मविद्या भूल गये । जेकर न भूले होते तो उन के विषय काहे को "नरप्रमसि" का उपदेश करते ? और भी सुनिये । जब शकर स्वामी स्थूल शरीर के बदल जाने पर ब्रह्मविद्या को भूल गये, तब तो ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध न तो लिंग शरीर के साथ रहा, न आत्मा के साथ, किन्तु स्थूल शरीर ही के साथ सम्बन्ध रहा । इससे यह सिद्ध हुआ कि जब वेदाती मर जाते हैं, तब उन का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि उक्त कथनानुसार ज्ञान का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर ही के साथ रहा आत्मा के साथ नहीं । अरु जो तुमने कहा था कि शकरस्वामी के कथन किये अद्वैत मत को कौन टाटन कर सकता है ? सो हे मया ! जब शकर स्वामी का चरित्र ही असमजस है, तो फिर उन के कहे हुए मत को किस प्रकार युक्तियुक्त समझा जा सकता है ?

पूर्वपक्ष — "पुरुष एवेद" इत्यादि श्रुतियों से अद्वैत ही सिद्ध होता है ।

उत्तरपक्ष — यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जो पुरुष मात्र रूप अद्वैततत्त्व होवे तब तो यह जो दिखलाई देता है— कोई सुखी कोई दुःखी, ए सब परमार्थ में असत् हो जावेंगे। जब ऐसे होगा तब तो— 'प्रमाणतोऽधिगम्य ससारनैर्गुण्य तद्धि मुक्त्वा प्रहया तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरित्यादि — ससार का निगुण्यपना प्रमाण में जान कर उस से विमुक्त बुद्धि हो करके, तिस ससार के उच्छेद के ताई प्रवृत्ति करे यह जो कहना है, सो आकाश के फल की सुगन्धि का घणन करन सरीखा हो जायेगा। जब कि अद्वैत रूप ही तत्त्व है, तब नरकादि भयभ्रमण रूप ससार कहा रहा ? जिस को कि निगुण्य जान कर उच्छेद करने की प्रवृत्ति का उपदेश है।

पूर्वपक्ष — तत्त्वतः पुरुष अद्वैत मात्र ही है। अरु यह ससार जा सदा सर्व जीवों को प्रतिभासित हो रहा है सो चित्राम की स्त्री के अङ्गोपाग जैसे ऊचे नीचे प्रतीत होत हैं, तैमे प्रतीत होना है। अथात् सब चित्राम की स्त्री के अङ्गोपागों की ऊचनीचता की तरे भ्रातिरूप है वा भ्रातिजय है।

उत्तरपक्ष — यह जो तुमारा कहना है सो असत् है, इस बात में कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है। जेकर अद्वैत सिद्ध करने क वास्ते कोई पृथग्भूत प्रमाण मानोगे, तब तो द्वैतापत्ति होगी, क्योंकि प्रमाण के बिना किसी का भी मत नहीं सिद्ध होता। जेकर प्रमाण के बिना ही सिद्ध मानोगे तब तो सब घादी अपने अपने अभिमत को सिद्ध कर लेवेंगे।

तथा भ्राति भी प्रमाणाभूत अद्वैत मंत्रिण ही माननी चाहिये, अन्यथा प्रमाणा भूत अद्वैत अप्रमाणा ही हो जायेगा। क्योंकि भ्राति जय अद्वैत रूप हुई तब तो पुरुष का ही रूप हुई, फिर तो पुरुष भी भ्रान्तिवाला ही सिद्ध होगा। तब तो तत्त्व व्यग्रम्या कुछ भी सिद्ध न होगी। जेकर भ्राति को मित्र मानोगे, तब तो द्वैतापत्ति होयेगी, इस से अद्वैत मत की हानि हो जायेगी। जेकर स्वप्न का कुम्भादिकों से भेद मानना-इसी को भ्राति कहोगे, तब तो निश्चय कर के सत्स्वरूप कुम्भादिक किमी जगे तो जरूर होंगे। क्योंकि अभ्राति के बिना कदापि भ्राति देखने में नहीं आनी, जैसे पूर्ण में जिस ने सचा सर्प नहीं देखा, तिस को रज्जु में सर्प की भ्राति कदापि नहीं होती। यथा—

नाटपृथ्वसर्पस्य, रज्ज्या सर्पमति* क्वचित् ।

ततः पूर्वानुसारित्वाद्भ्रातिरभ्रातिपूर्विका ॥

इस कहने से भी अद्वैततत्त्व का खडन होगया। तथा अद्वैत रूप तत्त्व अग्रय करके दूसरे पुरुष को निन्दन करना होगा, अपने आप को नहीं। अपने में तो व्यामोह है नहीं। जे कर कहने घाले में व्यामोह होये तब तो अद्वैत की प्रतिपत्ति कमी भी नहीं होयेगी।

पूर्वपक्ष — जय आत्मा को व्यामोह है, तब ही तो अद्वैत तत्त्व का उपदेश किया जाना है।

उत्तरपक्ष — जय आत्मा का ध्यामोह दूर होगा तब तो आत्मा अवश्य अवस्थान्तर को प्राप्त होगा जय अवस्था बदलेगी तब तो अवश्य द्वैतापत्ति हो जायेगी । तथा जय अद्वैत तत्त्व का उपदेशक पुरुष पर को उपदेश करेगा । तब तो पर को अवश्य मानेगा । फिर भी अद्वैत तत्त्व का पर को नियेदन करना अथ अद्वैत तत्त्व मानना, यह तो ऐसे दुष्प्रकार कि, जैसे कोई यह कहे कि मेरा पिता कुमार ब्रह्मचारी है । सात्पय यह कि जेकर अपने को अथ पर को माना जाये, तब तो द्वैतापत्ति अवश्य होगी । इस कारण से जो अद्वैतवाद का मानना है, सो सब प्रकार से युक्ति-विकल है ।

* पूर्वपक्ष — परमब्रह्म रूप का सिद्ध होना ही सकल

* इस पूर्व पक्ष का अनिप्राय यह है, कि वदान सिद्धान्त में एक अद्वितीय तन्म ही वास्तविक सत् पदार्थ माना गया है । उसके अतिरिक्त विश्व में किसी भी पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता नही । दूसरे शब्दों में कहें तो यह सारा ही विश्व-प्रपञ्च उमी में अध्वस्त है या उमी का विवर्त (पर्याय) है । वास्तव में तो अद्वैत तन्म ही परमार्थ सत् और प्रमाण का विषय है । अतः चित्तना भी भेदज्ञान है वह आत्मस्वरूप अथ च कथित है । वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी माना है । अथान् केवल सत्ता मात्र को ग्रहण करने काल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से तन्म के आस्तित्व को प्रमाणित किया है । परन्तु यह प्रत्यक्ष सम्बन्धो विचार युक्तिविपूर होन से जैनों को उपादेय नहीं है । इस लिये अनुमान के द्वारा अद्वैत तन्म की सिद्धि का प्रयत्न किया गया है ।

भेदज्ञान प्रत्ययों के निरालयन पने की सिद्धि है ।

उत्तरपक्ष —ए कथन भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि परम ब्रह्म ही प्रथम सिद्ध नहीं है । जेकर कहो कि वो स्वत सिद्ध है, तो यह कथन भी प्रामाणिक नहीं है क्योंकि जो स्वत सिद्ध-प्रत्यक्ष से सिद्ध होये तो फिर उस के विषे किसी का विवाद ही न रहे । इस से वो स्वत सिद्ध तो है नहीं । तथा जेकर उस को परत सिद्ध मानो तो उसकी परत सिद्धि, क्या अनुमान से है, वा आगम से है ?

पूर्वपक्ष —उस की सिद्धि अनुमान और आगम दोनों से हो सकती है । उस में से अनुमान यह है —विवादरूप जो पदार्थ है सो प्रतिभासात प्रविष्ट-ब्रह्मभास के अन्तर है, प्रतिभासमान होने से, जो जो प्रतिभासमान है, सो सो *प्रतिभासात प्रविष्ट ही देखा है, जैसे प्रतिभास का स्वरूप प्रतिभासमान है । विवाद रूप समस्त सचेतन, अचेतन घट पटादि पदार्थ प्रतिभासमान हैं, तिस कारण से प्रतिभासान्त प्रविष्ट हैं, इस अनुमान से अद्वैतरूप परमब्रह्म की सिद्धि हो जाती है ।

* प्रविभाम के अन्तर्गत । प्रतिभास-प्रकाशस्वरूप ब्रह्म ।

‡ आमारादादये पदार्था प्रतिभासात प्रविष्टा, प्रतिभासमानवान्,
य प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्त प्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम् ।

प्रतिभासते च आमारादादय पदाथा, तस्मात् प्रतिभासान्त प्रविष्टा ।

परम ब्रह्म है, यह अनुमान से कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? इस कहने करके जो उपनिषद् में एक ब्रह्मके कहने वाली "सर्वे वै खत्विद् ब्रह्म" इस श्रुति का निराकरण होगया । क्योंकि इस श्रुतिवचन को परमात्मा से भिन्न पदार्थ मानने से द्वैतापत्ति हो जायेगी । जेकर कहोगे कि अनादि अविग्रामे ऐसा प्रतीत होता है तब तो पूर्वोक्त दूषणोंका प्रसंग होगा । तिस धास्ते अद्वैत की सिद्धि व्याके पुत्र की शोभायत् है । इस कारण से अद्वैतमत युक्तिविफल है । तब जगत् से प्रथम एकही ईश्वर था उसी ने यह जगत् रचा है, ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध हुआ । यह ईश्वर सम्बन्धी प्रथम पक्ष समाप्त हुआ ।

अब ईश्वर सम्बन्धी दूसरे पक्ष का विचार किया

जाता है । इस पक्ष में एक ईश्वर अथ दूसरा

सापथ इश्वर सामग्री, ए दो पदार्थ अनादि हैं । तिन

कर्तृव का दोनों में से १ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि,

खण्डन ४ वायु, इन चारों के परमाणु ५ आकाश,

६ काल, ७ दिशा, ८ आत्मा, ९ मन, १० नय

यस्तु सामग्री है तथा ये नित्य और अनादि हैं—किसीके बनाए

हुए नहीं । सो ईश्वर इस पूर्वोक्त सामग्री से सृष्टि को रचता

है । अब इस मत के सिद्धांत का कुछ विस्तार से निरूपण

करके उसकी परीक्षा करते हैं ।

* कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः,
 स सर्गः स स्वयगः स नित्यः ।
 इमा कुहेवाकविडवनाः स्यु-
 स्तेपा न येपामनुगासकस्त्वम् ॥

[अन्य० य०, श्लो० ६]

यह जो जगत् है, सो प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके लक्ष्य-
 माण—दिखाई देता है, इस चराचर रूप जगत् का कोई
 एक, जिस का म्यरूप कह नहीं सकते ऐसा पुरुषप्रियेप
 रचने वाला है । ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानने वाले
 घादी ऐसे अनुमान करते हैं—पृथिवी,
 ईश्वर साधक पर्यंत, वृक्षादिक सर्व बुद्धि वाले कर्त्ता के करे
 अनुमान हुए हैं, कार्य होने से, जो जो कार्य है, सो सो
 सर्व बुद्धि वाले का करा हुआ है, जैसे घट,
 तैसे ही यह जगत् है, तिस कारण से यह जगत् बुद्धि वाले
 का रचा हुआ है । जो बुद्धिवाला है; सोही भगवान् ईश्वर है ।
 यहा ऐसा मत कहना, कि यह तुमारा कार्यत्व हेतु असिद्ध
 है [अर्थात् पृथ्वी पर्यंतादिक में कायत्व सिद्ध नहीं है] ।
 पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिक अपने अपने कारण समूह करके
 उत्पन्न होते हैं, इस वास्ते कार्य रूप हैं । तथा अवयवी हैं,

* हे नाथ ! जिन के आप शानक नहीं है, उन की दुराग्रह से
 परिपूर्ण यह कर रनाए है कि जगत् का कोई कर्त्ता है और वह एक, सर्वव्यापी,
 सत्त्वं तथा नित्य है ।

इस करके काय रूप हैं। यह सर्व प्रादियों को सम्मत है। तथा ऐस भी न कहना कि यह तुमारा हेतु अनैकालिक तथा विरुद्ध है। *क्योंकि हमारा हेतु प्रियत्न से अत्यन्त हटा हुआ है। तथा ऐस भी मत कइना कि यह तुमारा हेतु कानात्थयापदिष्ट है क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान और आगम करके अघाहित धर्म धर्मा के अनन्तर कहन से [तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से अघाहित धर्म और धर्मा क सिद्ध हो जाने पर हा इन् का कथन किया है। इस लिये यह कार्यत्न हेतु प्राधित नहीं है]। तथा यह भी मत कहना कि तुमारा हेतु प्रकरण सम है, क्योंकि अनुमान से जो साध्य है, तिस क

* क्योंकि जो हेतु पक्ष से छोड़ कर प्रियत्न में भी चला जाने, वह अनैकालिक अथवा व्यभिचारी होता है। परन्तु यहां पर तो कार्यत्न हेतु अपने पशभूत पृथिवी आदि को टाड़ कर विपशभूत आकाशादि में नहा जाता, इस लिये अनैकालिक नहीं है। तथा विरुद्ध भी नहा क्योंकि जो हेतु अपने साध्य के विरोधी का नियम सहचारी हो उस विरुद्ध हेतु कहते हैं, जैसे शब्द निम्न है, कार्य होने में। इस अनुमान में नियम के विरोधी अनित्य के साथ कायत्व हेतु का नियम से सम्बंध है, इन लिये कार्यत्व हेतु विरुद्ध है। परन्तु हमारा यह कार्यत्व हेतु तो अपने साध्य पुद्बिमाकनृकत्व के साथ ही नियम रूप से रहता है। उस के विरोधी के साथ उस का कोई सम्बंध नहीं है, इस लिये यह हेतु विरुद्ध नहीं है।

1 इन् कथन का अभिप्राय यह है कि—जिस अनुमान में साध्य के अभाव का साध्यक कोई द्रव्य प्रतिपत्ती हेतु विद्यमान हो उसे प्रकरण

यत्तु भूत दूमरे साध्य को साधने वाले अनुमान के अभाव में ।
 तथा जेकर कहो कि ईश्वर, पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिकों का
 कर्ता नहीं है, अगरीरी होने में, मुक्त आत्मा की तरे । यह
 तुमारे अनुमान का घेरी अनुमान है, जो कि ईश्वर को जगत्
 का कर्ता सिद्ध नहीं होने देता । सो यह तुमारा कथन भी
 ठीक नहीं है, क्योंकि तुम ने तो ईश्वर को शरीर रहित सिद्ध
 करके जगत् का अकर्ता सिद्ध किया, परन्तु हमने तो ईश्वर
 शरीर वाला माना है इस कारण से, तुमारा अनुमान *अस्य
 सम या सप्रतिषेध कहते हैं । जैसे, "हृदो बह्मिमान् भूमान्",—एदो
 बह्मभाववान् जलान्"—तान्नाय अग्नि वाला है क्योंकि भूम वाला है ।
 तान्नाय अग्नि वाला नहीं क्योंकि जल वाला है । यथा पर भूम का जल प्रति
 पत्नी है । परन्तु प्रकृत में साध्य के अभाव—अकृत्य को सिद्ध करन
 वाले कार्यत्व हेतु का विरोधा कोई दूसरा हेतु नहीं है इस लिये यह कार्य-
 त्व हेतु प्रकरणमम भी नहा है ।

* इस का तापय यह है कि—शरीर रहित होने में इश्वर, जगत्
 का रक्षिता नहा हो सकना, मुक्त आत्मा की तरफ । इस विरोधा अनुमान
 के द्वारा कायत्र हेतु का बाध हान में यह प्रकरणमम हेतुभाषसे दृष्टित हा
 जाता है, यह वादीकी शका है । परन्तु यह शका युक्तियुक्त नहा है क्योंकि
 ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं हो सकता—इय-वास्य में धर्मों-पक्ष रूप से
 प्रदृष्ट किये गए इश्वर को हम अगरीरी-शरीर रहित नहा मानते, 'अन
 वादी का दिया हुआ 'शरीर रहित' हेतु पत्र में न रहने से स्वरूपसिद्ध है ।
 और हमारा कायत्र हेतु अनेकत, विरोध और अमिद्वि प्रभृति लोको में
 अलिप्त अथान् निर्दाप है ।

है। अरु हमारा जो हेतु है, सो निरवय है।

तथा ईश्वर जो है सो एक-अद्वितीय है, क्योंकि जो बहुत से ईश्वर मान, तब तो कार्य करने में ईश्वरों की 'यारी-यारी' बुद्धि होगी। और काय भी इनका न्यारा २ होगा, क्योंकि इनको मने करने वाला तो और कोई नहीं है। फिर एक रूप कार्य कैसे उत्पन्न होगा ? कोई ईश्वर ता अपनी इच्छा से चार पग वाला मनुष्य रच देवेगा, अरु दूसरा ईश्वर छ पग वाला रच देवेगा, तथा तीसरा दो पग वाला अरु चौथा आठ पग वाला रच देवेगा। इसी तरे सब वस्तु को मिलक्षण मिलक्षण रच देवेंगे, तब तो सब जगत् *असमजस रूप हो जायेगा। परन्तु सो है नहीं। इस हेतु से ईश्वर एक ही होना चाहिये। तथा धो ईश्वर सत्रगत-सब यापी है। जेकर ईश्वर सर्व व्यापक न होये तब ता तीन भुवन में एक साथ जो उत्पन्न होने वाले काय हैं, वो सब एक काल में कभी उत्पन्न न होंगे। जैसे, कुम्भारादिक जहा पर होवेंगे, तहा पर ही कुम्भादि को जना सकेंगे अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार ईश्वर भी यदि सब व्यापी न माना जाये तो वो भी किसी एक प्रणय में ही काय कर सकेगा सबत्र कभी नहा। अत ईश्वर सब व्यापी होना चाहिये। अथवा वो ईश्वर †'सर्वगत'—सर्वज्ञ है।

* समानता और समबद्ध रचना का अभाव।

† अथवा सब गच्छति जानात्ताति सबगत — सर्वज्ञ "सर्वं गत्यथा जानाथा" इति वचनान् [स्या० म०, इति ६] अथान् जो सब बुद्धि पान उग सर्वत्र रहने हैं।

जेकर यह सर्वज्ञ न होवेगा तब तो सर्व कार्यों के उपादान कारण को कैसे जानेगा ? जब कार्यों के उपादान कारण को नहीं जानेगा, तब तो कारण के अनुरूप इस त्रिचित्र जगत् की रचना कैसे कर सकेगा ? तथा 'म्यग्र'—ईश्वर जो है, सो स्वतंत्र है, किसी दूसरे के अधीन नहीं। ईश्वर अपनी इच्छा से सर्व जीवों को सुख दुःख का फल देता है। यथा—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।

अज्ञो जतुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः ॥

अर्थ—ईश्वर ही की प्रेरणा से यह जगत्प्राप्ती जीव स्वर्ग तथा नरक में जाता है, क्योंकि ईश्वर के बिना यह अज्ञ जीव अपने आप सुख दुःख का फल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है। जेकर ईश्वर को भी परतंत्र—पराधीन मानिये, तब तो मुख्य कर्ता ईश्वर कभी नहीं रहेगा। * अपर को अपर के अधीन मानने से अनपस्था दूषण लगेगा। इस हेतु से ईश्वर अपने ही वश अर्थात् स्वतंत्र है, किन्तु पराधीन नहीं। तथा, 'नित्य'—सो ईश्वर नित्य है। जेकर ईश्वर अनित्य होवे तो तिम के उत्पन्न करने वाला भी कोई और चाहिये, सो तो है नहीं, इस हेतु से ईश्वर नित्य ही है। पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त ईश्वर इस जगत् का कर्ता है। इस

* एक इश्वर को दूसरे इश्वर के अधीन और दूसरे की तीवरे के अधीन मानने से।

पूवपक्षमें ईश्वर को कर्त्ता मानने वालों का मत विस्तार से दिया
दिया। अब उत्तर पक्ष में इस की परीक्षा की जाती है।

उत्तरपक्ष —ह धादी ! जो तुमारा यह कहना है कि पृथ्वी,
पवन और वृक्षादिक बुद्धि वाले कर्त्ता के
उक्त अनुमान रचे हुए हैं, सो अयुक्त है। क्योंकि इस तुमारे
का खण्डन अनुमान में व्यसि का ग्रहण नहीं होता।
*सबत्र प्रमाण करके व्यसि के सिद्ध होने पर
ही हेतु अपने साय का गमक होता है। इस कहने में सर्व
जादियों की सम्मति है।

प्रथम तुम यह कहो कि जिस ईश्वर ने इस जगत् को
रचा है, जो ईश्वर शरीर वाला है ? या शरीर से रहित है ?
जेकर कहोगे कि शरीर वाला है ना उस का हमारे सरीगा
दृश्य दिखलाइ देने वाला शरीर है, अथवा पिशाच आदिकों
की तरे अदृश्य—न दिखलाई नेत्र वाला शरीर है ? जेकर
प्रथम पक्ष मानोगे तत्र ता प्रत्यक्ष ही बाधक है। जिस ईश्वर

*—‘नाथन हि मात्र यामो प्रमाणेन सिद्धायां साध्य गगयेत्’
[स्या० म०, ग्लो० ६]

*,—हेतु और साध्य के साहचर्य नियम से अथवा उन के अवि
नाभाव—नियम सम्बन्ध की व्याप्ति कहते हैं। ‘जहा २ धूम है वहां २
अग्नि है’ यह उम का उदाहरणस्थल है। परंतु प्रकृत अनुमान में
कार्य हेतु की गशरीरकृत्त्व साध्य के साथ यह उक्त व्याप्ति नहा बन
सकती उमी धान का अब उल्लेख करते हैं।

के बिना ही अरु भी उत्पन्न होते हुए तृण, वृक्ष, इन्द्रधनुष, अरु बादल प्रमुख कार्य देखने में आते हैं। [अर्थात् इन उक्त तृण अकुरादि की उत्पत्ति में किसी दृश्य शरीर वाले ईश्वर का हाथ दिखाई नहीं देता] इस वास्ते 'जसे शब्दोऽनित्य प्रमेयत्वात्' इस में प्रमेयत्व हेतु साधारण अनैकालिक है, तमे ही यह कार्यत्व हेतु भी * साधारण अनैकालिक है।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे अर्थात् ईश्वर का शरीर तो है पर दिखाई नहीं देता। तब जो ईश्वर का शरीर दिखालाई नहीं देता, सो क्या ईश्वर के माहात्म्य करके दिखालाई नहीं देता ? अथवा हमारे घुरे अदृष्ट का प्रभाव है ? ण्ता-वता हमारे छोटे कर्म के प्रभाव से नहीं दिखालाई देता ? जेकर प्रथम पक्ष ग्रहण करो कि ईश्वर के माहात्म्य से ईश्वर का शरीर नहीं दीपता। तो इस पक्ष में कोई

* जो हेतु विपक्ष में भो पाया जावे अर्थात् जहा पर साध्य न रहता हो वहा भी रह जावे, यह हेतु साधारण अनैकालिक या व्यभिचारी कहलाता है। जैसे—शब्द अनित्य है, प्रमेय—ज्ञान का विषय होन से—दम अनुमान में प्रमेय होना रूप हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि यह विपक्षभूत आकाश आदि नित्य पदार्थों में भी रहता है। इसी प्रकार कायत्व हेतु भी व्यभिचारी है। क्योंकि यह हेतु उन पदार्थों तृण, अकुर आदि में भी रह जाता है जिन को ईश्वर के शरीर ने नहीं बनाया है। अतः इस हेतु से ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रमाण ही नहीं है जिस से ईश्वर का माहात्म्य सिद्ध होवे । अरु इस तुमारे कहने में इतरतराश्रय दूषण भी है यथा—जब माहात्म्यविशेष सिद्ध हो जाये तब अदृश्य शरीर वाला सिद्ध होवे, जब अदृश्य शरीर वाला सिद्ध होवे, तब माहात्म्यविशेष सिद्ध होवे । जेकर दूसरा पक्ष—पिशाचा दिकों की तरे अदृश्य शरीर ईश्वर का है एसे मानोगे तब तो सशय की ही निवृत्ति नहीं होगी । जैसे—क्या ईश्वर है नहीं, जिस करके उसका शरीर नहीं दीप्त पडता, बन्ध्या पुत्र के शरीर की तरे, किंवा हमारे पूर्व पापों के प्रभाव से ईश्वर का शरीर नहीं दीप्तता, यह सशय कभी दूर नहीं हावेगा । जेकर कहोगे कि हमारा ईश्वर शरीर रहित है, तब तो दृष्टांत अरु दार्शनिक यह दोनों विषम हो जावगे और हेतु विरुद्ध हो जावेगा । क्योंकि घटादिक कायों के कर्त्ता कुभारादिक तो शरीर वाले ही दीख पडते हैं । परन्तु ईश्वर को जब शरीर रहित मानोगे तब तो ईश्वर कुछ भी काय करने को समर्थ नहीं हावेगा, आकाश की तरें । अर्थात् जैसे शरीर रहित व्यापक और अक्रिय होने से आकाश कोई काय प्रयत्नविशेष नहीं कर सकता । उसी प्रकार शरीर रहित ईश्वर भी किसी काय के करने में समर्थ नहीं है । इस प्रकार शरीर सहित तथा शरीर रहित ईश्वर के साथ कायत्व हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती । तथा यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है क्योंकि साथ के

धर्मी का एक देश, वृक्ष, विजली, वादज, इन्द्रधनुषादिकों का भय भी कोई बुद्धिमान् कर्त्ता नहीं दीग्य पड़ता है, इस वास्ते प्रत्यक्ष करके वाधित होने के पीछे तुम ने अपना हेतु कहा है, इस वास्ते तुमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट है। अतः इस कायत्व हेतु से बुद्धिमान् ईश्वर जगत् का कर्त्ता कभी सिद्ध नहीं होता।

तथा दूसरी तरें जगत् कर्त्ता के खण्डन का स्वरूप लिखते हैं। जो कोई ईश्वरवादी यह कहते हैं, कि सत्र जगत् ईश्वर का रचा हुआ है, यह उनका कहना समीचीन नहीं है। काहेतें, कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिवादी — ईश्वर को जगत् का कर्त्ता सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण है। तथाहि—जों ठहर ठहर करके अभिमत फल के संपादन करने में प्रवृत्त होवे, तिसका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् जरूर होना चाहिये। जैसे बसोला, धारी प्रमुख शस्त्र, काष्ठ के दो टुकड़े करने में प्रवृत्त है। और तिन का अधिष्ठाता यदई है, तैसे ही ठहर ठहर कर सत्र जगत् को सुष दुःखादिक जो फल मिलते हैं, तिनका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् जरूर होना चाहिये। तुम ने ऐसे न कहना कि बसोला, धारी प्रमुख काष्ठ के दो टुकड़े करने में आप ही प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि वो तो अचेतन हैं, आप ही कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे? जेकर कहो कि

यसोला भारी प्रमुग स्वभाव मे प्रवृत्त होते हैं। तब तो तिन को सदा ही प्रवृत्त होना चाहिये, बीच में कभी ठहरना न चाहिये, परन्तु ऐसे हैं नहीं। इस पूर्वोक्त हेतु से तो ठहर ठहर कर अपने अपने फल के साधने वाले जो जीव हैं तिनका अधिष्ठाता ईश्वर ही सिद्ध हो सकता है। तथा दूसरा अनुमान जो परिमडलादिक, पृत्त, ज्यरा, चतुर्ग सस्थान वाले ग्राम, नगरादिक हैं, ये सब ज्ञान-दान के रचे हुये हैं, जैसे घटादिक पदार्थ। जैसे ही पूर्वोक्त सस्थान सयुक्त पृथिवी, परत प्रमुख हैं। इस अनुमान से भी जगत् का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है।

सिद्धांती—जिस अनुमान स तुम ने जगत् का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध करा है सो तुमारा अनुमान अयुक्त है। क्योंकि यह तुमारा पूर्वोक्त अनुमान हमारे मत में जैसे आगे सिद्ध है, जैसे ही सिद्ध करता है, इस वास्ते तुमारे अनुमान में सिद्धसाधन दूषण आता है। यथा—इस सम्पूर्ण जगत् में जो विचित्रता है, सो सब कर्म के फल से है, ऐसे हम मानते हैं। क्योंकि भारतवर्ष में तथा अनेक देशों में, अनेक राष्ट्रों में, हेमवत आदिक अनेक पर्वतों में अनेक प्रकारके जो मनुष्यादि प्राणी वास करते हैं, अरु उनकी अनेक सुख दुःखादिक रूप अनेक तरों की अवस्था बन रही है, तिन सब अवस्थाओं का कारण कम ही है, दूसरा कोई नहीं। अरु देखने में भी कर्म ही कारण हो सकते हैं।

क्योंकि जब कोई पुण्यवान् राजा राज करता है, तो उसके राज में सुकाल, निम्पद्रव आदि के कारण जो सुख होता है, वो उस राजा के शुभ कर्म का प्रभाव है। इस कारण से जो ठहर ठहर जीवों को फल देते हैं, सो कर्म हैं। कर्म जो हैं सो जीवों के आश्रय हैं, अन् जीव जो हैं सो चेतन होने से बुद्धि वाले हैं। तत्र तो बुद्धि वाले के अधीन हो कर कर्म ठहर ठहर कर फल देते हैं। इस कारण से सिद्ध साधन दूषण है। जेकर कहोगे कि पूर्वोक्त अनुमान से हम तो त्रिशिष्ट बुद्धि वाला एक ईश्वर ही सिद्ध करते हैं, सामान्य बुद्धि वाले जीवों को सिद्ध नहीं करते। तत्र तो तुमारा दृष्टांत साध्यविकल है। क्योंकि बसोला, धारी प्रमुख में ईश्वर से अधिष्ठित व्यापार की उपलब्धि नहीं होती, किंतु बड़ई और कुम्कारादिकों का व्यापार तहा तहा ही। अन्वय-व्यतिरेक करके उपलब्ध होता है।

प्रतिवादी—बधकि-बड़ई आदि भी ईश्वर ही की प्रेरणा से तिस तिस काम में प्रवृत्त होते हैं इस जाम्ने हमारा दृष्टांत साध्यविकल नहीं है।

* ममयानुसार, यथा समय।

† 'अवय'—जिम के होने पर जो होवे, जैसे धूम के होने पर अग्नि का होना। 'व्यतिरेक'—जिम के अभाव में जो न होवे, जैसे अग्नि के अभाव में धूम का न होना। इन दोनों नियमों से व्याप्ति का निर्णय होता है।

सिद्धात्तो—तब तो ईश्वर भी किसी दूसरे ईश्वर की प्रेरणा ही से प्रवृत्त होवेगा और वो दूसरा किसी तीसरे ईश्वर की प्रेरणा से प्रवृत्त होगा, तब तो अनन्यस्था दूषण हो जायगा।

प्रतिपादी—बढ़ई प्रमुख सर्व जीव नो अज्ञानी हैं, इस वास्ते ईश्वर की प्रेरणा ही से अपने अपने काम में प्रवृत्त होते हैं परन्तु ईश्वर तो सर्व पदार्थों का ज्ञाना है, उस को किसी दूसरे प्रेरक की जरूरत नहीं। इस वास्ते अनन्यस्था दूषण नहीं है।

सिद्धान्ती—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि इस तुमारे कहने में इतरेतराश्रयरूप दूषण आता है—प्रथम ईश्वर सब पदार्थ के यथावस्थित स्वरूप का ज्ञाता सिद्ध हो जावे, तब अन्य की प्रेरणा के बिना ईश्वर आप ही प्रवृत्त होता है—ऐसा सिद्ध होवे, और जब अन्य की प्रेरणा के बिना ईश्वर आप ही प्रवृत्त होता है—ऐसे सिद्ध हो जावे तब तो ईश्वर सब पदार्थ के यथावस्थित स्वरूप का जानने वाला सर्वज्ञ सिद्ध होवे। जब तक दोनों में से एक की सिद्धि न हो जावे तब तक दूसरे की सिद्धि कभी न होगी। तथा हे ईश्वरपादी! हम तुम को पूछते हैं कि जेकर ईश्वर सबज्ञ अरु वीनराग है, तो पाहे को और जीवों को अमत् व्यवहार में प्रवर्ताने हे? क्योंकि जो विप्रेकी होते हैं वे मध्यस्थ ही होते हैं। तथा

सब जीवों को सब व्यवहार ही में प्रवृत्त करते हैं, असत् व्यवहार में नहीं। परन्तु ईश्वर तो असत् व्यवहारों में भी जीवों को प्रवृत्त करता है, इस वास्ते आप का ईश्वर सर्वज्ञ और धीतराग नहीं हो सकता।

प्रतिवादी—ईश्वर तो सब जीवों को शुभ कर्म करने में ही प्रवृत्त करता है, इस वास्ते वह सर्वज्ञ और धीतराग ही है। तथा जो जीव अधर्म करने वाले हैं, उन को असत् व्यवहार में प्रवृत्त कर, पीछे नरकपात आदि फल देता है। जिस से कि फिर वो जीव इस नरकपात आदि दुःख में डरता हुआ पाप न करे। इस वास्ते उचित फल देने से ईश्वर विवेकवान् अरु धीतराग तथा सर्वज्ञ है। उस में कोई भी दूषण नहीं है।

निदान्ती—यह भी तुमारा कहना विचार युक्त नहीं है। क्योंकि प्रथम जीव को पाप करने में भी तो ईश्वर ही प्रवृत्त करता है। ईश्वर के बिना दूसरा तो कोई प्रेरक है नहीं। अरु जीव आप तो कुछ कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अज्ञानी है। तो फिर प्रथम पाप करने में जीवों को प्रवृत्त करना, पीछे उन को नरक में डाल कर, उस पाप का फल भुगताना, तदनन्तर उन को धर्म में प्रवृत्त करना—क्या यही ईश्वर की ईश्वरता अरु विचारपूर्वक काम करना है ?

प्रतिवादी—ईश्वर तो जीवों को भले तरे काम में

प्रवृत्त नहीं करता, किंतु यह जीव आप ही प्रवृत्त होते हैं। जीव जैसा जैसा कर्म करते हैं, उस कर्म के अनुसार ईश्वर भी तैसा तैसा फल उन जीवों को देता है। जैसे राजा चोरी आदि करने पर दण्ड देता है परन्तु वह चोर को ऐसे नहीं कहता, कि तू चोरी कर, किंतु चोरी करने की मनाई तो अवश्य करता है। फिर जेकर चोर चोरी करेगा, तब तो राजा उस को अवश्य दण्ड देवेगा; क्योंकि यह उस का फत-य है। तैसे ही ईश्वर पाप तो नहीं कराना, परन्तु पाप करने वालों को दण्ड अवश्य देता है।

सिद्धान्ती—यह भी तुमारा कहना अयुक्त है। क्योंकि जो राजा है सो चोरो को निषेध करने में सब प्रकार से समर्थ नहीं है। कैसा ही उग्र—कठोर शासन वाला राजा क्यों न होवे और मन घबन काया करके कितना भी चोरी आदिक पाप कम को मने कराना चाहे, फिर भी लोक चोरी आदिक पाप कर्म को सबथा नहीं छोडते। परन्तु ईश्वर को तो तुम सब शक्तिमान् मानते हो, तो फिर वो सर्व जीवों को पाप करने में प्रवृत्त होते हुआँ को क्यों नहीं मने करना ? जेकर मने नहीं करता, तब तो इश्वर ही सब जीवों मे पाप कराना है, यही सिद्ध हुआ। जेकर कहोगे कि पाप में प्रवृत्त होते जीवों को ईश्वर मने करने में समर्थ नहीं है, तो फिर ऊचे शब्द मे ऐसे कभी न कहना कि सब कुछ ईश्वर ने ही करा है, और ईश्वर सर्व

शक्तिमान् हैं । तथा जेकर कहो कि जोय पाप भी आप ही करता है अरु धर्म भी आप ही करता है । तो फिर फल भी वह आप ही भोग लेयेगा, इस के वास्ते ईश्वर कर्ता की कल्पना करना व्यर्थ है ।

प्रतिवादी — धर्म अधर्म तो जीव आप ही करते हैं, परन्तु उन का फलप्रदान तो ईश्वर ही करता है । क्योंकि जीव जो हैं, सो अपने करे हुए धर्म अधर्म का फल आप भोगने को समर्थ नहीं हैं । जैसे चोर, चोरी तो आप ही करता है, परन्तु उस चोरी का फल जो बन्दीखाना—जेल खाना है । उस में थोहा आप ही नहीं चला जाता, किन्तु कोई दूसरा उसे बन्दीखाने में डालने वाला चाहिये ।

सिद्धान्ती — यह भी तुमारा कहना असत्य है, क्योंकि जब जीव धर्म, अधर्म करने में समर्थ हैं, तो फिर फल भोगने में समर्थ क्यों नहीं ? इस सत्सार में जीव जैसे जैसे पाप, वा धर्म करता है, तैसे तैसे पाप और धर्म के फल भोगने में वह निमित्त भी बन जाता है । जैसे चोर चोरी करता है, तिस का फल—दण्ड राजा देता है । कुष्ठ हो जाता है, शरीर में फीडे पड़ जाते हैं, अग्नि में ल मरता है, पाणी में डूब मरता है, खड्ग से कट जाता है, तोप बंदूक की गोला गोली से मर जाता है, हाद, हवेली, और मट्टी के नीचे दब कर अनेक तरे के सड्डूट भोग कर मर जाता है, निर्धन हो जाना है, इत्यादि असत्य निमित्तों से अपने करे कर्म के

फल को यह जीव भोगता है। इहा बिना इन उक्त निमित्तों के, दूसरा कोई ईश्वर फल दाता नहीं दीयता। ऐसे ही नरक स्वर्गादि परलोक में भी शुभायुम कर्म का फल भोगने के असत्य निमित्त हैं। जेकर कहो कि पररती गमन करने से जो पाप होगा उस पाप का फल भोगन में क्या निमित्त मिलेगा जिस के जाग से फल भोगना होगा? यह बात तो मैं [प्रथकार] नहीं जानता, कि इस पुण्य या पाप का फल, इस अमुक निमित्त के मिलने से होगा। क्योंकि मेरे को इतना ज्ञान नहीं कि ठीक ठीक—पूरा पूरा निमित्त बता सकूँ? परन्तु इतना कह सकता हूँ कि जो जो जीव पुण्य या पाप करते हैं उन के फल भोगने में कोई न कोई निमित्त जरूर होगा। तथा यह जीव अमुक कर्म का इस तरफ से फल भोगेगा, उस को यह निमित्त मिलेगा, अमुक देश में, अमुक काल में मिलेगा, इत्यादि सब कुछ प्रत्यक्षपने—प्रत्यक्ष रूप से तो अर्हत भगवन् परमेश्वर सर्वज्ञ के ज्ञान में ही भासमान होता है। परन्तु निमित्त के बिना कोई भी फल नहीं भोग सकता। इस वास्ते कर्म फल दाता ईश्वर है, यह कल्पना व्यर्थ है। क्या यह भी कोई बुद्धिमानों का कहना है कि रोटी पका तो सकता है, परन्तु आप खा नहीं सकता। तथा ईश्वर को फलदाता कल्पना करने से एक और भी कलक तुम उस पर लगाते हो। कल्पना करो किसी एक पुरुष को किसी दूसरे पुरुष ने सब मजदूर आदि सब से मार लिया

तब मरने वाले ने जो सङ्कट पाया सो किस के योग से ? किसकी प्रेरणा से ? जे कर कहोगे कि ईश्वरने उस शत्रु वाले को प्रेरित, तब उस ने उस को मारा, तो फिर उस मारने वाले को फासी क्यों मिलती है ? क्या ईश्वर का यही न्याय है ? जो कि प्रथम तो पुरुष के हाथ से उस को स्वयं मरवा डालना, अरु पीछे उस मारने वाले को फासी देना, इस तुमारे समझ ने ईश्वर को बड़ा अन्यायी सिद्ध कर दिया है । जेकर कहो कि ईश्वर की प्रेरणा के बिना ही उस पुरुष ने दूसरे पुरुष को मारा, अरु दुःख दिया है तब तो निमित्त ही से सुख दुःख का भोगना सिद्ध हो गया । फिर भी ईश्वर को ही फलदाता कल्पना करना, क्या यह अल्प बुद्धि वालों का काम नहीं है ? तथा हे ईश्वरवादी ! हम तुम को एक और बात पूछते हैं, कि जो धर्म का फल-स्वर्ग-लोक में उन्मत्त देवागनाभों के सुकुमार शरीर का स्पर्श करना है, सो तो जीवों को सुख का कारण है । इस वास्ते ईश्वर ने यह फल उन जीवों को दिया । परन्तु घोर नरक के कुण्ड में पड़ना, नाना प्रकार के दुःख-सकट, श्वास, कुम्भी पाक, चर्मउत्कर्तन, अग्नि में जलना, इत्यादि महा दुःख रूप जो अधर्म का फल है वो उन जीवों को ईश्वर क्यों देता है ?

प्रतिवादी — जीव ने पाप कर्म करे थे, उन का फल उस जीव को जरूर देना चाहिये, इस वास्ते ईश्वर फल देता है ।

सिद्धान्ती — इस तुमारे कहने से तो ईश्वर व्यर्थ ही

जीवों को पीडा देता है, क्योंकि जब ईश्वर पाप करने वाले जीव को पाप का फल न देगा, तब तो वह जीव कम का फल भोग नहीं सकेगा, फिर आगे को न तो शरीर ही धारेगा और न नर्घान पाप ही करेगा। फिर पता नहीं कि बँड बिठाये ईश्वर को क्या गुद्गुदी उठनी है, जो कि उन जीवों को नरक में डाल देता है / परन्तु जो मध्यस्थ भाव वाला और परम दयालु होना है वो किसी जीव का कभी निरर्थक पीडा नहीं देता।

प्रतिवादी — ईश्वर अपनी क्रोडा के वास्ते किसी को नरकर्म डालता है, किसी को तिर्यंच योनिमें उत्पन्न करता है, किसी को मनुष्य जन्म में, और किसी को स्वर्ग में उत्पन्न करता है। जब वो जीव नाचते कुदते रोते, पीटते और बिलाप करते हैं, तब ईश्वर अपनी रची हुई सृष्टि रूप वाजी का तमाशा देखना है इस वास्ते जगत रचता है।

सिद्धांती — जब ऐसे है, तब तो ईश्वर* प्रेक्षावान् नहीं है, क्योंकि उस की तो क्रोडा है, परन्तु बिचारे रक जीव तड़फ तड़फ क महाकरुणास्पद हो कर मर रह है। तो फिर ईश्वर को दयालु मानना बड़ी भारी अज्ञानता है। क्योंकि जो महा पुरुष दयालु और सर्वज्ञ होते हैं, वे कदापि किसी जीव को दुःख देकर क्रीडा नहीं करते। तो फिर ईश्वर होकर वह क्रीडार्थी कैसे हो सकता है ? तथा

* विचार शील, बुद्धिमान्।

गीडा जो है, सो सरागी को होती है, अरु ईश्वर तो वीतराग है, तो फिर ईश्वर का क्रीडारस में मग्न होना कैसे सम्भवे ?

प्रतिवादी—हमारा ईश्वर जो है सो रागी द्वेषी है, इस कारण से उसमें क्रीडा करने का सम्भव हो सकता है।

सिद्धान्ती—तब तो तुम ने अपना मुख धोने के बदले उलटा काला कर लिया। क्योंकि जो राग अरु द्वेष वाला होगा, वह हमारे सरीखा रागी ही होगा, किन्तु वीतराग नहीं होगा। तब तो वीतराग न होने से जोह ईश्वर तथा सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता। तो फिर उस को सृष्टि के रचने वाला क्यों कर माना जावे ?

प्रतिवादी—हम तो ईश्वर को राग द्वेष सयुक्त और सर्वज्ञ मानते हैं, इस वास्ते सर्व जगत् का कर्त्ता है।

सिद्धान्ती—इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। जिस से कि ईश्वर रागी, द्वेषी, अरु सर्वज्ञ सिद्ध होवे।

प्रतिवादी—ईश्वर का स्वभाव ही ऐसा है, कि रागी द्वेषी भी होना, अरु सर्वज्ञ भी रहना। स्वभाव में कोई तर्क नहीं हो सकता। जैसे कोई प्रश्न करे कि अग्नि दाहक है, तबत आकाश दाहक क्यों नहीं ? तो इसका यही उत्तर दिया जायगा कि अग्नि में दाह का स्वभाव है, आकाश में नहीं। इसी प्रकार ईश्वर भी स्वभाव से ही रागी, द्वेषी अरु सर्वज्ञ है।

सिद्धान्ती—ऐसे तो कोई भी वादी कह सकता है कि यह जो हमारे सामुख गधा पड़ा है, सो सर्व जगत् का रचने वाला है। जेकर कोई वादी पूछे कि किस हेतु से यह गर्दभ जगत् का रचने वाला है ? तत्र तिस को भी ऐसा ही उत्तर दिया जायगा कि इस गर्दभ का म्बमाय ही ऐसा है, कि जगत् को रच के, राग द्वेष वाला सवज्ञ हो कर फिर गर्दभ ही बन जाता है। इन्हीं तरे महिष आदिक सर्व जीव जगत् के षत्ता सिद्ध किये जा सकते हैं। ईश्वर क्या हुआ भानमती का एक तमाया हुआ। जो कुछ अपने मन में आया सो बना लिया। यह तो ईश्वर को यड़ा भारी कलक लगाना है। इस वास्ते ईश्वर जो है सो सर्वज्ञ और वीतराग है। वो क्रीडा के निमित्त इस जगत् को रचने वाला नहीं है। तथा हे ईश्वरवादी! तेरे कहने के अनुसार अब ईश्वर ने ही सब कुछ रचा है, तब तो तीन सौ त्रैसठ पाण्डित्य के सब शास्त्र भी ईश्वर ही ने रचे होंगे। अरु ये सब शास्त्र आपस में विरुद्ध हैं। तब तो अवश्य कितनेक शास्त्र सत्य अरु कितनेक असत्य होंगे। तो फिर भ्रूठ अरु सत्य दोनों का उपदेशक भी ईश्वर ही ठहरा। अरु सर्व मत वालों को आपस में लड़ाने वाला भी उसी को मानना चाहिये। हजारों लाखों मनुष्य इन मतों के भगड़ों में मर जाते हैं। ईश्वर ने शास्त्र क्या रचे ? जगत् में एक बड़ा भारी उपद्रव मचा दिया। ऐसे भूटे सन्चे

शास्त्र रचने वाले को तो ईश्वर कहने के बदले महा धूर्त कहना चाहिये । जेकर कहोगे कि ईश्वर ने तो सच्चे शास्त्र ही रचे हैं, भूटे नहीं रचे, भूटे तो जीवों ने आप ही बना लिये हैं । तब तो ईश्वर ने जगत् भी नहीं रचा होगा, जगत् भी जीवों ने ही रचा होगा, क्योंकि ईश्वर किसी प्रमाण से सब वस्तु का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता ।

तथा तुम ने जो पूर्व में दूसरा अनुमान करा था, कि जो जो आकार वाली वस्तु है, सो सर्व बुद्धि वाले की ही रची हुई है । जैसे पुराने कूवें को देखने से उसके बनाने वाले का निश्चय होता है । यद्यपि कारीगर तहा नहीं भी उपलब्ध होता, तो भी उसका कर्त्ता कोई कारीगर ही अनुमान से सिद्ध होगा, जैसे नये कूवें का कर्त्ता अमुरु कारीगर उपलब्ध होता है । सो यह भी तुमारा कहना समीचीन नहीं, क्योंकि यादल, सर्प की गारी प्रमुख सन्धान वालों में आकारवत्त्व हेतु तो है, परंतु बुद्धि वाला कर्त्ता वहा पर कोई नहीं है । जेकर कहोगे कि यादल, इन्द्रवनुर, सब को गारी प्रमुख सन्धान वाले किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं हैं । तब तो पृथिवी, पर्वत आदि भी किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं मानने चाहिये ।

इन पूर्वोक्त प्रमाणों से किसी तरें भी ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता । अथ जो पुरुष ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं, उन से हम यह कहते हैं कि

जब तक हमारी इन युक्तियों का उत्तर सर्वथा न दिया जाये, तब तक ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानना चाहिये। यदि कोई ईश्वर चाही हमारे इन युक्तियों का पूरा उत्तर दे देवेगा, तब तो हम भी ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मान लेंगे, अन्यथा कभी नहीं माना जायगा।

प्रतिवादी — ईश्वर जगत् का कर्त्ता तो सिद्ध नहीं होना, परन्तु एक ईश्वर है यह तो सिद्ध होता है ?

सिद्धांती — ईश्वर एक ही है, यह बात सिद्ध करने वाला भी कोई प्रमाण नहीं है।

— प्रतिवादी — ईश्वर के एक सिद्ध होने में यह प्रमाण है।

जहां बहुते एकठे होकर एक काम को करने एकत्व का लगते हैं वह अय अय मति वाले होन से प्रतिवाद एक काय भी नहीं कर सकते ऐसे ही जब ईश्वर अनेक होंगे, तब तो सृष्टि प्रमुख एक ही काय के करने में न्यारी न्यारी मति होने से कायर्म *अस-मज्जम उत्पन्न होवेगा। इस वास्ते ईश्वर एकही होना चाहिये।

सिद्धांती — इस तुमारे प्रमाण से तो ईश्वर एक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि बोह किसो वस्तु का कर्त्ता सिद्ध नहीं हुआ। तथा एक मधुच्छे के बनाने में सब मच्छिकाओं का तो एक मना हो जाता है, परन्तु निर्विकार, निरुपाधिक ज्योति-स्वरूप ईश्वरों का एक मना नहीं हो सकता यह बड़े भाश्चर्य

* अन्यवस्था † मति, विचार।

की बात है ? क्या तुमने ईश्वरों को कोड़ों से भी बुद्धिहीन, अभिमानी, अरु अज्ञानी बना दिया, जो कि उन सब का एक मता नहीं हो सकता ?

प्रतिवादी — मत्तिका जो बहुत एकठी हो कर एक मधु छत्ता आदिक कार्य बनाती है । तदा भी एक ईश्वर ही के व्यापार से एक मधुछत्ता बनता है ।

सिद्धान्ती — तब तो घड़ा बनाना, चोरी करना, परखी गमत करना, इत्यादिक सब काम ईश्वर के ही व्यापार से करे सिद्ध होंगे । अरु सर्व जोय अकर्त्ता सिद्ध हो जावेंगे । फिर पुण्य पाप का फल किस को होगा ? अरु नरक स्वर्ग में जीव क्यों भेजे जावेंगे ?

प्रतिवादी — कुम्भारादिक चोरादिक सर्व जाव, स्वतन्त्रता से अपना अपना कार्य करते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

सिद्धान्ती — क्या मत्तिकाओं ही ने तुमारा कुछ अपराध करा है, जो उन को स्वतन्त्र नहीं कहते हो ? तथा इस तुमारे एक ईश्वर मानने से तो ऐसा भी प्रतीत होता है, कि जेकर अनेक ईश्वर मानें जावगे तो, कदाचित् एक सृष्टि रचने में उनका विवाद हो जाये, तो उस विवाद को दूर कौन करेगा ? क्योंकि सरपव तो कोई है नहीं । तथा एक ईश्वर को देख के दूसरा ईश्वर ईर्ष्या करेगा, कि यह मेरे तुल्य क्यों है ? इत्यादिक अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जावेंगे । इस वास्ते ईश्वर एक ही मानना चाहिये, यह तुमारी समझ भी अज्ञान रूप

घुग से याई हुई है। क्योंकि जब ईश्वर सर्वज्ञ है तब तो सर्पज्ञ के ज्ञान में एक ही सरीया भान होना चाहिये, तो फिर विवाद क्यों कर होगा ? तथा ईश्वर तो रात, द्वेय, ईर्ष्या, अभिमानादि सब दूषणों से रहित है तब तो दूसरे ईश्वर को देव कर ईर्ष्या अभिमान क्योंकर करेंगे ? जेकर ईश्वर हो कर भी आपस में विवाद,—भगडे, ईर्ष्या, अभिमान करेंगे, तो तिन पामरों को ईश्वर ही कैसे माना जायगा ? जब कि जगत् का कत्ता ही इश्वर सिद्ध नहीं होता, तब ईश्वरों का आपस में विवाद—भगड़ा ही भाहे को होगा ? इस वास्ते ईश्वर धनते मानने में कुछ भी दूषण नहीं।

तथा ईश्वर सब व्यापक है—यह भी जो मानते हैं सो भी प्रामाणिक नहीं है क्योंकि जो घादी सबव्यापकता ईश्वर को सब व्यापक मानते हैं क्या घा का प्रतिवाद उस को शरीर करके व्यापक मानते हैं ? या ज्ञान स्वरूप करके व्यापक मानते हैं ? जे कर शरीर करके ईश्वर को व्यापक मानेंगे, तब तो ईश्वर का शरीर ही सब जगा समा जायगा, दूसरे पदार्थों के रहने वास्ते कोई भी अयकार्य न मिलेगा। इस वास्ते ईश्वर देह करके तो सबत्र व्यापक नहीं है।

प्रश्न—क्या ईश्वर के भी शरीर है, जो तुम ऐसे विकल्प करते हो ?

उत्तर—हे भव्य ! ऐसे भी इस जगत् में मत हैं, जो ईश्वर को देह धारी मानते हैं।

प्रश्न — धो कौन से मत हैं, जिनों ने शरीरपारी ईश्वर माना है ?

उत्तर — तौरत नामा ग्रन्थ में ऐसे लिखा है, कि ईश्वर ने इबराहीम के यहा रोशो ग्याई, तथा याकूब के साथ कुस्ती करी। इस लिखने से प्रतीत होना है कि ईश्वर देहवारी है। तथा शकरदिग्गिजय के दूसरे प्रकरण में शकर स्वामी का शिष्य आनदगिरि लिखता है कि जब नारद जी ने देखा, कि इस लोक में बहुत कपालकटिपत मत उत्पन्न हो गये हैं, अरु सनातन धर्म लुप्त हो गया है, तब तो नारद जी शीघ्र ही ब्रह्मा जी के पास पहुँचे, अरु जाकर कहने लगे कि ह पिता जी ! तुमारा मत तो शाय नहीं रहा, अरु लोगों ने अनेक मत बना लिये हैं। सो इस घातका कुछ उपाय करना चाहिये। तब तो ब्रह्मा जी बहुत काल ताई चिन्तन करके पुत्र, मित्र, भक्त जनों को साथ लेकर अपने लोक में चल कर शिव लोक में पहुँचे। आगे क्या देखते हैं कि जैसे मध्याह्न में फोटि सूर्यो के समान तेज वाला तथा फोटि चन्द्रमा के समान शीतल, और पाच जिस के मुख है, चन्द्रमा जिस के मुकुट में है, रिजलीयत् पिंगल जटा का धारक, और पार्वती जिस के घाम अङ्ग में है, ऐसा सर्व का ईश्वर महादेव विराजमान है। ब्रह्मा जी नमस्कार करके उस की स्तुति करने लगे, यथा— हे महादेव, सर्वज्ञ, सर्वलोकेय, सर्वसाक्षी, सर्वमय, सर्वकारण, इत्यादि। इस लिखने से प्रगट प्रतीत होता है कि ईश्वर

देहधारी है। जेकर देहधारी ईश्वर न होवे, तो फिर पाच मुख कैसे हों? इस प्रमाण से ईश्वर शरीर रहित सिद्ध नहीं होता। अथ जेकर शरीर धारी ईश्वर व्यापक होवे तब तो इस लोक में अफेला ईश्वर ही व्यापक हो कर रहगा। दूसरे पदार्थों को रहने के वास्ते कोई दूसरा ही लोक चाहिये। जेकर कहोगे कि ज्ञान स्वरूप करके ईश्वर सर्व व्यापक है, तब तो सिद्धसाधन ही है। क्योंकि हम भी तो ज्ञानस्वरूप करके भगवान् को सब-यापी मानते हैं। अथ ऐसा मानने में तुमारे वेद में विरोध होये है। क्योंकि वेदों में शरीर करके सर्व व्यापक कहा है। यथा—

* विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो याङ्गुरुत
विश्वतस्पादित्यादि । [ऋग्० ८-३-१६-३]

इस श्रुति से सिद्ध है, कि ईश्वर शरीर करके सब व्यापक है। फिर तो पूर्वोक्त ही दूषण आवेगा। इस वास्ते ईश्वर व्यापक नहीं ।

तथा तुम कहते हो कि ईश्वर सर्वज्ञ है परन्तु तुमारा ईश्वर सर्वज्ञ भी नहीं। क्यों कि हम जो सृष्टि सबज्ञता का फर्ता ईश्वर का पण्डन करने वाले हैं, प्रतिवाद सो उस से विपरीत चलते हैं, फिर हम को उस ने क्यों रचा? जेकर कहोगे कि जन्मा

* वह ब्रह्म सब का चउ है, सब का मुख है, सब का भाहु और सब का पैर है

तदा में उपाजित जो जो तुमारे शुभाशुभ कर्म हैं, तिनों के अनुसार तुम को ईश्वर फल देता है, तो फिर तुमारे कहने ही से ईश्वर के स्तत्रपने को जलाजलि दी गई। क्योंकि जब हमारे कर्मों के बिना ईश्वर फल नहीं दे सकता, तब तो ईश्वर के कुछ अधीन नहीं है। जैसे हमारे कर्म होंगे, तैसा हम को फल मिलेगा। जेकर कहो कि ईश्वर जो इच्छे, सो करे, तब तो कौन जानता है कि ईश्वर क्या करेगा? क्या धर्मियों को नरक में और पापियों को स्वर्ग में भेजेगा? जेकर कहो कि परमेश्वर न्यायी है। जो जैसा करेगा, उस को वैसा ही वोह फल देता है। तो फिर वोही परमग्रन्थ रूप दूषण ईश्वर में आ लगेगा।

तथा—ईश्वर नित्य है, यह कहना भी अपने घर ही में सुन्दर लगता है। क्योंकि नित्य तो उस वस्तु नित्यता का को कहते हैं, जो तीनों कालों में एक रूप प्रतिवाद रहे, जब ईश्वर नित्य है, तो क्या उस में जगत् को बनाने वाला स्वभाव है वा नहीं? जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव है, तब तो ईश्वर निरंतर जगत् को रचा ही करेगा, कदापि रचने में बन्द न होगा, क्योंकि ईश्वर में जगत् के रचने का स्वभाव नित्य है। जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव नहीं है, तब तो ईश्वर जगत् को कदापि न रच सकेगा। क्योंकि जगत् रचने का स्वभाव ईश्वर में है ही नहीं।

तथा जेकर ईश्वर में एषान्त नित्य जगत् रचने का स्वभाव है, तब तो प्रलय कभी भी नहीं होगी क्योंकि ईश्वर में प्रलय करने का स्वभाव नहीं है। जेकर कहेंगे कि ईश्वर में रचने की शक्ति और प्रलय करने की शक्ति ही शक्तियाँ नित्य विद्यमान हैं, तब तो न जगत् रचा जायगा और न प्रलय ही होगी, क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ एक जगें एक काल में कदापि नहीं रह सकतीं। जिस काल में रचने वाली शक्ति रचेगी तिसी काल में प्रलय करने वाली शक्ति प्रलय करेगी और जिस काल में प्रलय करने वाली शक्ति प्रलय करेगी, तिसी काल में रचने वाली शक्ति रचना करेगी। इस प्रकार जब शक्तियों का परस्पर विरोध होगा, तब न जगत् रचा जावेगा न प्रलय किया जावेगा। फिर तो हमारा ही मत सिद्ध होगा अर्थात् न किसी ने यह जगत् रचा है, और न इस की कड़े प्रलय होती है। ताते यह जगत् अनादि, अनन्त स्पष्टपणे सिद्ध हो गया। जेकर कहें कि ईश्वर में दोनों ही शक्तियाँ नहीं हैं, तो फिर जगत् की रचना और प्रलय कैसे? तब भी वो अनादि, अनन्त ही सिद्ध हुआ। जेकर कहेंगे कि ईश्वर जब चाहता है, तब रचने की इच्छा कर लेता है, और जब प्रलय करता है तब प्रलय की इच्छा कर लेता है इस में क्या दोष है? ऐसा कहने से तो ईश्वरकी शक्तियाँ अनित्य होजावेंगी। भले अनित्य हो जायें, इसमें हमारी क्या हानि है? जेकर ईश्वर की शक्तियों

को अनित्य कहोगे तब तो ईश्वर भी अनित्य हो जायेगा, क्योंकि ईश्वर का अपनी शक्तियों से अभेद है। जेकर कहोगे कि शक्तियाँ ईश्वर से भेदरूप हैं, तब भी शक्तियों के नित्य होने से जगत् की रचना और प्रलय नहीं बनेगी। तथा ईश्वर भी अकिञ्चित्कर सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि जब ईश्वर सर्व शक्तियों से रहित है तब तो वह कुछ भी करने को समर्थ नहीं है, फिर जगत् रचने में क्यों कर समर्थ हो सकेगा ? तथा शक्तियों का उपादान कारण कौन होयेगा ? इस से तो ईश्वर की ईश्वरता का ही अभाव हो जायेगा। क्योंकि जब ईश्वर में कोई शक्ति ही नहीं, तब ईश्वर काहे का ? वो तो आकाश के फूल के समान असत् हो जाता है, तो फिर इस जगत् का कर्त्ता किस को मानोगे ?

अथ आगे *भरडशानियों का ईश्वरवाद लिखने है—
 प्रतिपादी—जगत् में जितने पदार्थ हैं, उनके विलक्षण विलक्षण सजोग, आवृत्ति, तथा गुण और
 भरडशानियों से स्वभाव दीप्त पड़ते हैं। जेकर इनका तथा
 इश्वर चर्चा इन के नियमों का कर्त्ता कोई न होगा, तां
 ये नियम कभी न बनेंगे, क्योंकि जड
 पदार्थों में तो मिलने या जुड़े होने की यथावत् सामर्थ्य

* यह पञ्चमी भाषा का शब्द है। इस का अर्थ अर्द्धविदग्ध-
 धर उधर की दो चार बातें सुन सुना कर अपन आप को पट्टिन
 मानन बाना होता है।

नहीं, इस हेतु से ईश्वर जगत्कर्त्ता अथर्व्य होना चाहिये ।

सिद्धाती —जगत्कर्त्ता ईश्वर का खडन तो हम प्रथम ही कर चुके हैं, फिर आप जगत् का कर्त्ता क्योंकर मानते हैं? अर जो तुम ने लिखा है कि जगत् के पदार्थों में न्यारे न्यारे स्वभाव दीख पड़ते हैं, इससे ईश्वर की सिद्धि होती है । परन्तु इस कहने से ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व पदार्थों में अनन्त शक्तिया है । सो अपनी अपनी शक्तियों से सब पदार्थ अपने अपने कार्य को करते हैं । इन के मिलने में एक तो काल, दूसरा पदार्थ का स्वभाव, तीसरी नियति चौथा जीवों का कर्म, पाचवा उन का पुरुषार्थ—उद्यम ये पाच निमित्त हैं । इन पूर्वोक्त पाचों निमित्तों के बिना और कोई भी निमित्त नहीं है । इन पाचों का स्वरूप आगे चल कर लियेंगे ।

तथा प्रत्यक्ष में भी इन पाचों के निमित्त से ही सब पुरु उत्पन्न होता है, जैसे बीजाकुर । जब बीज बोया जाता ह, तब काल—समय भी अनुकूल होना चाहिये, अर बीज, जल, पृथिवी, इत्यादिकों का स्वभाव भी अवश्य होना चाहिये । तथा नियति [जो जो पदार्थों का स्वभाव है, तिन पदार्थों का तथा तथा जो परिणामन होता है, तिन का नाम नियति है] कारण है । तथा अष्टविध कर्म भी कारण हैं, तथा पुण्याध—जीवों का उद्यम भी कारण है । ए पाचों अस्तु अनादि हैं किसी ने भी इन को रचा नहीं

है, क्योंकि जो जो वस्तु का स्वभाव है, सो सो सर्व अनादि काल से है । जेकर वस्तु में अपना अपना स्वभाव न होवेगा, तब तो कोई भी वस्तु सद्रूप न रहेगी किंतु सर्व वस्तु शराशुभत् अस्त हो जायगी । अरु जो पृथिवी, आकाश, सूर्य चंद्रमा, आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दीर्घ पड़ते हैं, सो इसी तरे अनादि रूप में सिद्ध हैं । अरु पृथिवी पर जो जो रचना दीयती है, सो सब प्रमाह से ऐसे ही चली आती है, अरु जो जो जगत्के नियम हैं, वे सर्व इन उक्त पाचों निमित्तों के बिना नहीं हो सकते । इस वास्ते सर्व पदार्थ अपने अपने नियम में हैं । जेकर तुम द्रव्य की शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो हमारी कुछ हानि नहीं, क्योंकि हम द्रव्य की अनादि शक्ति का ही नाम ईश्वर रख लेवेंगे । अरु यदि तुम द्रव्य की अनादि शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो तुमारा हमारा विवाद ही दूर हो जायेगा । तथा तुम ने जो यह कहा है कि जड में यथायत् मिलने की शक्ति नहीं है, सो तुमारा यह कहना भी मिथ्या है, क्यों कि जगत् में अनेक तरें के जड पदार्थ अपने आप ही इन पूर्वोक्त पाच निमित्तों से आपस में मिल जाते हैं । जैसे सूर्य की किरणें जब बादलों में पड़ती हैं, तब इन्द्रधनुष बन जाता है । तथा सध्या, पाच वर्ष के बादलों की घनी हुई घटा, चन्द्रमा और सूर्य के गिरद कुण्डल, आकाश में पत्रों के मिलने से जल, और अग्नि आदि पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं । तथा

पूर्वोक्त पाचो निमित्तो से क्या के द्वारा अनक प्रकार के घांस तृणादि, अनेक प्रकार की वनस्पति तथा अनेक प्रकार के फीट पतंग प्रमुख जीव उत्पन्न हो जाते हैं । परन्तु पाचो निमित्तों के बिना किसी घंम्तु को बनाता हुआ अथ कोई ईश्वर नहीं दिखाई देता, जरा पक्षपात छोड़ और विचार कर के देखो कि, ईश्वर जगत् का कर्ता किस तर से हो सकता है ? क्योंकि पृथ्वी, आकाश चन्द्र, सूर्य, इत्यादिक तो द्रव्यात्मिक नय के मत से अनादि हैं, फिर इन के वास्ते पूछना कि यह किस ने बनाये हैं ? कितने आश्चर्य की बात है ? और यदि ऐसा ही है तो फिर हम पूछते हैं, कि ईश्वर किसने बनाया ? जेकर कहो कि ईश्वर तो किसी ने नहीं बनाया, वो तो अनादि से ही बना बनाया है । तो फिर पृथ्वी प्रमुख कितनेक पदार्थ भी आदि से ही बने बनाये हैं, ऐसे मानने में क्यों लज्जा करते हो ?

प्रतिवादी — जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, उनके मत में यह दाप आवेंगे । जेकर यह पृथिवी स्वभाव से ही होती, तो इस का कर्ता और नियता कोई न होता, तथा पृथिवी से भिन्न दस कोस पर अन्तरिक्ष में दूसरी पृथिवी भी आप से आप बन जाती, परन्तु आज तक नहीं बनी । इस से जाना जाता है, कि ईश्वर ही पृथिवी आदि का कर्ता है ।

सिद्धांती — तुम को कुछ विचार है वा नहीं ? जे कर

है तो पूर्वोक्त तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि हम तो यह कहते हैं, कि पृथिवी आदिक अनादि हैं—किन्ती ने बनाये नहीं और तुम कहते हो कि आकाश में दस कोस के अन्तर में दूसरी पृथिवी क्यों नहीं बन जाती ? अथ तुम ही विचारो कि तुमारा यह प्रश्न मूर्खताई का है, या बुद्धिमानी का ? तथा इस प्रश्न के उत्तर में जो कोई तुम से पूछे, कि ईश्वर यदि स्वभाव से घना होवे, तो ईश्वर से अलग दूसरा ईश्वर क्यों नहीं उत्पन्न होना ? जे कर कहो कि ईश्वर तो अनादि है, वो क्योंकर नया दूसरा ईश्वर बन जाये ? तो इस तरह हम भी कह सकते हैं कि पृथिवी अनादि है, नवीन नहीं बनती । तो फिर दस कोस के अन्तरे आकाश में क्योंकर बन जाये ?

प्रतिवादी—जे कर आप से आप ही वस्तु बनती होवे, तो सर्व परमाणु एकठे क्यों नहीं मिल जाते ? अथवा एक एक होकर बिगड़ क्यों नहीं जाते ?

सिद्धान्ती—ये जट परमाणु हमारी ही आघा में नहीं चलते, जिन्से से कि हमारे कहे से एकठे होकर एक रूप हो जावें, अथवा एक एक होकर बिगड़ जावें । किन्तु पूर्वोक्त पाच निमित्त जहा पर मिलने के होंगे, तहा मिल जावेंगे, और जहा पर बिगड़ने के होंगे तहा बिगड़ जावेंगे अर्थात् नहीं मिलेंगे ।

प्रतिवादी—सब परमाणुओं के एकत्र मिलने के पाच निमित्त क्यों नहीं मिलते ?

सिद्धान्ती—इस धनादि ससार की नियति रूप जो मयादा है, वो कदापि अन्यथा नहीं होती, जे कर हो जाये, तो ससार में जितने जीव जन्म लेते हैं, सो सब, स्थियों या पुत्रों के ही रूप में क्यों नहीं उत्पन्न होत ? जेकर कहोगे कि उनके जन्मे जन्मे कर्म थे, वसा वसा ही उन को फल मिला है इस धाम्न एरु स्त्री आदिक स्वरूप में उत्पन्न नहीं होते ? नथ हम पूछने हैं, कि सर्व जीवों न स्त्री होने के वा पुत्र्य होने क न्यारे न्यारे कर्म क्यों करे ? एक ही सरीये कर्म क्यों नहीं करे ? जेकर कहो कि ससार में यही सनातन रीति है, कि सर्व जीव एक सरीये कर्म कदापि नहीं करते । तत्रतो परमाणुओं में भी यही सनातन स्वभाव है, कि सब एकटे नहीं होते, तथा एक एक होकर बिपर भी नहीं जाते । तथा यह तुमारा ईश्वर जो जगत् को रचता है, सो तुमारे कहने के अनुसार भागे अनन्त बार सृष्टियों को रच चुका है भरु एक एक जीव को अगुम कर्मों का फल भी अनन्त बार दे चुका है, तो भी वो जीव आज नाई पाप करते ही चले जाते हैं तो फिर दगड देने से ईश्वर को क्या लाभ हुआ ? जो कि अनन्त काल से इसी विडम्बना में फसा चला आ रहा है ? तथा तुम यह तो बताओ कि ईश्वर को सृष्टि रचने से क्या प्रयोजन था ?

प्रतिवादी—ईश्वर को सृष्टि नहीं रचने का क्या प्रयोजन था ?

सिद्धान्ती—वाहरे धरुड के वाया ! यह नूने अचक्षा

उत्तर दिया । क्या तुमारे इन उत्तर को सुन कर विद्वान् लोग तुमारा उपहास न करेंगे ? ईश्वर जेकर सृष्टि को रचे, तो उम की ईश्वरता ही नष्ट हो जाये, यह वृत्तान ऊपर अच्छी तरह से लिख आये हैं ।

प्रतिवादी—ईश्वर को जो सर्व शक्तिया हैं, मो भव अपना अपना फाय करनी हैं, जेमे आप देवने का काम करनी हैं, कान सुनने का काम करते हैं, तैमे ही जो ईश्वर में रचनाशक्ति है, मो गचने से ही सफल होती है, इस वास्ते जगत् रचता है ।

सिद्धान्ती—जब तुमने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना तब तो ईश्वर की सर्व शक्तिया सफल होनी चाहिये, यथा ईश्वर—१ एक सुन्दर पुत्र का रूप रच कर सर्व जगत् की सुन्दर सुन्दर स्त्रियों से भोग करे, २ चोर बन कर चोरी करे, ३ विज्ञास घानीपना करे, ४ जीव-हत्या करे, ५ भूड थोले, ६ अन्याय करे, ७ अचतार लेकर गोपियों से बल्लोल करे, ८ कुब्जा से भोग करे, ९ दूसरे की माग को भगा कर ले जाये, १० मिर पर जटा रक्खे ११ तीन आप्य बनाये, १२ घैल के ऊपर चढे, १३ तन में विभूति लगाये, १४ स्त्री को घामाग में रक्खे, १५ किसी मुनि के आगे नगा हो कर नाचे, १६ किसी को घर देये, १७ किसी को शाप देये, इसी तरें १८ चार मुग्य बना के एक स्त्री रक्खे, १९ अपनी पुत्री से भोग करे, २० सप्राप्त करे, २१ स्त्री को कोई चोर चुरा ले जाये, तो पीछे उस स्त्री के

घास्त रोता फिरे, २२ एक अपना भाई बनाये, उस को जय सग्राम में कोई शस्त्र लगे, तब भाई के दृग् में बहुत रोये, २३ अपने आपको तो अज्ञानी समझ, २४ भाई की चिकित्सा के घास्ने धैर्य की बुलाये, २५ मय कुछ पाये, २६ सब कुछ पाये, २७ नाचे, २८ कृदे २९ रोये, ३० पीटे, पीछे से ३१ निर्मल, ३२ ज्योति स्वरूप, ३३ निरहकार, ३४ मव-यापक बन गये, इत्यादिक पूर्वोक्त शक्तिया ईश्वर में हैं वा नहीं ? जेकर हैं तो इनने पूर्वोक्त सब काम ईश्वर को करने पड़ेंगे । जेकर न करेगा, तब तो ईश्वर की सब शक्तिया सफल नहीं हावेंगी । और ईश्वर महा दुःखी हो जायेगा । पर्या कि जिस ने नेत्र तो पाये हैं, अर देखना उस को मिले नहीं, तो धो कितना दुःखी होता है यह सब कोई जानता है । जेकर कहोगे कि पूर्वोक्त अयोग्य शक्तिया ईश्वर में नहीं हैं, तब तो सर्व शक्तिमान् ईश्वर है, ऐसे कदापि न कहना चाहिये । जेकर कहो कि योग्य शक्तियों की अपेक्षा में हम सब शक्तिमान् मानते हैं, तब तो जगत् रचने वाली शक्ति को भी अयोग्य ही मानो । यह भी परमात्मा में नहीं है । इस शक्ति की अयोग्यता के विषय ऊपर लिख आये हैं, तथा ह भव्य ! जब ईश्वर ने प्रथम ही सृष्टि रची थी, तब स्त्री पुरुषादि तो थे नहीं, तब माता पिता के बिना ये मनुष्य क्यों कर उत्पन्न हुये होंगे ?

प्रतिवादी — जब ईश्वर ने सृष्टि रची थी, तब ही बहुत से पुरुष, अर स्त्री, बिना ही माता पिता के रच दिये गये

ये । उनके आगे फिर गर्भ से उत्पन्न होने लगे ।

सिद्धान्ती—यह अप्रामाणिक कहना कोई भी विद्वान् नहीं मानेगा, क्योंकि माता पिता के बिना कभी पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकता । जे कर ईश्वर ने प्रथम माता पिता क बिना ही पुरुष स्त्री उत्पन्न कर दिये थे, तो अब भी घड़े घड़ाये, बने बनाये, स्त्री पुरुष क्यों नहीं भेज देता ? गर्भ धारण कराना, स्त्री पुरुष का मैथुन कराना, गर्भवास का वृत्त भोगाना, योनि यन्त्र द्वारा रैच के निकालना, इत्यादि सब कुछ वह कैसे करे देता है ? अनन्त बार ईश्वर ने सृष्टि रची, अरु अनन्तबार प्रलय करी, तब तो ईश्वर थका नहीं, तो क्या मनुष्यों ही के बनाने में उस को थकेवा चड गया ? जो कि अब वो घड़े घड़ाये, बने बनाये, नहीं भेज सकता ? यह कभी नहीं हो सकता, कि माता पिता के बिना पुत्र उत्पन्न हो जाये । इस हेतु से भी जगत् का प्रवाह अनादि काल से इसी तरे तारतम्य रूप से चला आता सिद्ध होता है ।

प्रतिवादी—जे कर ईश्वर सर्व वस्तु का कर्त्ता न होये, अरु जीव ही कर्त्ता होये, तब तो जीव आपही शरीर धारण कर लेवेगा, अरु शरीर को कदे भी नहीं छोडेगा, अरु अपने आप को जो अच्छा लगेगा सो करेगा । फिर तो कभी मरेगा नहीं ।

सिद्धान्ती—जो तुमने कहा है, सो सर्व कर्मों के बराबर है, जीव के अधीन नहीं । जे कर कहो कि कर्म ही 'ने जीव'...

ने ही करे थे, तब जीव ने क्यों अशुभ कर्म करे ? क्योंकि कोई भी अपना बुरा करने में नहीं है । इस का उत्तर तो ऊपर दे दिया गया है, परंतु तुमारी समझ थोड़ी है इस वास्ते नहीं समझे । जीवों की शुभ अशुभ जो जो अवस्था है, सो सब कर्मों का फल है । तथा जीव जो है, सो कर्म करने में तो प्रायः स्वतंत्र ही है, परंतु फल भोगने में स्वयं नहीं । क्योंकि जैसे कोई जीव धनुष से तीर चलाने में तो स्वतंत्र है, परंतु उस चले हुए तीर को पकड़ने में समर्थ नहीं । तथा कोई जीव विष के खाने में तो म्बवश है, परंतु उस विष के वेग को रोकने में वह समर्थ नहीं । ऐसे ही जीव कर्म तो स्वतंत्रता से प्रायः करता है, परंतु फल भोगने में जीव परवश है । जैसे वर्तमान समय में रेल और तार को जीवों ने ही बनाया है, तथा वो ही उस को चलाते हैं । परंतु उस चलती हुई रेल तथा तार के वेग को [जितना चिर उस काल यत्र की प्रेरणा शक्ति नहीं हटती, उतना चिर] कोई जीव नहीं रोक सकता । ऐसे ही कमफल के वेग को रोकने में जीव भी समर्थ नहीं है । तथा जीव को भयातर में कौन ले जाता है ? तथा जीव के शरीर की रचना कौन करता है ? आखों के नाना प्रकार के रंग बरंग पड़दे तथा हाड़, चाम, लोह, धीर्य इत्यादि की रचना कौन करता है ? इसका पूर्ण स्वरूप, जहा पर कम की १४८ प्रकृतियों का स्वरूप बिरेंगे, तथा से जान लेना । इस वास्ते जगत

का कर्ता ईश्वर किसी तरे भी सिद्ध नहीं होता। विशेष करके जगत्कर्ता ईश्वर का गडन देखना होये, तो सम्प्रतितर्क, द्वादशान्वयचक्र म्याद्वादरत्ताकर, अने फानवयपताका, शास्त्रार्तासमुच्चय—स्याद्वादकल्पलता, म्याद्वादमजरी, म्याद्वादरत्ताकराप्रतारिका, सूत्रवृत्ताग, नदी-सिद्धान्त, गग्रहम्नीमहाभाष्य, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणपरोक्षा, प्रमाणमोमासा, आप्नमोमासा, प्रमेयकमलमार्तड, न्यायाघतार, धर्मसग्रहणी, तत्त्रयभाष्य टीका, पद्दर्शनसमुच्चय, इत्यादि जैनमत के ग्रन्थ देख लेने इस घास्ते जो कामो, क्रोधो, छली, धूर्त, परस्त्री, स्वम्त्री का गमन करने वाला, नाचने वाला, गाने बजाने वाला रोने पीटने वाला, भस्म लगाने वाला, माला जपने वाला, सग्राम करने वाला, तथा डमरु आदिक धाजे बजाने वाला, वर वा शाप के देने वाला, बिना प्रयोजन अनेक प्रकार के झरों में फसने वाला, इत्यादिक जो अठारह दूषणों सहित है, सो कुट्टेव है। उम को ईश्वर मानना सोई मिथ्यात्व है। इन कुट्टेयों को मानने वाले कि पत्थर की नाओं पर बैठे हुए हैं। यह लिखने का प्रयोजन मात्र इतना ही है, कि कुट्टेय को कदे भी अहत भगवत परमेश्वर करके नहीं मानना।

इति श्रीतपागच्छीयमुनि श्रीबुद्धिर्विजय शिष्य मुनि

आनन्दाविजय आत्मारामविरचते जैनतत्त्वाददेश

द्वितीय परिच्छेद संपूर्ण

तृतीय परिच्छेद

अत्र तीसरे परिच्छेद में गुरुतर्य का स्वरूप लिखते हैं —

महात्रतधग धीरा, भैक्षमात्रोपजीविन ।

सामायिकस्था धर्मोप-देशका गुरो भता ॥

[या० शा०, प्र० २ श्लो ८]

अर्थ —अहिंसादि पाच महावन का धारणे-पालने वाला होये,अरु जव आपदा आ पडे तव धीरता-सुगुरु का साहसिकपना रक्षये-अपने जो वन है, तिनको स्वरूप दूषण लगा के फलकित न करे, तथा घतालीस दूषण रहित भिक्षावृत्ति-माधुक्रीवृत्ति करी अपने चारित्रधर्म तथा शरीर के निर्वाह वास्ते भोजन करे, भोजन भी पूरा पेट भर कर न करे भोजन के वास्ते अन्न, पान रात्रि कों न रक्षे, तथा धम साधन के उपकरणों को वज के और कुछ भी सग्रह न करे, तथा धन, धान्य सुरण, रूपा मणि मोनी, प्रशालादि कोई परिग्रह पास में न रक्षे । तथा राग, द्वेष के परिणाम से रहित, मध्यस्थ वृत्ति हो कर, सदा धर्त्त, तथा धर्मोपदेशक—जीवों के उद्धार वास्ते सम्प्रग ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म का परमेश्वर अर्हत, भगवत ने स्याद्वाद-अनेकारूप से निरूपण किया है; उस धम्म वा भय जीवों के ताई उपदेश करे, किन्तु ज्योतिष शास्त्र

अष्ट प्रकार का निमित्त शास्त्र, तथा वैद्यक शास्त्र धन उत्पन्न करने का शास्त्र, राज सेवा आदिक अनेक शास्त्र, जिन में कि धर्म को प्राधा पहुँचे, निन का उपदेशक न होये। क्यों कि लौकिक जो शास्त्र है, सो तो बुद्धिमान् पुरुष वर्त्तमान में भी बहुत सीखते हैं। तथा नवीन नवीन अनेक सासारिक विद्या के पुम्नक यनाते हुए चले जाते हैं। तथा अङ्गरेजों की बुद्धि को देख कर बहुत से इस देश के लोक भी सासारिक विद्या में निपुण होते चले जाते हैं। इस वास्ते साधु को धर्मोपदेश ही करना चाहिये, क्योंकि धर्म ही जीवों को प्राप्त होना कठिन है। गुरु के ऐसे लक्षण जन मत में हैं।

तथा प्रथम जो पाच महाव्रत साधु को धारणो कहे हैं, सो कौन से वे पाच महाव्रत हैं? सो कहते हैं —

अहिंसासूनुतास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा ।

पचभिः पचभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० १६]

अर्थ — १ अहिंसा-जीवदया, २ सूनुत-सत्य बोलना
 ३ अस्तेय-लेने योग्य वस्तु को बिना दिये न
 लेना, ४ ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य का पालना, ५
 अपरिग्रह-सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग,
 इन पाचों को महाव्रत कहते हैं। तथा इन
 पाच महाव्रतों में एक एक महाव्रत की पाच पाच भावना

हैं। यह पाच महाव्रत अरु पच्चीस भावना, इन का पालना मोक्ष के वास्ते है —

अत्र इन पाचों महाव्रतों में से प्रथम महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं —

न यत् प्रमादयोगेन, जीवितव्यपरोपणम् ।
प्रसाना म्थावराणा च, तदहिंसाव्रत मतम् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २०]

अर्थ — प्रस-ह्रीन्द्रियादिक जीव, अरु स्थावर-१ पृथ्वी-काया २ अप्काया ३ अग्निकाया, ४ वायुकाया, ५ धनस्पतिकाया, इन सर्व पूर्वोक्त जीवों को प्रमाद धर हो कर मारे नहीं अर्थात् प्रमाद—राग, द्वेष, असावधानपना, अज्ञान, मन घबन काया का अचलपना, धर्म के विषे अनादर, इत्यादि के वर हो कर जो जीवों के प्राणों का अतिपात-विनाश करना, उस के त्याग का नाम अहिंसा व्रत है ।

अब दूसरे महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं —

प्रिय पथ्य वचस्तथ्य, सूतृत्रतमुच्यते ।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रिय चादित च यत् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २१]

अर्थ — जिस वचन के सुनने से दूसरा जीव हर्ष पावे, तिस वचन को प्रिय वचन कहिये, तथा जो वचन जीवों को

पथ्यकारा होवे-परिणाम मे सुन्दर होवे-एताप्रता जिम वचन से जीव का भागे को बहुत सुधार होवे, तथा जो वचन सत्य होवे, ऐसा जो वचन गोलना, सो सूनुतव्रत कहिये । इस व्रत के विषे बहुत विशेष लिखते हैं । जो वचन व्यवहार में चाहे सत्य ही होवे, परन्तु जो अगले-दूसरे जीव को दुःखदायी होवे, ऐसा वचन न बोले, जैसे काणे को काणा कहना, चोर को चोर कहना, कुष्टी को कुष्टी कहना, इत्यादिक जो वचन दूसरे को दुःखदायी होव, सो न बोले । तथा जो वचन जीवों को भागे अनर्थ का हेतु होवे, वसुराजावत्, सो भी न बोले । जेकर यह पूर्वोक्त दोनों वचन साधु बोले, तत्र तो उस के सूनुतव्रत में कलक लग जाये, क्यों कि यह दोनों वचन भ्रूठ ही में गिने हैं ।

अथ तीसरा महाव्रत लिखते हैं —

अनादानभद्रत्तस्या-स्तेयव्रतमुदीरितम् ।

गङ्गा. प्राणा नृणामर्थो, हरता त दृता द्वि ते ॥

[यो० शा० प्र० १ श्लो० २०]

अर्थ —अदत्त मालिक के बिना दिये ले लेना, तिस का जो नियम अर्थात् त्याग है, सो अस्तेयव्रत कहिये, अर्थात् व्रत इसी का नामांतर है । यह अदत्तादान चार प्रकार का है—१ जो साधु के लेने योग्य—अचित्त (जीव रहित) वस्तु अर्थात् आहार, वृण, काष्ठ, पापाणादिक वस्तु

को स्वामी के बिना पूछे ले लेना, सो स्वामी अदत्त है। २ कोई पुण्य अपने भेड़, बकरी, गौ प्रमुख जीव को मूल्य लेकर किसी हिंसक प्राणी के पास खेच देवे अथवा बिना मूल्य ही दे देवे सो जीव अदत्त है। क्योंकि यद्यपि लेने वाले ने तो बदले की वस्तु देकर ही उस जीव को लिया है परन्तु जीवने अपनी इच्छा से अपना शरीर नहीं दिया, इस वास्ते यह जीव अदत्त है। ३ जो जो वस्तु—आधाकर्मादिक आहार, अचित्त-जीव रहित भी है, अरु दीनी भी उस वस्तु के स्वामी ने है, परन्तु तीर्थंकर भगवत ने निषेध करी है, फिर जो उस वस्तु को ले लेना, सो तीर्थंकर अदत्त। ४ वस्त्र आहारादिक वस्तु निर्दोष है, अरु उस वस्तु के स्वामी ने वो दीनी है, अरु तीर्थंकर भगवत ने निषेध भी नहीं करी है, परन्तु गुरु की आज्ञा के बिना उस वस्तु को जो ले लेना, सो गुरु अदत्त। इस महाव्रत में ५ चार प्रकार का अदत्त न लेना। जितने व्रत नियम हैं वे सर्व अहिंसाव्रत की रक्षा वास्ते बाड़के समान हैं। यह पूर्वोक्त तीसरे व्रत का जो पालन है सो अहिंसाव्रत ही की रक्षा करना है। अरु जो तीसरा महाव्रत न पाले तो अहिंसा व्रत को दुष्प्रण लगे है। यही बात कहते हैं। 'याह्या' प्राणा नृणामर्थो — यह अणु-लक्ष्मी जो है सो मनुष्यों के गहिरले प्राण हैं। जब कोई किसी की चोरी करना है ता निश्चय कर के वो उस के प्राणों ही का नाश करता है। इसी हेतु से चोरी करना महा

पाप है। सर्व प्रकार की चोरी का जो त्याग करना है, इसी का नाम अदत्तादान त्यागरूप महाव्रत है।

अथ चाँये महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं—

दिव्यौदारिककामाना कृतानुमतिकारितैः ।

मनोवाधायतस्त्यागो ब्रह्माण्डशधा मतम् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २३]

अर्थ—दिव्य-देवता के वैक्रिय शरीर सम्बन्धी जो काम भोग, अरु औदारिक-तिर्यच और मनुष्य के शरीर सम्बन्धी जो कामभोग, एतावता वैक्रिय शरीर अरु औदारिक शरीर, ए दोनों के द्वारा त्रिपय मेजना करना, और दूसरे से विषय मेजना करवाना, जो त्रिपय मेजना करे उस को अच्छा जानना, ए छ भेद मन करके, छ वचन करके, अरु छ पाया करके, एव अठारह प्रकार का जो मथुन, तिस के मेघन का जो त्याग करना, उस को ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं।

अथ पाचवा महाव्रत लिखते हैं—

सर्वभाषेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रह ।

यदि सन्स्वपि जायेत, मूर्च्छाया चित्तविप्नव ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २४]

अर्थ—सर्व-सम्पूर्णा जो भाव पदार्थ-द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप वस्तु, तिस विषे जो मूर्च्छा-ममत्व-मोह, तिसका जो त्याग, तिसका नाम अपरिग्रह व्रत कहिये। परन्तु जिस का

पदार्थों पर ममत्व है, उस के पास अपने शरीर के बिना दूसरो कोई भी वस्तु नहीं, तो भी तिस को निष्परिग्रही—परिग्रह-रहित नहीं कह सकते। किंतु जिस की मूर्खा—ममत्व सर्व वस्तु से हट जाये, उसी को निष्परिग्रह व्रत वाला कह सकते हैं। क्योंकि जिस के पास कोई वस्तु नहीं, अग्न अन्तर्दोई वस्तु की जिस को चाहना लग रही है वो त्यागी नहीं। जेकर ज्ञान द्वारा मूर्खा के त्यागे बिना ही त्यागी हो जाये, तब तो पुत्ते अरु गधे को भी त्यागी होना चाहिये। अग्न जो पुरुष ममत्व रहित है, सो निष्परिग्रही है, चाहे उस के पास बर्म साधन क कितनेफ उपकरण भी हैं, तो भी मूर्च्छा के न होने से वो परिग्रह वाला नहीं।

अत्र प्रत्येक महाव्रत की जो पांच पांच भायना हैं, तिन का स्वरूप लिखते हैं—

भायनाभिर्भायितानि, पचभि पचभि क्रमात् ।

महाव्रतानि नो कस्य, साधयत्यव्यय पदम् ॥

[यो० शा० प्र० १ श्लो० २५]

अर्थ—यह जो पांच महाव्रतों की पच्चीस भायना हैं, सो यदि कोई इन भायना करके अपने अपने पच्चीस भावनाएँ महाव्रत को रजित-वासित करे, पतायता पांच पांच भायना पूर्वक अग्रज महाव्रत पाले, तो ऐसा

कोई जीव नहीं है, जिस को ए महाव्रत मोक्षपद में न पहुँचा दें।

अथ प्रथम महाव्रत की पाच भावना लिखते हैं —

मनोगुप्त्येपणादाने-र्याभिः समितिभिः सदा ।

दृष्टान्नपानग्रहणे-नाहिंसा भावयेत्सुधीः ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २६]

अर्थ — १ मनोगुप्ति मन को पाप के काम में न प्रवर्ताने, किंतु पाप के काम से अपने मन को हटा लेवे। जेकर पाप के काम में मन को प्रवर्ताने, तो चाहे धाह्य वृत्ति करके हिंसा नहीं भी करता, तो भी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरे सातमी नरक में जाने योग्य कर्म उत्पन्न कर लेता है। इस वास्ते मुनि को मनोगुप्ति अवश्य रखनी चाहिये।

२ एपणासमिति—चार प्रकार की आहारादिक वस्तु आधाकर्मादिक वेतालीस दूषण से रहित लेवे। वेतालीस दूषण का पूरा स्वरूप देवना होवे, तो पिंडनिर्युक्ति शास्त्र ७००० श्लोक प्रमाण है, सो देख लेना। ३ आदाननित्येप—जो कुछ पात्र, दण्ड, फलक प्रमुख लेना पड़े, तथा भूमिका के ऊपर रखना पड़े, तब प्रथम नेत्रों से देख लेना, पीछे रजोहरण करके पूज लेना, पीछे से लेना और यत्न से रखना। क्योंकि विच्छु सर्पादिक अनेक जहरी जीव जेकर उस उपकरण के ऊपर धँडे होवें, तब तो काट खावें अथ दूसरा कोई विचारा

अनाथ जीव धैठा होये, तो हाथ के रूप से मर जाये, तब तो जीव हत्या का पाप लगे, इस वास्ते जो काम करना, सो यत्न पूर्वक करना । ४ ईर्यासमिति-जब चलने का काम पड़े, तब अपनी आँखों से चार हाथ प्रमाण धरती देख कर चले । जो कोई नीचा देख कर चलता है, उस को इस लोक में भी कितनेक गुण प्राप्त हो जाते हैं । प्रथम तो पग को ठोकर नहीं लगनी, दूसरे जिस क परिग्रह का त्याग न होये, उस को गिरा पड़ा पैसा, रूपक, आदि मिल जावे तीसरे लोक में यह भला मनुष्य है, किसी की वह धेटी को देखता नहीं, ऐसा प्रसिद्ध हो जाता है चौथे जीव की रक्षा करने से धर्म की प्राप्ति होती है । ५ दृष्टाग्रपानग्रहण-जो अन्न, पानी साधु लेये, सो प्रकार वाली जगा से लेये, अन्धकार वाली जगा से न लेये, क्यों कि अन्धकार वाली जगा में एक तो जीव दीप्त नहीं पड़ता, और दूसरे साप बिन्दु के काटने का डर रहता है । तथा गृहस्थ का कोई आभूषण प्रमुख जाना रहे तब उस के मन में शका उत्पन्न हो जावे, कि क्या जाने अंधेरे में साधु ही ले गया होगा । तथा अंधेरे में, सुन्दर साधु को देख कर कदाचित् कोई उत्कट विकार वाली स्त्री लिपट जाये अथ कदाचित् उस वक्त कोई दूसरा देखता होवे, तो धर्म की बड़ी निंदा होवे । तथा साधु का ही मन अंधेरे में स्त्री को देख कर विगड़ जाये, साधु स्त्री को पकड़ लेये, स्त्री पुकार कर देवे, तब धर्म की बड़ी हानि होये,

और साधुओं पर गृहस्थों की अप्रीति हो जाये । इस वास्ते अन्तरे की जगा से मानु अन्नादिक न लेये ।

अब दूसरे महाव्रत को पाच भायना लिखत हैं —

हास्यलोभभयक्रौर-प्रत्याख्यानं निरतरम् ।

आनोच्य भापणेनापि, भावयेत्सूनुत त्रतम् ॥

[या० या०, प्र० १ श्लो० २७]

अर्थ — १ हास्यप्रत्याख्यान—किसी की हासी न करे—हासी का त्याग करे, क्यों कि जो पुरुष किसी को हासी करेगा, वो अग्र्य भूट बोलेगा । तथा पर की जो हासी करनी है, सो किसी वक्त बड़े अनर्थ का कारण हो जाती है । श्री हेमचन्द्र मूरिकृत रामायण में लिखा है, कि रावण की सहिन शूर्पणखा की श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण जी ने हासी करी, तब शूर्पणखा ने क्रुद्ध हो कर अपने भाई रावण के पाम जा कर सीता का वर्णन करा । फिर रावण सीता को हर कर ले गया, तब इन में बड़ा सग्राम हुआ, जिम की आज ताई लोक नकल बनाते हैं । विचार किया जाये तो इस सारी रामायण का निमित्त शूर्पणखा की हासी है । २ लोभप्रत्याख्यान—लोभ का त्याग करना, क्योंकि जो लोभी होगा सो अवश्य अपने लोभ के वास्ते भूट बोलेगा, यह बात सर्व लोगों में प्रसिद्ध ही है । ३ भयप्रत्याख्यान—भय न करना, क्योंकि भयवत

पुरुष भी झूठ बोल देता है । ४ क्रोध प्रत्याख्यान—क्रोध का त्याग करना, क्योंकि जो पुरुष क्रोध के बराबर होगा, वो दूसरों के हुए अनहुए दूषण जरूर बोलेगा । ५ विचार पूर्वक भाषण [अनुर्वचि भाषण]—प्रथम मन में विचार कर लेते और पीछे से बोले, क्योंकि जो विचार करे बिना बोलेगा वो अवश्य झूठ बोलेगा ।

अब तीसरे महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं —

आनीच्याग्रहयाञ्जा-भीक्ष्णाग्रहयाचनम् ।

एतापन्मात्रमेतैत-दित्यवग्रहधारणम् ॥

समानधार्मिकेभ्यश्च, तथावग्रहयाचनम् ।

अनुज्ञापितपानान्ना-मनमस्तेयभावना ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २८ २६]

अथ — १ जिस मकान में साधु ने ठहरना होये, प्रथम उस मकान के स्वामी की आज्ञा लेनी अर्थात् घर का स्वामी यही है ऐसा जान कर आज्ञा लेनी । जेकर स्वामी की आज्ञा के बिना रहे तो चोरी का दोष लगे और कदाचित् घर का स्वामी क्रोध करके साधु को वहां से निकाल देवे, तो साधु रात्रि में कहा जाये ? इत्यादि अनेक फलैय उत्पन्न हो जाते हैं इस वास्ते मकान के स्वामी की आज्ञा लेकर उस के मकान में रहना । २ उपाध्य के स्वामी की धार धार आज्ञा लेनी, क्योंकि कदाचित् कोई साधु रात्री

हो जाये, तब जगल-पुरीष, मूत्र करने को जगा जरूर चाहिये । गृहस्वामी की आज्ञा के बिना, उस के मकान में मल मूत्र करे, तो चोरी लगे । उपाश्रय की भूमि की मर्यादा करना, जैसे कि इतनी जगा तक हमारे को तुमारी आज्ञा रही । जेकर मर्यादा न कर लेये तो अधिक भूमि को काम में लाने से चोरी लगती है । ४ समान धर्मी ने आज्ञा लेना-कोई समान धर्मी साधु किसी जगा में प्रथम उतर रहा है, पीछे दूसरा साधु जो उस मकान में उतरना चाहे, तो उस प्रथम साधु की आज्ञा लेये, अरु उसकी आज्ञा के बिना न रहे । जेकर प्रथम साधु की आज्ञा न लेये, तो स्वधर्मी अदत्त का दोष लागे । ५ गुरु की आज्ञा लेना-साधु अन्न, पान, वस्त्र, पात्र, और शिष्यादिक जो कुछ भी लेये, सो सर्व गुरु की आज्ञा से लेये । जेकर गुरु की आज्ञा के बिना भी कोई वस्तु ले लेये तो उस को गुरु अदत्त का दोष लागे ।

अथ चाये महाव्रत की पाच भावना लिखते हैं —

स्त्रीषट्पशुमद्वेशमा-मनकुड्यातरोज्ज्वलनात् ।

मरागस्त्रीकथात्यागात्, प्राग्रतस्मृतिपर्जनात् ॥

स्त्रीरम्यागेक्षणस्वाग-मस्कारपरिपर्जनात् ।

प्रणीतात्यगनत्यागात्, ब्रह्मचर्यं च भावयेत् ॥

अर्थ — १ जिस घर में अथवा भीत के अन्तरे—
व्यवधान में देरी अथवा मनुष्य की स्त्री वने—रह
अथवा वेजागता या सामान्य स्त्री की लेप, चित्राम प्रमुख
की मूर्ति होये तथा पद्म-नपुसक (तीसरे वेद जाला) जिस
घर में रहता होये तथा पशु, गाय महिषी, घोड़ी, बकरी,
भेड़ प्रमुख तिर्यंच स्त्री जिस मकान में रहती होये तथा
जिस मकान में काम सेवन करती स्त्री का शब्द तथा दूसरा
कोई मोह उत्पन्न करने का शब्द, तथा आभूषणों का शब्द
सुनाई देवे ऐसे—पूर्वोक्त विशेषणों में युक्त मकान में तथा
एक भीत के अन्तरे में साधु न रहे । २ सराग—प्रेम
सहित, स्त्री के साथ घातलाप न करे, अथवा सराग स्त्री
के साथ घाता न करे, तथा स्त्री के देश, जाति कुल वेप,
भाषा, स्नेह, शृंगार प्रमुख की कथा सवथा न करे। क्योंकि
जो पुरुष सराग स्त्री के साथ स्नेह सहित कामशास्त्र सवधी
कथा करेगा, सो अग्रय विकार भाव को प्राप्त होगा, इस
घाम्ते सराग स्त्री से कथा न करे । ३ दीक्षा लेने से पहिले
गृहस्थावस्था में जो स्त्री के साथ काम क्रीडा घदनचुम्बन,
चौरासी कामासनो द्वारा त्रिपय मेजन प्रमुख क्रीडा करी
होये, तिस का मन में कदे भी स्मरण न करना । क्योंकि पूव
क्रीटास्मरणरूप इधन से कामाग्नि फिर धुम्बने लग जाती
है । ४ तथा स्त्री क मुख, नयन, स्तन, जघन हीठ
प्रमुख अंगों को सराग दृष्टि से नहीं देखना, तथा अपूव

विस्मय रस के पुर में मग्न हो कर आख फाड़ कर देखना घर्जे, परन्तु जो राग रहित दृष्टि करी कदाचित् देखने में आ जावे तो दोष नहीं । तथा अपने शरीर का सस्कार करना—स्नान, विलेपन, धूप करना, नख, दात, केस, आदि का सुधार करना, कंगी सुरमा से विभूषा करनी, इत्यादिक शरीर सस्कार न करे । क्योंकि स्त्री के रमणीक अंग देखने से जैसे दीप शिखा में पतगिया जल जाता है, ऐसे कामी पुरुष भी कामाग्नि में जल जाता है । तथा शरीर जो है, सो सर्व अशुचिता का मूल है, इस का जो शृंगार करना है, सो अज्ञानता है । मलिन वस्तु की कोथली के ऊपर जे कर चन्दन घिस कर लगा दिया जाय, तो क्या वह कोथली चन्दन की हो जायेगी ? यह शरीर अन्त में मशान की राय की एक मुट्ठी बन जायेगा फिर किस वास्ते इस शरीर की शोभा करने में व्यर्थ काल खोत्रे है ? ५ प्रणीत—स्निग्ध, मधुरादि रस युक्त पदार्थों का अधिक आहार करना, तथा रूपा भोजन भी खूब पेट भर कर करना, ए दोनों ही प्रकार के आहारका त्याग करे, क्योंकि जो पुरुष निरन्तर स्निग्ध, मधुर रस का आहार करेगा, उस के जरूर विकार उत्पन्न होगा, तब तो त्रेदोदय करी घो अवश्य कुशील सेवेगा । अरु रुक्ष भोजन भी प्रमाण से अधिक नहीं करना, क्योंकि अधिक रुक्ष भोजन करने से भी काम उत्पन्न होता है, तथा अधिक खाने से शरीर को पीडा भी उत्पन्न हो जाती है, विशुचिका

प्रमुख रोग हा जाते हैं, इस घास्ने प्रमाण से अधिक भोजन भी न करे। पूव पुरुषों ने खाने की मयादा ऐसे लिखी है—

* अद्धमणस्स सव्वजणस्स कुज्जा दणस्स दो भागे ।

वाउपरिआरणद्धा, छुभाय उणय कुज्जा ॥

[पिंडनि०, गा० ६५०]

अर्थ —उदर के छ भाग की कपना करे तिन में से तीन भाग तो अन्न से भरने अरु दो भाग पानी से तथा एक भाग खाली रखना जिस से सुगे सुखे श्वास निश्वास आता रह ।

अथ पाचों महाप्रत की पाच भायना लिखते हैं —

स्फेश रमे च गध च, रूपे शब्दे च हारिणि ।

पचस्वितीन्द्रियार्थेषु, गाढ गाद्धर्थस्य वर्जनम् ॥

एतेष्वेवामनोत्रेषु, सर्वा द्वेषवर्जनम् ।

आर्किचन्यत्रतस्यैव, भायना पच कीर्तिता ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० ३०, ३३]

अर्थ —मनोहर स्पर्शादिक पाच विषयों में जो अत्यन्त गृह्णपना, स्तो घजना, अरु अमनोश स्पर्शादिक पाच विषयों में द्वेष न करना। एवं पूर्वोक्त पाच महाप्रत, अरु पक्षीस

* अद्धमणस्य सव्वजनस्य कुयात् द्रवस्य द्वौ भागौ ।

वायुप्रविचारणार्थं षट्भागमनक कुयात् ॥

भाषना जिस में हों, तथा चरण सत्तरी अरु करण सत्तरी करके जो युक्त होवे, सो जैन मत में गुरु माना है।

अब चरण सत्तरी के सत्तर भेद लिखते हैं —

वय ममणधम्म सज्जम, वेयायच्च च उभगुत्ताओ ।

नाणाइतिय तप कोहनिग्गहा इइ चरणमेय ॥

[प्र० सा०, गा० ५५२]

अर्थ—घन—पाच प्रकार का, श्रमणधर्म—दस प्रकार का, सयम—सतरा प्रकार का, वेयायत्त्य—दस प्रकार का, ब्रह्मचर्य गुप्ति—नव प्रकार की, शान, दर्शन, चरित्र, ए तीन प्रकार का, तप—चार प्रकार का, निग्रह क्रोधादिक चार प्रकार का, ए सर्व सत्तर भेद हैं। तिन में से पाच प्रकार के घन का स्वरूप तो ऊपर भाषना सहित लिख आये हैं।

अब श्रमण धर्म दस प्रकार का लिखते हैं —

सुतीय मदव अज्जव मुत्ती तपमज्जे य घोऽण्वे ।

सच्च मोय आरिच्चण च धम च जट्ठम्मो ॥

[प्र० सा०, गा० ५५४]

अर्थ—१ क्षाति—क्षमा करनी, चाहे सामर्थ्य होवे, चाहे असामर्थ्य होवे, परन्तु दूसरे के दुर्वचन को दस प्रकार का सह लेने का जो परिणाम-मनोवृत्ति है, यतिधम तिस को क्षमा कहते हैं, अर्थात् सर्वथा क्रोध का त्याग क्षमा है। २ मृदु—कोमल अहकार रहित, निसका जो भाव था कर्म, सो मार्दव—ऊचा हो कर

भी अभिमान रहित होना । ३ ऋजु—कहिये मन, ध्वन, काया करी सरल, तिस का जो भाव वा कर्म, सो अर्जव-मन, ध्वन, काया की कुटिलता से रहित होना । ४ मुक्ति—याहिर, धन्दर से तृप्णा का त्याग—लोभ का त्याग । ५ रसादिक धातु अथवा अष्ट प्रकार के कर्म जिस करके तपे सो तप वो अनशनादि भेद मे धारा प्रकार का है * । ६ सयम—आश्रय की त्यागवृत्ति । ७ सत्य—भृपावाद विरति—भूठ का त्याग । ८ शौच—अपनी सयमवृत्ति में फोड कलक न लगाना । ९ नहीं है किंचित् मात्र द्रव्य जिस के पास सो अकिंचन, तिस का भाव वा कर्म अकिंचय । १० ब्रह्म—*नगुप्ति युक्त ब्रह्मचर्य । पदय प्रकार का यति-धर्म है । तथा मतातर में दय प्रकार का यतिधर्म ऐमे भी कहते हैं—

।सुत्ती मुत्ती अजय मदव तह लाघवे तये चेय ।

* इस का उल्लेख मूल ग्रंथ में ही आगे आ जायगा ।

† उक्त गाथा प्र० सा० की ५५४ गाथा की वृत्ति में मिलती है । गाथा में आये हुए 'लाघव' तथा 'चियाग'—त्याग श द का अर्थ वृत्तिकार श्री सिद्धमेन सूरि ने इस प्रकार किया है —

“लाघव द्रव्यतोऽल्पोपोधिता भावतो गौरवपरिहार त्याग पर्वसद्दाना विमोचनं संयतेभ्यो वस्त्रादिदान वा”

अथात् बाह्य—वस्त्रादि और आभ्यन्तर—रागद्वेषादि उपाधि से रहित होना लाघव कहा जाता है । सर्व प्रकार की आसक्ति से मुक्त होना अथवा संयमगील व्यक्ति को वस्त्रादि देना त्याग माना जाता है ।

सजम चियागऽकिंचण, नोप्ये उभये य ॥

अथ सयम के सतरा भेद लिखते हैं —

पचामना विरमण, पचिन्द्रियनिगहो कमायजओ ।

दण्डत्तयस्म विरुद्धं, सत्तग्महा मजयो होड ।

पुढवि दग अगणि मास्य, उणस्मड वि ति चउ पणिदि अज्जीमा,

पेहुप्पेहपमज्जण, परिठण मणो उई काए ॥

[प्र० सा०, गा० ५५५, ५५६]

अर्थ—जिस करके कर्मों का उपासन किया जाये सो

आश्रय—हिंसा, भूट, चोरी, अग्रहा और

सतरह प्रकार परिग्रह ये पाचों कर्म बन्ध के हेतु हैं । इन

का सयम का त्याग करना पचाश्रविरमण है ।

स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन

पाच इन्द्रियों के स्पर्श आदि जो प्रिय हैं, उन में आसक्त

न होना—लम्पटता न करनी पचेन्द्रियनिग्रह है । तथा

क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों को जीतना, इन चारों

के उदय को निष्फल करना, अरु जो उदय में न आये तिस

को उत्पन्न नहीं होने देना कपायजय है ।

आत्मा की चाग्नि लक्ष्मी का अपहरण करने वाले बुद्ध-
खोटे मन, वचन और काया का नाम * दण्ड है । सो इन तीनों

* दण्डयेन—चारिणश्चर्यापहारतोऽमारीनियते एभिरात्मेति दण्डा
दुप्रयुक्ता मनोवाक्काया इत्यादि । [प्र० सा० वृत्ति]

की निवृत्ति अर्थात् इन की दृष्ट प्रवृत्ति का त्याग करना त्रिदशद्विरति है । ये सतारा भेद सयम क हैं । अथ इस के प्रकारान्तर से सतारा भेद कहते हैं । पुढवि इत्यादि— १ पृथ्वी, २ उदक, ३ अग्नि ४ पवन, ५ धनस्पति, ६ श्रोत्रिन्द्रिय, ७ श्रोत्रिन्द्रिय, ८ चतुरिन्द्रिय, ९ पञ्चेन्द्रिय, इन नव प्रकार के जीवों के, सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के करने, कराने अथ अनुमोदने—करते हुए को भला जानने का मन घचन अथ काया करी त्याग करना अर्थात् इन नव विध जीवों से पूर्वोक्त नव विध जीवों की हिंसा न करनी यह नव प्रकार का जीव सयम हुआ । प्राणी के प्राणों को विनाशने का सङ्कल्प करना सरम्भ है, जीव क प्राणों को परित्याग देना—पीड़ा देनी समारम्भ है, तथा जीवों क प्राण का जो विध्वंस करना सो आरम्भ है * । तथा १० अजीव सयम—जिस अजीव वस्तु के पास रखने से सयम कलकित हो जाये, [जैसे मांस, मदिरा, सुवण प्रमुख सर्व धातु मोती आदिक सब रत्न, अक्रुयादिक सब शस्त्र, इत्यादिक अजीव वस्तु के रखने से सयम में कलक आवे] सो अजीव वस्तु पास न रखनी । परन्तु अजीव वस्तु रूप जो पुस्तक, तथा शरीरोप करणादि हैं, सो तां प्रतिलेखना—प्रमाजना पूर्वक यतना से इस काल में रखना, क्योंकि दुःपमादि काल दोष से शुद्धि,

* सकप्यो सरभो परित्यावकरो भवे समारभो ।

आ(भो उद्भवो मुद्दनयार्णो हु सत्वे मिं ॥ [प्रव० सा० वृत्ति]

लम्बी आयु, श्रद्धा, सवेग, उद्यम, बल, ए सर्व हीन हो गये हैं, अरु विद्या कठ रहती नहीं । ११ प्रेक्षासयम—बीज, हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित स्थान को नेत्र से देख कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रिया करना । अथवा सयम मे चलायमान होने वाले साधु को हित बुद्धि करके उपदेश करना । १२ उपेक्षासयम—पाप के व्यापार में प्रवृत्त हुए गृहस्थ को ऐसे उपदेश न करना कि यह काम तुम ऐसे करो, तथा पार्श्वम्यादि को [जो साधु की समाचारी मे भ्रष्ट हो गये हैं, अरु जान बूझ कर अनुचित काम कर रहे हैं तथा किसी के उपदेश को मानने वाले नहीं] उपदेश करने में उदासीनता रखना । १३ प्रमा-र्जना सयम—देखे हुये स्थान से भी यदि वस्त्र पात्रादिक लेने या रखने पड़ें, तब भी प्रयत्न रजोहरणादिक से प्रमार्जन करके पीछे से लेना, रताना, सोना, बैठना करे । १४ परिष्ठा-पना सयम—मान पानी—गाने पीने की वस्तु, जिस में जीव पड़ गये हों तथा वस्त्र पात्र आदि जो सर्वथा काम देने योग्य नहीं रहे, उनको जीवों से रहित शुद्ध भूमि में शास्त्रोक्त विधि के अनुमार स्थापन करना । १५ मन सयम—मन में द्रोह, ईर्ष्या तथा अभिमान न करना, अरु धमध्यानादि में मन को प्रवृत्त करना । १६ वचन सयम—हिंसाकारी कठोर वचन को त्यागना, अरु शुभ वचन में प्रवृत्त होना । १७ काया सयम—गमनागमन करने में अरु अग्रज्य करने योग्य कामों

में काया को उपयोग पूर्वक प्रवृत्त करना । ए सतारा भेद सयम के हैं ।

अथ वैयावृत्य के दश भेद कहते हैं —

आयरिय उरज्झाए, तरम्मिस सेहे गिनाण साहुसु ।

समणोन्न सघ कुल गण, वेयावच्च हवइ दसहा ॥

[प्रब० सा०, गा० ५५७]

अर्थ — १ ज्ञानादिक पाच आचार को जो पाले, सो आचार्य, अथवा मोग के योग्य जो हो सो दम प्रकार का आचार्य, २ जिन क समीप आकर वित्तय वेयावृत्य पूर्वक शिष्य पढ़ें सो उपाध्याय ३ तप जो करे, सो तपस्वी, ४ जिस ने नया ही साधु पना लिया है, सो शैल, ५ ज्वरादि रोग वाला जो साधु ना ग्लान, ६ जो धर्म में गिरते को स्थिर कर सो स्थविर साधु, ७ जिस साधु की अपने समान-एक सामाचारी होवे, सो समनोद्द, ८ साधु, साध्वी, थावक अरु थात्रिका इन चारों का जो समुदाय, सो सघ, ९ बहुते सजानीय-एक सरीने गच्छ का जो समूह, सो कुल-चन्द्रादिक, [एक आचार्य की वाचना वाले साधुओं का जो समूह, सो गच्छ] कुलों का जो समुदाय, सो गण-कोटिकादि । इन पूर्वोक्त आचारादिक दसों का अन्न, पानी, घस्त्र, पात्र, मकान, पीठ, फलक, सस्तारक प्रमुख धर्म साधनों करके जो साहा

व्य-सहायता करना, शुभ्रपा करनी, उजाट—जगल में रोग होने से दवाई करनी, तथा नाना प्रकार के उपसर्गों में पालना करनी, इस का नाम घयावृत्त्य है ।

अथ ब्रह्मचर्य की नमगुप्ति कहते हैं —

वसति कहनिसिज्जिदिय, कुडुतर पुव्वस्त्रीलिय पणीए ।
अडमायाहार विभूमणाई नव उभगुत्तीओ ॥

[प्र० सा०, गा० ५५८]

अर्थ —वसति—व्रमति—स्त्री, पशु पडक इनों करी युक्त जो वसति—म्यान होये, तथा ब्रह्मचारी साधु ब्रह्मचर्य की नमगुप्ति न रहे । तिन में से प्रथम स्त्री जी है, सो दो तरह की हैं—एक देव स्त्री, दूसरी मनुष्य स्त्री, इन दोनों के भी दो भेद हैं—एक असल, और दूसरी नम्र-पापाण की मूर्ति वा चित्राम की मूर्ति, यह दोना प्रकार की स्त्री जहा न होये, तिस वसति में रहे, तथा पशु स्त्री—गौ, महिषी, घोड़ी, बकरी, भेड़ प्रमुख जित्त वसति में नहीं हों, तथा पडक—नेपुसक, (तीसरे वेद वाला) महा मोह कर्मजाला, स्त्री अरु पुरुष—इन दोनों के साथ त्रिपय मेवन करने वाला, जिम स्थान में रहता होये, तथा ब्रह्मचारी न रहे । क्योंकि इन तीनों के निवासप्रदेश में रहने से इनकी कामरुद्धक चेष्टाओं को देखते हुए ब्रह्मचारी साधु के मन में विकार उत्पन्न होने से, उसके ब्रह्म

चय को याधा पहुचने की सम्भावना रहती है। जैसे बिल्ली के साथ एक जगा पर रहने से मूषक का अनिष्ट ही होता है, उसी प्रकार इन तीनों करी युक्त वसति में रहने से शीलवान् साधु को अवश्य उपद्रव होवे।

२ कह-कथा—ब्रह्मचारी साधु केवल स्त्रियों में—मात्र स्त्री समुदाय में धमका उपदेश न करे और अकेली स्त्री को न पढ़ावे। अथवा स्त्री की कथा न करे, अर्थात् “कणादी सुरतोपचार चतुरा, लाटी विदग्धा प्रिया” इत्यादि कथा न करे, क्योंकि यह कथा राग उत्पन्न करने का हेतु है। इस याम्ते स्त्रीके वेष, जाति, कुल, घेष, भाषा, गति, विभ्रम, इङ्गित, हास्य लीला, कटाक्ष, स्नेह, रति, कलह शृङ्गार इत्यादिक जो विषयरस का पोषण करने वाली स्त्रीकथा है सो कहे न करे। जे कर करेगा, तो मुनि का मन भी अवश्य विकार को प्राप्त ह जाये।

३ निसिद्ध-निश्चया-आसन—साधु स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे तथा निस जगे मे स्त्री उठी होवे, उस आसन वा स्थान पर दो घड़ी तक साधु न बैठे क्या कि उस जगे तत्काल बैठने से स्त्री की स्मृति होती है, और स्त्री के बैठने से मलिन हुय २ शय्या वा आसन क स्पर्श से विकार उत्पन्न हो जाता है।

४ इन्द्रिय-शुद्धिय—कामी जना से याहनीय जो स्त्रियो के अगोपाग-नाफ, स्तन, अधन प्रमुल है, उन को ब्रह्मचारी साधु अपूर्व रस में मग्न हो कर अरु नेत्र फाड़ कर न देखे।

कदाचित् दृष्टि पड़ जाय, तो मन में ऐसा चिन्तन न करे, कि लोचन बड़े सुन्दर हैं ! नासिका बहुत सीधी है ! धारुणोय कुच हैं ! क्यों कि यदि स्त्री के पूर्वोक्त अङ्गोपाङ्ग का एकाग्र रस में मग्न होकर ब्रह्मचारी चिन्तन करे, तो अवश्य उस का मन मोह, तथा विकार को प्राप्त होवे ।

५ कुङ्कुमर-कुङ्कानर—जहां भीत के टट्टी के, कनात के, अतर—बीच में होने से मँथन करते हुये स्त्री पुरुष का शब्द सुनाई देवे, तहां ब्रह्मचारी—साधु न रहे ।

६. पुत्रकीलिय-पुत्रकीडित—साधु ने पूर्व—गृहस्थ अवस्था में स्त्री के साथ जो विषय भोग क्रीडा करी होये तिस को स्मरण न करे, जेकर करे, तो कामाग्नि प्रज्वलित हो जाती है ।

७ पगीय-प्रगीत—साधु अति चिकना मीठा दूध, दधि प्रमुख, अति धातुपुष्ट करने वाला आहार निरंतर न करे, जेकर करे, तो वीर्य की वृद्धि होने से अवश्य वेदोदय होगा, फिर वो जरूर विषय सेवेगा । क्यों कि यदि बोदी कोथली में बहुत रुपये भरेंगे तो वो जरूर फट जाएगी ।

८. अहमायाहार-अनिमात्राहार—रूरी मित्रा भी प्रमाण से अधिक न खाये, क्यों कि अधिक खाने से विकार हो जाता है, अरु शरीर की पीडा, विगूचिकादिक होने का भय रहता है ।

९ विभूषणाइ-विभूषणादि—शरीर की विभूषा—स्नान,

विलेपन, धूप देना अरु नख, दात नेत्र का सुन्दरता के वास्ते सस्कार करना, तथा शृङ्गार निमित्त निलम्ब लगाना, नेत्रों में सुरमा, कज्जल डालना तथा भावों से पग माजने, मातु तेल प्रमुख मसल अरु गरम पाणी से, सुकोमलता के धाम्ते बदन को धोना, इत्यादिक शरीर की विभूषा न करे। ७ नव प्रकार की जो गुप्ति सा ब्रह्मव्रत की रक्षा रूप होने से नव बाह कही जाती हैं।

अथ ज्ञानादि तीन कहते हैं। उसमें से पहला ज्ञान यथार्थ वस्तु का जो बोधक सो ज्ञान, सो ज्ञानात्तर रत्न-त्रय शीघ्र कम के क्षय तथा क्षयोपराम के होने से उत्पन्न होता है। यां शेष अरु ति क

जो द्वादशांग और द्वादशापांग, तथा प्रकीर्णक उत्तराध्ययना दिक सो सर्व ज्ञान है। तथा दूसरा दशन-जीव अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय सत्तर निजय, बन्ध, मोक्ष, इन जीवा दिक नव तत्त्व का जो स्वरूप, तिस में श्रद्धा अर्थात् ७ नव तत्त्व तथ्य हैं, मिथ्या नहीं, ऐसी तत्त्वचि, तिस का नाम दर्शन है। तथा तीसरा चारित्र-सर्व पाप के व्यापारो से ज्ञान अरु श्रद्धा पूर्वक जो निवृत्त होना, तिसका नाम चारित्र है। इस चारित्र के दो भेद हैं, एक देश विरति दूसरा सब विरति। उस में देश विरति चारित्र तो जहा गृहस्थ धर्म का स्वरूप लिखेंगे, तहा से जान लेना, अरु जो सर्वविरति चारित्र है, तिस का ही स्वरूप, इसी गुरुतत्त्व में लिखने लग रहे हैं।

अथ वारा प्रकार का तप लिखते हैं —

अणसणमूणोयरिया, वित्तिसखेयणं रसचाओ ।
 कायक्लेशो सलीणया य वज्झो तवो होइ ॥
 पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाम्भो ।
 भाणं उस्सग्गोविय, अद्भितरओ तवो होइ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५६०-५६१, दयवै० नि०, गा०, ४७-४८]

अर्थ — १ प्रत करना, २ थोड़ा गाना, ३ नाना प्रकार के अभिग्रह करने, ४ रस—दूध, दही, घृत, बाह प्रकार नैल, भीठा, पकान्न, का त्याग करना, ५ का तप कायक्लेश—धीरासन, दयडासन आदि के द्वारा अनेक तरे का कायक्लेश करना, ६ पाचो इन्द्रियों को अपने अपने धिपयों से रोचना, ७ छ प्रकार का बाह्य तप है । १ प्रथम जो कुछ अयोग्य काम करा अरु पीछे से गुरु के आगे जैसा करा था, वैसे ही प्रगट-पने कहना, आगे को फिर दो पाप न करना, अरु प्रथम जो करा है, उस की निवृत्ति के वास्ते गुरु से यथा योग्य दण्ड लेना, इस का नाम प्रायश्चित्त है । २ अपने से गुणाधिक को विनय करनी । ३ वैयावृत्य—भक्ति करनी । ४ (१) आप पढ़ना अरु दूसरों को पढ़ाना, (२) उस में सराय उत्पन्न होये, तो गुरु को पूजना, (३) अपने सीधे हुये को धार धार

याद करना, (४) जो कुछ पढ़ा है, उस के तात्पर्य को एकत्र चित्त होकर चिंतन करना, [इनका नाम अनुप्रेक्षा है] (५) धर्म कथा करनी, ए पांच प्रकार का म्नाध्याय तप है । ५ (१) ध्यात्तध्यान, (२) रौद्र ध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान, इन चारों में से ध्यात्तध्यान अरु रौद्रध्यान, ए दोनों त्यागने और धर्मध्यान अरु शुक्लध्यान, ए दोनों श्रंगीकार करने, ए ध्यान तप । ६ सर्व उपाधियों को त्याग दत्ता ध्युत्तमर्ग तप है । ऐ छ प्रकार का अभ्यतर तप है । ए सर्व मिल कर के धारा प्रकार का तप है ।

क्रोधादि निग्रह—क्रोध मान, माया, अरु लोभ, इन चार कषायों का निग्रह करना ।

पाच व्रत, दस धमणधर्म सतरा प्रकार का सयम, दस प्रकार का वैयावृत्त्य, नव प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्ति, तीन-ज्ञान दर्शन, चारित्र, धारा प्रकार का तप, अरु क्रोधादिक चार का निग्रह, ए सर्व मिल कर सत्तर भेद चारित्र के हैं, इस वास्ते इन को चरणसत्तरी कहते हैं ।

अथ चरणसत्तरी के भेद लिखते हैं —

✽ पिण्डिसोही समिई, भावण पडिमाय इदियनिरोहो ।

✽ चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पाच प्रकार की समिति, चार प्रकार की भावना, बारह प्रकार की प्रतिमा तथा पाच प्रकार का इन्द्रिय निराध, पच्चीस प्रकार की प्रतिश्लेखना, तीन प्रकार की गुप्ति, चार प्रकार का अभिग्रह, ये सत्तर प्रकार की चरण-सत्तरी हैं ॥ ~

पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव ऋणतु ॥

[ओ० नि० भा०, गा० ३, प्र० सा०, गा० ५६३]

अर्थ—पिंडविशुद्धि—आहार, उपाश्रय, वस्त्र, पात्र, ए चार वस्तु को साधु ४२ ढोप टाल कर ग्रहण करे, तिस का नाम पिंडविशुद्धि है । त्रैनालीस दूषण का जो पूरा स्वरूप देयता होये, तो भद्रबाहुस्वामिद्वारा पिंडनिर्युक्ति की मलयगिरिसूरिकृत टीका सात हजार श्लोक प्रमाण है, सो देयनी, तथा जिनवल्लभसूरिकृत पिंडविशुद्धि ग्रन्थ और उस की जिनपतिसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीनेमिचन्द्र-सूरिकृत प्रवचनसारोद्धार, तथा उस की श्री सिद्धसेनसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योग शास्त्र से जान लेना ।

अथ समिई—समिति पाच प्रकार की है, उसका स्वरूप लिखते हैं । प्रथम ईर्या समिति, सो चलने पाच समिति का ईर्या कहते हैं, अथ सम्यक्-आगम के अनुमार जो प्रवृत्ति चेष्टा करनी, सो समिति कहिये । अथ स्यावर जीवों को अमयदान के देने वाला जो मुनि है, तिस मुनि को जे कर किसी आवश्यक प्रयोजन के वास्ते चलना पडे, तो किस रीति से चलना ? प्रथम तो प्रसिद्ध रस्ते से चलना । जो रस्ता सूय की किरणों

से प्रतप्त प्रायुक्त-होये जीव रहित होये, जिस में स्त्रीपुरुष का सघट्ट-सघर्ष ७ होये, रस्तेमें जीवों की रक्षा निमित्त अथवा अपने शरीर की रक्षा निमित्त, पग के अगूठे से लेकर चार हाथ प्रमाण भूमि को आगे से देख कर चलना, इस का नाम ईयासमिति है । इन रीति से जो साधु चले, तथा दूसरा कोई काम करे, तिस काम में कदाचित् कोई जीव मर भी जाये, तो भी साधु का पाप नहीं लगता, क्योंकि उस का उपयोग बहुत शुभ है । तथा पापसहित मापा-फठोर भाषा—जैसे कि तू घूत है, कामी है, राक्षस है, ऐसे शब्दों को न बहे । जो शब्द जगत में निन्दनीय होये, सो न बोले, किन्तु पर को सुमदायी, बोलने में थोड़ा (मित) अरु बहुत प्रयोजनों को साधने वाला सदेह रहित-ऐसा वचन बोले । ८ दूसरी भाषा समिति है । तथा बैतालीस दृष्य रहित आहा रादिको जो ग्रहण करना, सो तीसरी पण्णा समिति है । तथा आसन, संस्तारक, पीठ, पलक, वस्त्र, पात्र, दंडादिक नेत्रों से देख कर उपयोग पूर्वक लेना, अरु रखना, सो चौथी आदाननिक्षेप समिति है । तथा पुरीष, प्रथमण, धूक, नाक का श्लेष्म, शरीरमल, वस्त्र, अन्न, पानी, जो शरीर का अनुपकारी होये, इन सब को जीव रहित भूमि में स्थापन करना, यह पाचमी परिष्ठापना समिति है ।

अब चार भावना लिखते हैं —

१ अनित्य भावना, २ अशरणा भावना, ३ ससार भावना, ४

पक्त्व भावना, ५ अन्यत्र भावना, ६ अगुचित्व भावना, ७
 आश्रयभावना, ८ सगरभावना, ९ निर्जराभावना,
 बाह्य भावनाएँ १० लोकस्वभाव भावना, ११ घोधिदुर्लभ
 भावना, १२ धर्मभावना है। यह चार भावना
 जिस तरे से रात दिनमें भावने योग्य हैं, तसे अभ्यास करना।
 अथ इन चार भावनाओं का किंचित् स्वरूप लिखते हैं।

पहली-अनित्यभावना कहते हैं — जिन का वज्र की तरें
 सार अरु कठिन शरीर था, वो भी अनित्य रूप राक्षस ने
 भक्षण कर लिये, तो फिर केले के गर्म की तर निःसार जीवों
 के जो शरीर हैं, सो इस अनित्य रूप राक्षस ने कैसे चर्चेंगे ?
 तथा लोग यिन्ही को तरें आनन्दित हो कर त्रियसुग्य का
 दूध की तरें स्वाद लेते हैं, परन्तु लाठी की मार को नहीं
 देखते हैं, अर्थात् त्रियसुग्य भोग कर आनन्द तो मानते हैं,
 परन्तु जन्मातरमें प्राप्त होने वाले नरकपतन रूप सकट से नहीं
 डरते हैं। तथा जीवों का शरीर तो पानी के बुलबुले की
 तरें है, अरु जीवन जो है, सो ध्वजा की तरें चंचल है, तथा स्त्री,
 परिवार, आग के झमकने की तरें चंचल हैं। अरु यौवन जो
 है, सो हाथी के फान की तरें चंचल है, तथा स्वामीपना जो
 है, सो स्वप्न श्रेणी की तरें है, अरु लक्ष्मी जो है सो चपला-
 बिजली की तरें चंचल है। इसी तरें सर्व पदार्थों की अनि-
 त्यता को विचारते हुए यदि प्यारा पुत्रादिक भी मर जाये,
 तो भी अपने मन में सोच न करे। तथा जो मूर्ख जीव सर्व

भात्र को नित्य माने है, वो तो अपनी जीर्ण पत्रों की भोंपड़ी के भग होने से रात दिन रदन करता है। तिस धाम्त तृष्णा का नाश करके ममत्त्व रहित शुद्ध बुद्धि वाला जीव अनित्य भावना को भावे ।

दूसरी अशरणाभावना का स्वरूप कहते हैं — पिता, माता, पुत्र, भार्या प्रमुख के देवते हुए आधि ध्याधि की समूह रूप शृङ्खला में बंधे हुए, तथा रदन करते हुए जीव को, कम रूप थोड़ा यम-फाल के मुख में जो फँक देते हैं, सो बड़ा दुःख है। जो लोक शरण रहित अनाथ हैं वे क्या करेंगे ? तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं, नाना प्रकार के मत्र यंत्रों को क्रिया को जानते हैं, ज्योतिष विद्या को जानते हैं तथा नाना प्रकार की औषधि, रसायन प्रमुख वैद्यक क्रियाओंमें कुशल हैं। इन सम्पूर्ण विद्वानों की उक्त क्रियायें काल के भागे कुछ भी करने को समर्थ नहीं हैं। तथा नाना प्रकार के शास्त्रों वाले, उद्भट योद्धाओं की सेना करके परिप्रे-ष्टित भी हैं, नाना प्रकार के मदभर हाथियों की बाढ़ भी है, ऐसे इन्द्र, वासुदेव, चक्रवर्ती सरीखे बलवान् भी काल के घर में रँचे हुए चले जाते हैं। बड़ा दुःख है, कि जो प्राणियों को कोई भी प्राण नहीं। तथा जो मेघ को दण्ड अथ पृथ्वी को छत्र करने में समर्थ थे, अथ थोड़ा भी जिन को फ्लेय नहीं था, ऐसे अनतधली तीर्थंकर भी लोकों को काल से बचाने को समर्थ नहीं, तो फिर दूसरा कौन समर्थ है ?

अतः न्यो, मित्र, पुत्रादिकों के स्नेहरूप भूत के दूर करने के वास्ते शुद्धमति जीव अशरण भावना को भाये ।

तीसरी सप्तार भावना कहते हैं — बुद्धिमान् तथा बुद्धि रहित, सुखो, दुःखो रूपवान् तथा कुर्ूपवान्, स्वामी तथा दास प्यारा तथा वैरी, राजा तथा प्रजा, देवता, मनुष्य, तिर्यक्, नारक, इत्यादिक अनेक प्रकार के कर्मों के घर से साग वार कर, इस सप्तार रूप अघाडे में यह जीव नाटक करता है । तथा अनेक प्रकार के पापों—महारभ, मासभक्षण, मदिरापानादिक करके महा अयकार युक्त-जहा कुछ नहीं दीखता, ऐसी नरक भूमिका में जा पड़ता है । तिहा पर अद्भुतदहन, अग्नि में जलनादि फलेश रूप महा दुःख जो जीव को होते हैं, उन दुःखों को केवली भी कथन नहीं कर सकता । यह प्रथम नरक गति कही । तथा छल, भृटादि कारणों से प्राणी तिर्येव गति में सिंह, घाघ, हाथी मृग, बैल चकरे आदि के शरीर धारण करता है । अरु तिस तिर्येव गति में जुग, वृश, वध, यथन, ताडन, रोग, हल प्रमुप में बहना-जुनना इत्यादिक जो दुःख जीव सदा सहता है, वो कौन कहने को समर्थ है ? यह दूसरी तिर्येगति कही । तथा मनुष्यों में कितने हो स्वाध, अपाध में त्रिवेक शू य हैं, मनमें लज्जा नहीं रखते हैं, अरु गम्पागम्य का विचार नहीं करते हैं । जो अनार्य मनुष्य हैं, वो तो निरतर जीवघात, मासभक्षण, चारी, परस्त्रीगमन प्रमुख कारणों करके बड़ा भारी

महा दुःखों का देने वाला पापकर्म उत्पन्न करते हैं, तथा आर्य देश में भी चण्डिय, ब्राह्मण प्रमुख जो हैं, वे भी अज्ञानता, दरिद्रता, कष्ट, दौर्भाग्य, रोगादिक करके पीड़ित हैं। दूसरों का काम करना, मानभङ्ग, अपमान आदि अनेक दुःख निरन्तर भोग रहे हैं। तथा गर्भपास का दुःख इस जीव को सय से अधिक भयकर है। किसी पुरुष के एक २ रोम में, एक ही समय एक २ सूई मारी जावे, उस से जो कष्ट होता है, उस से आठ गुना कष्ट माना के गर्भमें स्थित जीव को होता है। इस दुःखसे अन्ततः गुना द्वादश जन्म समयमें होता है। तथा बाल अरुस्था में मूत्र, पुरीष, धूलि में लोटना, अज्ञानता, जगत् की निन्दा, यौवन में धन अर्जन करना, इष्ट वस्तु का वियोग अनिष्ट वस्तु का सयोग, अरु वृद्ध अवस्था में शरीर का कापना, नेत्रों का बलहीन हो जाना, श्वास, खासी आदि रोगों करके महा दुःखी होगा इत्यादिक ऐसी कोई भी दशा नहीं, कि जिस में प्राणी सुख पावे। यह मनुष्य गति कही। तथा सम्यग् दशनादिक के पालने से जो जीव देवता होता है, सो भी शोक, विषाद, मस्सर, भय, थोड़ी अहंति ईर्ष्या, काम मद आदि करके पीड़ित हो कर, अपना आयु दीन मन होकर पूण करता है। यह देव गति कही। इस तरे से मोक्षाभिलाषी पुरुष तीसरी सत्तार भावना भावे।

चौथो एकस्व भावना कहने हैं — अकेला ही जीव उत्पन्न होता है अरु अकेला ही मृत होता है, अकेला ही काम करता

है, अथ अकेला ही फल भोगता है। तथा इस जीव ने बहुत कष्ट करके जो धन *उपाज्या है, सो धन तो खी, मित्र, पुत्र, भाई प्रमुख या जावेंगे, अथ जो पाप कर्म उपाज्या है, उस का फल तो करने वाला जीव अकेला ही नरक, तिर्यच गति में जा कर भोगता है। देगो यह कैसा आश्चर्य है। तथा यह जीव जिस देह के वास्ते रात दिन फिरता है, अथ दीनपना अवलम्बन करता है, धर्म से भ्रष्ट होता है, अपने हित को ठगाता है, न्याय से दूर होता है, सो देह इस आत्मा के साथ एक पग तक भी परमत्र में न चलेगी। तो फिर यह देह क्या करेगी? क्या साहाय्य देगी? अरु स्वजन, जो है सो अपने २ स्वार्थ में तत्पर हैं, वास्तव में तेरा कोई भी नहीं है। इस वास्ते हे बुद्धिमान् ! तू अपने हित के वास्ते धर्म करने में प्रयत्न कर। इस तरे से जीव चौथी एकत्व भावना भाये।

पाचमी अन्यत्व भावना कहते हैं—जीव इस देह को छोड़ कर परलोक को जाता है, इस वास्ते इस शरीर से जीव, मित्र है, तो फिर इस शरीर पर नाना प्रकार का सुगन्धित लेप करना ध्यर्थ है। तथा इस शरीर को कोई दृडादि करके मारे तो साधु को समता रस पीना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये। जो पुद्गल अन्यत्वभावना से भावित है, तिस को शरीर, धन, पुत्रादिक के वियोग होने से भी शाश्व नहीं होता।

* एकत्रिन् किया है।

इस तरे से जीव पाचमी भावना भात्रे ।

छठी अशुचि भावना लिखते हैं—जैसे लूण की खान में जो पदार्थ पड़ता है, वो सब लूण हो जाता है, तैसे ही इस काया में जो कुछ आहार पड़ता है, सो सर्व मल रूप होजाता है, ऐसी यह काया अशुचि है । तथा इस काया की उत्पत्ति भी अशुचि पदार्थ से ही है । रधिर अरु शुक्र इन दोनों के मिलने से गर्भ उत्पन्न होता है । यह जरा करके वेष्टित होता है । जो कुछ माता खाती है, उसी के रस से वो गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है । अस्थि मज्जा आदि धातुओं की पूर्ण है । ऐसी देह को कौन बुद्धिमान् शुचि मानता है ? तथा जो सुस्वादु शुभ गन्ध वाले मोदक, दही दूध, इच्छुरम, शालि, ओदन, द्राक्षा, पापड, अमृती, घेवर, आम्र प्रमुख पदार्थ खाये जाते हैं, सो तत्काल मलरूप हो जाते हैं । ऐसी अशुचि काया को महा मोहाध पुरुष ही शुचि माने हैं । तथा पानी के एक सौ घड़ों से स्नान करके सुगन्धित पुष्प कस्तूरी प्रमुख द्रव्यों से बाहिर की त्वचा को कितनेक काल तक मुग्ध जीव शुचि अरु सुगन्धित कर लेते हैं, परन्तु मध्य भाग में रहा हुआ त्रिण्डे का कोठा कैसे शुचि होवे ? तथा चन्दन, कस्तूरी, कपूर, अगुरु, कुकुम प्रमुख सुगन्धित द्रव्यों का शरीर के साथ जब सम्बन्ध होता है तब ए पूर्वोक्त सब धन्तु क्षण मात्र में दुग्न्ध रूप हो जाती है । फिर इस काया को कौन बुद्धिमान् शुचि मान सकता है ? ऐसे शरीर की अशुचि

रूपता का विचार करके बुद्धिमान् पुरुष, इस शरीर का ममत्व न करे। इस तरे से जीव छठी भावना भाये।

सातमी आश्रय भावना कहते हैं—मन, वचन, और कर्मा के योग करके शुभाशुभ कर्म, जो जीव ग्रहण करते हैं, तिस का नाम आश्रय है। जिनेश्वर देव कहते हैं कि *सर्व जीवों त्रिये मैत्री भावना, गुणाधिक जीव में प्रमोद भावना, अविनीत शिष्यादिक में मध्यस्थ भावना, दुग्गी जीवों में कारुण्य भावना, इन चारों भावनाओं करके जिस पुरुष का अन्त करण निरन्तर वासित होये, वो पुण्यवान् जीव धृता-लीस प्रकार का पुण्य उपाजन करता है। तथा रौद्रध्यान, आर्चध्यान, †पाच प्रकार का मिथ्यात्व, ‡सोळा प्रकार का कर्माय, पाच प्रकार का विषय, इनों करके जिनों का मन वासित है, ये जीव, ब्यासी प्रकार का अशुभ कर्म उपाजन

* सत्त्वेषु मैत्रीं शुण्डिषु प्रमोद, त्रिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममाना विदधातु देव।

[सामाधिकपाठ, श्लो० १]

† आभिप्रहिक, अनाभिप्रहिक, आभिनवेशिक, साशयिक, अनाभोगिक—ये मिथ्यात्व के पाच भेद है।

[विशेष के लिये देखो गुणस्थान क्रमारोह, प्रथम गुणस्थान]

‡ मोह, मान, माया, लोभ—इन चार कर्मायों में से प्रत्येक के प्रमश अनतानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, पत्याख्यानावरण, सज्वलन, ये चार चार भेद होने से सोलह प्रकार का कर्माय हो जाता है।

करते हैं। तथा सर्वज्ञ अर्हन्त भगवन्त, गुण, सिद्धान्त-द्वन्द्वियाग, चार प्रकार का सध, इन सब का जो गुणानुवाद-गुण कीर्तन करते हैं, अथ सत्य, हितकारी वचन बोलते हैं, वे जीव शुभ कर्म का उपाजन करते हैं। तथा तीसरा गुण सर्वज्ञ, धर्म अथ धर्मी इन सब का जो अर्थानुवाद बोलते हैं, झूठे मत का या कपोलकल्पित मन का जो उपदेय करते हैं, वो जीव अशुभ कर्म का उपाजन करते हैं। तथा जो पुरुष वीतराग देव की पुष्पादिकों में पूजा करे तथा साधु की भक्ति विधामण प्रमुख करे, तथा काया का पाप से गुन करे-सुरक्षित रखे, वो जीव शुभ कर्म का उपाजन करता है तथा जो जीव, मांस भक्षण, शुरुपान जीवघात, चारी जुआ, परस्त्रीगमनादिक करे, वो अशुभ कर्म उपाजन करता है। ए अशुभ कर्म से मन, वचन, काया करके शुभाशुभ आश्रय उपाजन करता है। इस प्रकार से यह आश्रय भावना जो जीव भावे है, सो अनर्थ परंपरा को त्याग देता है, अथ महानन्दस्वरूप, दुःख दायानल को मेष समान अथ मोक्ष की देनेहारी शर्माथलि (सुख परंपरा) अङ्गीकार करता है। इस तरे से सातमी आश्रय भावना भावे।

आठमी सवरभावना कहते हैं—आश्रयों का जो निरोध करना, तिस को सवर कहते हैं, सो सवर दो प्रकार का होना है, एक देव सवर। दूसरा सब सवर उस में सब प्रकार से सवर तो अयोगी कैवली में होता है, अथ जो देव से

सवर है, सो एक दो प्रमुख आश्रय के निरोध करने वाले में होता है। फिर यह सप्त दो प्रकार का है, एक द्रव्यसप्त, दूसरा भावसप्त। आश्रय करके जो कर्म पुष्टल जीव ग्रहण करता है, तिनका जो देश से वा सब प्रकारसे छेदन करना, सो द्रव्यसप्त, अरु जो भवहेतु क्रिया का त्याग, सो भावसप्त है। मिथ्यात्व, कषाय प्रमुख आश्रयों को जो बुद्धिमान् उपाय करके निरोध करे, आर्त्त और रौद्र ध्यान को वर्जें, धर्म ध्यान और शुद्ध ध्यानको ध्याये, क्रोध को क्षमा करके जीते, मान को मृदु भाव करके जीते, माया को सरलता करके जीते, लोभ को सन्तोष करके जीते, इन्द्रियों के त्रिषय-इष्टा निष्ट को रागद्वेष के त्यागने से जीते। इस प्रकार जो बुद्धिमान् सप्त भावना भावे तो स्वर्ग मोक्ष रूप लक्ष्मी अश्रय उस के वशी भूत हो जाती है।

नयमी निर्जरा भावना लिखते हैं—सप्तार को हेतुभूत जो कर्म की सतति है, तिस को अनिराय करके जो हानि करे, तिस का नाम निर्जरा है। सो निर्जरा दो प्रकार की है। एक सकाम निर्जरा, दूसरी अकाम निर्जरा, इन दोनों में से जो सकाम निर्जरा है, सो उपरोक्त चित्तवाले साधु को होती है, अरु अकाम निर्जरा शेष जीवों को होती है। ए दोनों निर्जरा उदाहरण से कहते हैं। कर्म का पाक स्वयमेव होता है, अरु उपाय से भी होता है, जैसे आम्र का फल स्वयमेव मृत् की डाली में लगा हुआ ही पक जाता

है। अरु षोडशवादि के पलाल तथा गर्त में प्रक्षेप करने-डालने से भी पण हो जाता है ऐसे ही निर्जरा भी दो प्रकार की हैं। हमारे ऋतों की निर्जरा होवे ऐसे आशय वाले पुरुष जो तप आदि करते हैं, उन्हीं के सकाम निर्जरा होती है। अरु अज्ञेन्द्रिय जो जीव हैं, तिनको विशेष ज्ञान तो नहीं परन्तु शीतोष्ण, वषा, दहन, छेदन, भेदनादि के द्वारा सदा कष्ट भोगने से जो कर्म की निर्जरा होती है, उस का नाम अकाम निर्जरा है। ऐसे तप आदि करके जो निर्जरा की वृद्धि करे, सो नवमी निर्जरा भावना जाननी।

दशमी लोकस्वभाव भावना कहते हैं—यह पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य ग्रह, नक्षत्र, तारे अरु लोकाकार, नरक, स्वर्ग आदि सर्व को मिला के एक लोक कहने में आता है। तिस सम्पूर्ण लोक का आकार जैन मत के सिद्धांत में ऐसे लिखा है। जैसे कोई पुरुष जामा पहिर के, कमर में दोनों हाथ लगा कर खड़ा होवे, तय जैसा उस का आकार है, ऐसा ही लोक का आकार है। जो पद्द्रव्य करके पूर्ण है, उत्पत्ति स्थिति, अरु व्यय, इन तीनों स्वरूपों करी युक्त है, अनादि अनंत है, किसी का रचा हुआ नहीं है, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यग् लोक, इन तीन स्वरूपों में बटा हुआ है। सब जीव, पुद्गल इसी के अन्दर हैं बाहिर नहीं। लोक से बाहिर तो केवल एक आकार ही है, वो आकार भी अनंत है। इसी आकार का नाम जैन शास्त्रों में अलोकाकार लिखा है। अधोलोक

में न्यारी न्यारी नीचे ऊपर सात पृथ्वी हैं, उन में नरकवासी जीव रहते हैं। तथा किसी जगें भवनपति अरु व्यतर भी रहते हैं। निरद्वे लोक में मनुष्य, तिर्यंच और व्यतर भी रहते हैं। ऊर्ध्व लोक में देवता रहते हैं। विशेष करके जो लोकस्वरूप देखता होय, तो लोकनाडीद्वारिगतिका से तथा लोकप्रकार ग्रन्थ से जान लेना। इस तरे लोक के स्वरूप का जो चिंतन करना है, सो दशमी लोक स्वभाव भावना है।

ग्यारवीं बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, इन में अपने करे हुए हिए कर्मों करके जीव भ्रमण करता है। इस भयानक ससार में अनतानत पुद्गलपरावर्त्तन करता हुआ यह जीव अकाम निर्जरा करके, अरु पुण्य उपाजन करके, इंद्रिय, प्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय रूप त्रस भाव को पाये है। फिर आर्यक्षेत्र, सुजाति, भला कुल, रोगरहित शरीर, सपदा, राज्यसुख, हलके कर्म और तरुणत्व के विवेचन करने वाली, बोध बीज के बोने वाली, कर्मक्षय करके मोक्ष सुखों की जननी, ऐसी श्री सर्वज्ञ अर्हत की देवता मिलनी बहुत दुर्लभ है। जेकर जीव एक बार भी सम्यक्स्वरूप बोधि को प्राप्त कर लेता, तो इनने फाल तक कदापि ससार में पर्यटन न करता। जो अतीत काल में सिद्ध हुए, जो वर्त्तमान में सिद्ध होते हैं, अरु जो अनागत काल में सिद्ध होंगे, वे

सब, बोधि का ही माहात्म्य है । इस वास्ते भव्य जांव को बोधि की प्राप्ति में अवश्य यत्न करना चाहिये, क्योंकि कितनेक जीवों ने अनंत धार द्रव्य चारित्र पाया है, परन्तु बोधिके बिना सब निष्फल हुआ ।

चारमी धम भावना लिखते हैं—धम कथा के कथन करने वाला अर्हन् है । जो पुरुष परहित करने में उद्यत है, अरु वीतराग है, वो किसी घात मं भी भ्रूठ न बोलेगा । इस वास्ते उसके कहे हुये धर्म में सत्यता है । केवल ज्ञान करके लोकालोक को प्रकाश करने वाला तो एक अर्हन् ही हो सकता है, दूसरा नहीं । ज्ञात्यादि दश प्रकार का धम जिनेश्वर वं ने कहा है । उस धम करके जीव, ससार समुद्र में डूबता नहीं, किन्तु उस के आराधन से वह ससार समुद्र को तर जाता है । जो अर्हन्त की वाणी है, सो पूर्वापर अविरोध है, अरु तिन के वचनों में हिंसा का उपदेश नहीं । तथा कुतोरियों के जो वचन है सो सर्व सद्गति के विरोधी हैं, क्योंकि यज्ञादिकों में पशुवध रूप हिंसा क उपदेश करके फलकित हैं, पूर्वापर विरोधी हैं निरर्थक वचन भी बहुत हैं । इस वास्ते कुतोरियों जिसको धर्म कहते हैं या धर्म नहीं किन्तु धर्माभास है इस हेतु से तिन का वचन प्रमाण नहीं हो सकता । अरु जो जो कुतोरियों के शास्त्रों में वहाँ कहीं दया सत्यादिकों का कथन है, सो भी कहने मात्र ही है परन्तु तत्त्वमें वो भी कुछ नहीं है, क्योंकि इन का यथाथ स्वरूप वे जानते

नहीं हैं, अरु यथार्थ पालते नहीं हैं । प्रथम तो उन शास्त्रों के जो उपदेशक हैं, वे ही कामाग्नि में प्रज्वलित थे, यह बात सर्व सुप्त जनों को विधात है । इम धाम्ने अर्हत भगवन्त ही सत्यार्थ के उपदेशक हैं । तथा यडे २ मद्भर हाधियों की घटा सयुक्त जो राज्य का पावना, और सर्व जनों को आनन्द देने वाली सपदा का पावना, तथा जो चन्द्रमा का नरे निर्मल गुणों के समूह का पावना, अरु उत्कृष्ट सौभाग्य का विस्तार पावना, यह सर्व धम ही का प्रभाव है । तथा समुद्र जो पृथिवी को अपनी कल्लोळों से बहाना नहीं है, तथा मेघ जो सब पृथिवी को रेलपेल नहीं करता, अरु चन्द्रमा, सूर्य जो उदय होते हैं, सर्व अन्धकार का विन्त्रेद करते हैं, सो सर्व जयवन्त धर्म का ही प्रभाव है । जिस का भाई नहीं, जिस का मित्र नहीं, जिस रोगी का कोई वैद्य नहीं, जिस के पास धन नहीं, जिस का कोई नाथ नहीं, जिस में कोई गुण नहीं, उन सर्व का भाई, मित्र, वैद्य, वन, नाथ, गुणों का निवान धर्म है । तथा यह जो अर्हत का कथन किया हुआ धम है, सो महापथ्य है, ऐसे जो भयजीव मन में ध्याये, सो धम में दृढतर होवे । परु हो निर्मल धर्म भावना को निरन्तर जी जीव मन में ध्याये, सो भय अशेष पाप कम तारा करके अनेक जीवों को उपदेश द्वारा सुखी करके परम पद को प्राप्त होना है, तो फिर जो बारा ही भावना को भाये, तिस को परमपद की प्राप्ति होने में क्या आश्चर्य है ? यह

धारा भावना समाप्त हो गई है ।

अथ धारा प्रतिमा लिखते हैं — एक मास में लेकर सात मास पर्यंत एक एक मास की वृद्धि जान लेनी, ए मास प्रतिमा होती है । जैसे प्रथम एक मास की, दूसरी दो मास की, ऐसे ही एक एक मास की वृद्धि से सात मास पर्यंत सात प्रतिमा हानी हैं, और धाराती सात दिन रात को, नवमी मास दिन रात की दशमी सात दिन रात की अग्या रमी एक दिन रात की अरु बारमी प्रतिमा एक रात्रि प्रमाण जाननी ।

अथ जो साधु, इन धारा प्रतिमा को अंगीकार कर सकता है, तिस का स्वरूप लिखते हैं, “सहननधृतियुक्त” — तथा जिम का सहनन वञ्चभ्रमनाराच होये, सो परिपह सहने में अत्यन्त समथ होता है । ‘धृतियुक्त’ — धृति-चित्त का स्वस्थपना, तिस करके जो युन होवे सो धृतियुक्त, वो तो रति, अरति करके पीडित नहीं होता है, ‘महासत्त्व’ — जो महामात्त्विक होये, सो अनुकूल, प्रतिकूल उपसंग सहने में धियादको प्राप्न नहीं होता है । “भावितात्मा” — और जो सद्भावना करके वासिन अन्त करण होये, तिस की भावना पाच हैं तिन का विस्तार, व्यवहारभाष्यटीका में जानना । ए भावना कैसे भाये ? सो कहते हैं — ‘सम्यग्गुरुणाऽनुज्ञात’ — जैसे आगम में हैं, तथा जैसे गुरु आचार्य आशा देवे । जेकर गुरु ही प्रतिमा अंगीकार करे, तदा नरीन आचार्य स्थापन

करके उस की आज्ञा से, तथा गच्छ की आज्ञा लेकर करे । तथा प्रथम अपने गच्छ में ही रह कर प्रतिमा अंगीकार करने का प्रतिकर्म करे । सो प्रतिकर्म यह है — मासादिक सात जो प्रतिमा हैं, तिन का प्रतिकर्म भी उतना ही है, वर्षा काल में ए प्रतिमा नहीं अङ्गीकार करी जाती है । अरु प्रतिकर्म भी वर्षा काल में नहीं करना । तथा आदि की दो प्रतिमा एक वर्ष में होती हैं, तीसरी एक वर्ष में, चौथी एक वर्ष में शेष पाचमी, छठी, सातमी, इन तीनों प्रतिमाओं का एक वर्ष में प्रतिकर्म, एक वर्ष में प्रतिपत्ति, ऐसे नव वर्ष में आदिकी सात प्रतिमा समाप्त होती हैं ।

जो यह प्रतिमा अङ्गीकार करता है, उस का कितना श्रुतज्ञान होता है ? उस का श्रुतज्ञान किंचित् न्यून दश पूर्व तक होता है । और जिस को सम्पूर्ण दश पूर्व की विद्या होती है, उस का वचन अमोघ होता है । तथा उस के उपदेश से बहुत से भव्य जीवों का उपकार अरु तीर्थ की वृद्धि होती है । इस कार्य में बाधा न आवे, इस आस्ने दो प्रतिमा आदि कल्प अङ्गीकार नहीं करना * । अरु प्रतिमा का अङ्गीकार करने वालों को जयन्त्य श्रुतज्ञान नयमे पूर्व की तीसरी वस्तु-आचार वस्तु तक होवे । यह ज्ञान सूत्र तथा अर्थ दोनों ही रूप से होता है । जो इस ज्ञान से रहित है, वो निरतिशय

* सम्पूर्णदशपूर्वधरो हि अमोघवचनत्वाद्दर्शनाया भव्योपकारित्वेन तीर्थवृद्धिकारित्वात्प्रतिमादिकल्प न प्रतिपद्यते । [प्र० सा, ३१०/५७६ की वृत्ति]

शानी होने से कालादिक का नहीं जानना है। इस के अतिरिक्त प्रतिमाधारी के सम्बन्ध में शरीर की सार म्भाल का त्याग, देवतादिक का उपसर्ग सहना, जिन कल्पों की नई उपसर्ग सहने तथा एषणापिंडप्रहण के प्रकार, भिक्षाप्रहणविधि गच्छ में बाहिर रहना इत्यादि शेष ध्यान देखना होवे तो प्रयत्नसारोद्धार की गृहहृत्ति देख लेनी। ए वारा प्रतिमा कही।

अथ इन्द्रियनिरोध कहते हैं—“स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्र चेति” यह पाच इन्द्रिय है। अरु स्पर्श, इन्द्रियनिरोध रस, गन्ध, ध्वनि, रश्मि, ए पाच, पूर्वोक्त पाच इन्द्रियों के यथाक्रम विषय हैं, इन पाचों विषयों का निरोध करना क्योंकि जो इन्द्रियें वरा में न होंगी तो बड़ी अनर्थकारी होंगी, अरु क्लेशसागर में गेरेंगी।
‡ यद्भ्यधायि —

सक्त शब्दे हरणि, स्पर्शे नागो रसे च वारिचर ।

कृपणपतगो रूपे, भ्रमरो गधेन च विनष्ट ॥१॥

पचसु सक्ता पच, विनष्टा यत्रागृहीतपरमार्था ।

‡ [नीतिकारों ने] कहा है कि —

हरिण शब्द में हस्तो स्पर्श मं, मीन रस मं, दीन पतगा रूप मं, और भ्रमर सुगन्ध में आसक्त होन से नष्ट हो जाता है ॥१॥

इन पृथक् पृथक् पाचों विषयों में आसक्त हुए हरिण इत्यादि पाचों

एक पचसु सक्तः, प्रयाति भस्मान्तता मृढः ॥२॥

तुरगैरिव तरलतरै—दुर्दातैर्गिन्द्रियैः समाकृष्य ।

उन्मागं नीयते, तमोघने दुःखदे जीवा ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणा जये तस्मा घ्नः कार्यं स्रुद्धिभि ।

तज्जयो येन भविना, परत्रेह च शर्मणे ॥ ४ ॥

[प्र० सा०, गा० ५८६ की वृत्ति में उद्धृत]

अथ * प्रतिलेखना जैन साधुओं में प्रसिद्ध है, इस वास्ते नहीं लिखी ।

ही मूर्ख—परमाथ को न जानत हुए नष्ट हो जाते हैं । फिर एक प्राणी जो कि पाचों ही विषयों में आसक्त होवे, उस मूर्ख की क्या दशा होगी ! अर्थात् वह सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥२॥

जिस प्रकार चचल, हठी घोड़े अपने सवार को विकट मार्ग में ले जा कर पटक देते हैं । इसी प्रकार ये चपल इन्द्रिया भी प्राणी को कुमार्ग की तरफ बल पूर्वक खींच ले जाती हैं ॥३॥

अतः बुद्धिमान् मनुष्यों को इन इन्द्रियों के जय करने में सर्वदा यत्नशील रहना चाहिये । जिस से कि इहलोक और परलोक में सुख का प्राप्ति हो ॥४॥

* प्रतिलेखना के २५ भेद हैं । साधु के ब्रह्म, पात्र आदि जो धर्मोपकरण [सयमनिर्वाह के लिये जिन के रखने की शास्त्रों में आज्ञा है] हैं, उन की शास्त्रविधि पूर्वक देख भाल करनी—उन को भाङ्गना,

अथ तीन गुप्ति लिखते हैं—मनागुप्ति, वचन गुप्ति, कायागुप्ति, ए तीन गुप्ति हैं। इन या स्वरूप ज्ञान गुप्ति ऐसे हैं। अशुभ मन, उचन, काया का निरोध करना, अर शुभ मन, वचन, काया को प्रवृत्ति करनी। इन में से मनोगुप्ति तीनप्रकार की है। अर्त्त, रौद्र ध्यानानुबन्धी कृत्पा का वियोग, ए प्रथम मनोगुप्ति। शारत्रानुसारी, परलोक के साधने वाली धमध्यानानुबन्धी माध्यस्थ परिष्कृति, ए दूसरी मनोगुप्ति। सम्पूर्ण शुभाशुभ मनोवृत्ति का निरोध, अयोगी गुणस्थान अवस्था में स्वात्मा रामरूपता, ए तीसरी मनोगुप्ति।

वचनगुप्ति दो प्रकार की है। उस में मुख नेत्र भ्रूत्रिकार, साफ करना और व्यवस्था पूर्वक रखना, यह पडिलहणा प्रतिलेखना या प्रेक्षा कहलाती है। यह साधु को प्रतिदिन तीन दफा करनी होती है—प्रात काल तीसर पहर और उदुघाटपौरुषी अर्थात् पीने पहर में। परन्तु इन तीना समयों की प्रतिलेखना न प्रतिलेख्य वस्तुओं में कुछ अंतर—न्यूनाधिकता रहती है। यथा—

“प्रतिदिन माधुजनस्य तिस्र प्रतिलेखना कर्तव्या भवन्ति, तद्यथा—एका प्रभाते, द्वितीया अषराद्धे—तृतीय प्रहराते, तृतीया उद्घाटपौरुष्या समयभापया पादोनप्रहर” इत्यादि।

[प्र० सा०, गा० ५९० की वृत्ति]

नोट —अधिक जिज्ञामा के लिये दखो प्रवचनसारोद्धार तथा विड-नियुक्ति आदि ग्रन्थ।

अगुली निर्दश, ऊचा होना, ग्रासना, हुकारा करना, पत्थर फेंकना आदि हेतुओं से अपने किन्नी काय विशेष की सूचना करने का त्याग करना, ए प्रथम वचन गुति । क्योंकि जय चेष्टा द्वारा सब कुछ सूचन कर दिया, तब मौन रहना व्यर्थ है । दूसरे के प्रश्न का उत्तर देना, लोक अरु आगम मे विरोध न होवे तैमे और वस्त्रादिक से मुख का यत्न करके धोखना, ए दूसरी वचन गुति । इन दोनों भेदों करके वचन का निरोध, अरु सम्यक् भाषणरूप वचन गुति जाननी ।

कायागुतिदो प्रकार मे है । १ चेष्टाका निषेध, २ आगम के अनुसार चेष्टा का नियम करना । तहा देवता और मनुष्यादि के उपसर्ग में क्षुधा तृपादि परिपहों के उत्पन्न होने मे वायोत्सर्गादि के द्वारा शरीर को निश्चल करना, तथा अयोगी अरुस्था मे स्वयं काया की चेष्टा का निरोध करना, ए प्रथमकायगुति है । तथा गुरुप्रच्छन, शरीर सस्नारक, भूम्यादि का प्रतिलेखन, प्रमार्जनादि क्रियाकलापका जैमे शास्त्र में विधान है, उसी के अनुसार साधु को शयन आदि करना चाहिये । अत शयन, आसन, ग्रहण और स्थापन आदि कृत्यों में काया की स्वच्छन्द चेष्टा का त्याग और मर्यादित चेष्टा का स्वीकार करना दूसरी कायगुति है ।

अथ अभिग्रह-प्रतिक्षा लिखते हैं । मो अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल अरु भाव करी चार प्रकार का है, इस का विस्तार

* प्रवचनसारोद्धार वृत्ति में है।

अथ करणसत्तरी की गणना कहते हैं। यद्यपि आहारादिक के बैतालीस दूषण हैं, तथापि पिंड, शय्या, घख, पात्र, ए चार ही वस्तु सदोष ग्रहण नहीं करनी। इस वास्ते शय्या में ए चार ही दूषण लिये हैं। तथा पाच समिति, धारा भाजना, धारा प्रतिमा, पाच इन्द्रियनिरोध, पचीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति, चार अभिग्रह, ए सर्व एकठे करने से सत्तर भेद करणसत्तरी के हैं।

प्रश्न — चरणसत्तरी और करणसत्तरी, ए दोनों में क्या विशेष है ?

उत्तर — जो नित्य करना सो चरण, अथ जो प्रयोजन होये तो कर लेना, और प्रयोजन नहीं होये तो न करना, सो करण। यह इन का भेद है।

यह जैन मत के गुरतरय का स्वरूप संक्षेप से लिया है, विस्तार से तो उस का स्वरूप लाखों श्लोकों में भी पूरा नहीं हो सकता। इस वास्ते जेकर विशय जानने की इच्छा होव, तो ओघनियुक्ति, आचार्याग, दशवैकालिक, बृहत्कल्प-भाष्य वृत्ति पचकल्पचूर्णि, जीनकल्पवृत्ति, महाकल्पसूत्र कल्पसूत्र, निरीयभाष्यचूर्णि, महानिरीयसूत्र, इत्यादि पद विभाग आमाचारी के शास्त्र देख लेने।

प्रश्न — जैसा जैनमत के शास्त्रों में गुरु का स्वरूप लिया

है, वैसी वृत्ति वाला कोई भी जैन का साधु देखने में नहीं आता है, तो फिर जैनमत के साधुओं को इस काल में गुरु क्योंकर मानना चाहिये ?

उत्तर — तुम ने जैनमत के शास्त्र न पढ़े होंगे, और

किसी गीतार्थ गुरु की सगत भी नहीं

पंचम काल व
साधुओं का स्वरूप

करी होगी, क्योंकि जेकर जैनमत के

चरणकरणानुयोग के शास्त्र पढ़े होने,

अथवा किसी गीतार्थ गुरु के मुखारविंद से उन के

घचनरूप अमृत का पान करा होता, तो पूर्वोक्त सराय-

रूप रोग की उत्पत्ति कदापि न होती । क्योंकि जैनमत में

दो प्रकार के निर्ग्रथ कहे हैं । इस काल में जो जैन के साधु

हैं, वे पूर्वोक्त दो प्रकार में से दो प्रकार के हैं । क्योंकि श्रीम-

गवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के छठे उद्देश में लिखा है,

कि पंचम काल में दो तरे के निर्ग्रथ होंगे, उनमें से ही तीर्थ

चलेगा । अपायवुशील निर्ग्रथ तो किसी में परिणामापेक्षा

होगा, मुख्य तो दो ही रहेंगे । और जो जैन शास्त्रों में गुरु

की वृत्ति लिखी है, सो प्राय उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा से लिखी

है । और इस काल में तो प्राय अपवाद मार्ग की ही प्रवृत्ति

है । तब उत्सर्गवृत्ति वाले मुनि इस काल में क्योंकर हो सकते

हैं ? कदाचित् नहीं हो सकते हैं । क्योंकि न तो वज्रभृ-

पमनाराच सहनन है, न वैसा मनोबल है, न जीवों की

वैसी धृष्टा है, न वैसा वेश काल, और न वैसा धैर्य है,

तो फिर इस काल के जीव वैसी उत्सर्ग वृत्ति कैसे धार सकते हैं ?

प्रश्न — जे कर वसी वृत्ति इस कालमें वो नहीं रख सकत, तो उन को साधु भी काहको कहना चाहिये ?

उत्तर — यह तुमारा कहना बहुत बे समझी का है, क्योंकि व्यवहार सूत्र भाष्य में ऐसे लिखा है —

पोकखरिणी आयागे, आणयणा तेण गाय गीयत्थे ।

आयरियम्मि उ एण, आहरणा हुति नायव्या ॥

सत्थपरिण्णाछक्कायअट्ठिगमो पिंड उत्तरज्झाए ।

एक्खे वसहे जूहे, जोहे सोही य पुक्खरिणी ॥

[उ० ३ गा० १६८-१६९]

इन दोनों द्वार गाथाओं का व्याख्यान भाष्यकार ने पंद्रह गाथा करके किया है। जेकर गाथा देखने की इच्छा होवे, तो व्यवहारभाष्य में देख लेनी, इहा तो उन गाथाओं का भाष्य में भावार्थ लिख देते हैं — १ जैसी पूर्वकाल में सुगन्धित फूलों वाली पुष्करिणिया—शावड़िया थीं, वैसे फूलों घालिया अथ नहीं हैं तो भी सामान्य पुष्करिणिया तो हैं। लोग इन सामान्य शावड़ियों से भी अपना काय करते हैं। २ प्रथम सपूर्ण आचारप्रकल्प नवमे पूव में था, उस नवमे पूव से उद्धार करके पूज्यपाद वैशाख गणी ने निरीय का रचा, तो क्या उस निरीय को आचारप्रकल्प न कहना

चाहिये ? ३ पूर्वकाल में तालोद्गादिनी, अथम्यापिनी आदिक विद्या के धारक चोर थे, परन्तु इस काल में वो विद्या नहीं है, क्या फिर चोरी करने वालों को चोर न कहना चाहिये ? ४ पूर्वकाल में चौदह पूर्व के पाठी को गीतार्थ कहते थे, तो क्या इस काल में जघन्य आचारप्रकल्प, निरीय और मध्यम आचारप्रकल्प तथा गृहकल्प के पढ़े हुये को गीतार्थ न कहना चाहिये ? ५ पूजकाल में श्रीआचाराग के शस्त्रप्रज्ञा अध्ययन को पढ़ने के बाद छेदीपस्थापनीय चारित्र्य में स्थापन करते थे, तो क्या अथ दशवैकालिक के पड़-जीवनिका अध्ययन के पढ़ने से स्थापन नहीं करना चाहिये ? ६ पूर्व समय में आचाराग के दूसरे लोकविजय नामक अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पाचों उद्देश में जो आमगन्धि सूत्र है, उस सूत्र के अनुसार मुनि आहार का ग्रहण करते थे, तो क्या अथ दशवैकालिक के पिंडपणा अध्ययन के अनुसार न करना चाहिये ? ७ प्रथम आचाराग के पीछे उत्तराध्ययन पढ़ते थे, तो क्या अथ दशवैकालिक के पीछे जो उत्तराध्ययन पढ़ा जाता है, सो नहीं पढ़ना चाहिये ? ८ पूर्वकाल में मत्ताग आदिक दश प्रकार के वृत्त थे, तो क्या अथ अत्रादिक को वृत्त न कहना चाहिये ? ९ प्राचीन काल में बड़े २ बलवान् धृपम होते थे, अभी वैसे नहीं हैं, तो क्या अथ के धृपमों को धृपम-बैल नहीं कहना चाहिये ? १० पूव में बहुत गाँवों के समूह वाले नन्द

गोप को ग्वाल कहते थे, तो क्या अथ थोड़ी गौओं वाले को ग्वाल न कहना चाहिये ? ११ पृथक्काळ में सहस्र-मल्ल योद्धा थे, अथ नहीं हैं, तो क्या अथ किसी को योद्धा न कहना चाहिये ? १२ पूय में पायमासिक तप का प्रायश्चित्त था, तो क्या उस के बदले अथ निरी प्रमुग्ध प्रायश्चित्त न लेना चाहिये ? १३ जैसे प्राचीनकाल की यावद्वियों में वस्त्र आदिक धोये जाते थे, इसी प्रकार वर्तमान समय की यावद्वियों से भी वस्त्रों की शुद्धि हो सकती है । इसी तरे यदि आज कल के साधुओं में पूर्वकाल के मुनियों जैसी वृत्ति नहीं, तो क्या उन को आचार्य वा साधु न कहना चाहिये ? किन्तु जरूर ही साधु कहना अरु मानना चाहिये । तथा जीवानुशासन सूत्र की वृत्ति में भी लिखा है, कि पाचमें काल में साधु ऐसा भी होये, तो भी सयमी कहना चाहिये, तथा निरीथ भाष्य में भी लिखा है —

जा सजमया जीनेसु ताव मूलगुण उत्तरगुणा य ।

इत्तरियच्छेय सजम, नियठ वउसापडिमेवी ॥

इस गाथा की चूर्ण की भाषा लिखते हैं । छे काया के जीवों विये जय ताई दया के परिणाम हैं, तथ ताई वधुण निर्ग्रथ और प्रतिसेयना निर्ग्रथ रहेंगे । इस वास्ते प्रवचन-शून्य और चरित्ररहित पचम काल कदापि न हावेगा । तथा मूलोत्तरगुणों में दूषण लगने से तत्काल चारित्र नष्ट

भी नहीं होता। मूल गुण भग में दो दृष्टात है, उत्तरगुण भग में मण्डप का दृष्टात है। निश्चयनय में एक व्रत भग हुआ, तो सर्व व्रत भग होजाते हैं, परन्तु व्यवहार नयके मत में जो व्रत भग होवे, सोई भग होये, दूसरा नहीं। इस वास्ते बहुत अतिचार के लगने से भी सयम नहीं जाता, परन्तु जो कुशील सेये, धरु धन रखे और कच्चा-सचिक्त पानी पीवे, प्रयचन की उपेक्षा करे वो साधु नहीं। जहा तक छेद प्रायश्चित्त लगे, तहा तक सयम सर्वथा नहीं जाता। इस वास्ते जो कोई इस काल में साधु का होना न माने, सो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि स्यानाग सूत्र में लिखा है, कि अतिचार बहुत लगते हैं और आलोचना-प्रायश्चित्त यथार्थ रूप से कोई लेना देता नहीं, इस वास्ते साधु कोई नहीं है, ऐसे जो कहता है वो चरित्र भेदिनी विक्रया का करने वाला है। तथा श्रीभगवती सूत्र के पच्चीसमे शतक के छठे उद्देश में समहर्षीकार श्रीमदभयदेवसूरि ने इन दोनों निर्ग्रंथों का जो स्वरूप लिखा है, सो इहा भाषा में प्रगट लिखा जाता है।

वउस सनल कब्जुरमेगट्ट तमिह जस्स चारित्त ।

अइयारपकमाना सो वउसो होइ निग्गथो ॥

[प० नि, गा० १२]

अर्थ —यकुरा, शबल, क्युर [ए तीनों एकार्थ हैं अर्थात् एक ही वस्तु को कहते हैं] है चारित्र्य जिस का [अतिचाररूपपकयुक्त होने से] सो स्वल्प यकुरानामा निर्ग्रथ है। इस भारत वप में इस काल में यकुरा और कुशील ए दोनों निर्ग्रथ हैं, शेष के तीन तो व्यवच्छेद हो गये हैं। तथा चोक्त परम मुनिभिः—

*उस कुसीला दो पुण, जा तित्थ ताव होहिंति ।

[प० नि०, गा० ३ की अवचूर्ति]

अर्थात् यकुरा, कुशील ए दोनों निर्ग्रथ जहा तक तीर्थ रहेगा तहा तक रहेंगे। इन में जो यकुरा निर्ग्रथ है, तिसके दो भेद हैं। १ जो यख पात्रादि उपकरण की विभूषा करने सो उपकरण यकुरा, और २ जो हाथ, पग नख, मुखादिक दह के अवयवों की विभूषा करने, सो शरीरयकुरा, ए दोनों भेदों के भी पाच भेद हैं—

उवगरणसरोरसु, स दुहा दुविहोऽपि होइ पचमिहो ।

आभोगअणामोगे, अस्सजुडसवुडे सुहुमे ॥

[प० नि०, गा० १३]

* इस गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

निर्ग्रथसिखायाण पुलायमहियाण तिण्हवुच्छेओ ।

अर्थ—इस में मे दो पदों का अर्थ तो ऊपर दिया है, अगले दो पदों का अर्थ लिखते हैं। साधु को यह करने योग्य नहीं, ऐसे जानता भी है, तो भी उस काम को जो करे, सो पहला अमोघ यक्षुण, और जो अज्ञानपने करे सो दूसरा अनामोघ यक्षुण, मूल गुण और उत्तर गुणों में जो छिप कर दोष लगावे, सो तीसरा सरुन यक्षुण, जो मूल गुण और उत्तर गुणों में प्रगट दोष लगावे सो चौथा असवृत्त यक्षुण, अरुनेश्र, नासिका, और मुख आदिक का जो मल दूर करे, सो पाचमा सूक्ष्म यक्षुण जानना।

अथ उपकरण यक्षुण का स्वरूप लिखते हैं—

जो उवगरणे उवसो, सो धुवड अपाउमेऽवि वत्थाइं ।

इच्छड य लण्हयाइ, किंचि त्रिभूसाड भुजइ य ॥

[५० नि०, गा० १४]

अर्थ—जो उपकरण यक्षुण है, सो प्रावृट्-पावस ऋतु के बिना भी चार जल से बख्र धोता है। पावस ऋतु में तो सर्व गच्छासी साधुओं को आशा है, कि साधु एक बार वर्षा से पहिले आप सर्व उपकरण चार जल से धो लेवे, नहीं तो वर्षाऋतु में मल के ससर्ग मे निगोदादिक जीवों की उत्पत्ति हो जायेगा। परन्तु यह जो यक्षुण निर्ग्रथ है, सो तो पावसऋतु बिना अन्य ऋतुओं में भी चार जल से बख्रादिक धो लेता है। तथा यक्षुण निर्ग्रथ, सुदर, सुकुमाल बख्र भी वाहता है, और त्रिभूपा-शोभा के धास्ते पहरता है।

तह पत्तदडयाई, धट्ट मट्ट सिणेहकयतेय ।
धारेइ विभूसाए, बहु च पत्थेई उरगण ॥

[प०नि० गा०, १५]

अर्थ —तथा वह पात्र, दड आदि को घोंटे में घांट के सुकुमार बना कर, और घी तल आदि से चोंपड़ के तेजवत-चमकदार करके रखना है, अरु विभूषा के वास्ते बहुत उपकरण रखने चाहता एतावना रखता है ।

अथ शरीर यकुरा का स्वरूप लिखते हैं —

देहवउसो अकज्जे, करचरणनडाइय विभूमेइ ।
दुविहोऽवि इमो इद्धि, इच्छइ परिवारपभिईय ॥

[प० नि०, गा० १५]

अर्थ —देहयकुरा, विना करण हाथ, पग, नयादिक को विभूषा करता है, जलादि से धोता है । इस प्रकार उपकरण यकुरा और शरीर यकुरा ये दोनों निर्ग्रन्थ परिवार आदि की वृद्धि चाहते हैं ।

पडिच्चतवाइ कय, जस च इच्छेइ तमि तुस्तइ य ।
सुइसीलो न य पाद, जयइ अहोररा किरियासु ॥

[प० नि०, गा० १७]

अर्थ —पडितपने धरी तथा तप आदि करके यश की

इच्छा करे है । तिस यश के होने से बहुत खुशी माने है । सुपशीलिया होवे है, और दिन रात्रि की क्रिया सामाचारी में बहुत उद्यमी भी नहीं होवे है ।

परिवारो य असजम, अत्रिवित्तो ढोइ किंचि एयस्त ।

घसियपात्रो तिच्छाइमसिगिओ कत्तरियकेमो ॥

[प० नि०, गा० १८]

अर्थ—इस का जो परिवार होवे, सो असयमी—असयम वाला होवे है, घस्त्र पात्रादिक के मोह से घस्त्र पात्रादिक से दूर न जाये, पग को भावें आदिक से रगड़ कर तैलादिक चोपड़ के सुकुमार करे और गिर, दाढ़ी, मूख के बाल कतरणी से कतरे एनाप्रता लोच की जगे उस्तरे, वा कतरणी से बाल दूर करे है ।

तह देससव्वछेयारिहेहिं सनलेहिं मजुओ वउसो ।

मोहखयत्थमब्भुट्ठिओ मुत्तमि भणिय च ॥

[प० नि०, गा० १९]

अर्थ—देराच्छेद तथा सर्वच्छेद के योग्य दोषो करी जिस का चारित्र कर्तुर है [अर्थात् उक्त दोषों से युक्त है] परन्तु मन में उस के मोहक्षय करने की इच्छा है, एतावता मन में सयम पालने में उत्साह है, परन्तु पूर्ण सयम पाल नहीं सकना । उस को यदुरा निर्ग्रेथ कहिये । और सूत्र में जो कहा है, सो लिखते हैं—

उवगरणदेहचुक्खा, रिद्धीजमगारवासिया निच ।
 बहुसबलछेयेजुत्ता, निग्गथा वाउमा भणिया ॥
 आभोगे जाणतो, करेइ दोस अजाणमणभोगे ।
 मूलुत्तरेहिं सबुड, विवरीय अमडुडो होइ ॥
 अन्ठिमुहमज्जामाणो, होइ अहामुहुमओ तहा पडसो ।

[प० नि०, गा० २०—२२]

अथ — उपकरण, देह गुद्ध रक्त्वे, ऋद्धि, यश, साता, इन तीनों गारव के नित्य आश्रित होये, उपकरणों से अवि विक्र रहे, जिस का परिवार छेद योग्य सबल चारित्र्य सयुक्त हो उस को वक्कुय निर्ग्रथ कहते हैं । साधुओं के यह काम करने योग्य नहीं, ऐसे जानता हुआ भी जो उस काम को करता है, सो आभोग वक्कुय अरु जो अनजानपने से करे, सो अनाभोग वक्कुय, मूलोत्तर गुणों में जो गुप्त दोष लगाये सो सट्टन वक्कुय, अथ जो प्रगट रूप से दोष लगाये, सो असट्टन वक्कुय, तथा जो विना प्रयोजन तथा विना मल के आख, मुखादि को धोता रह सो सूद्धम वक्कुय कहलाता है ।

। अथ कुशील निर्ग्रथ का स्वरूप लिखते हैं —

सील चरण व जस्स, कुच्छिय सो इह कुसीलो ॥
 पडिसेमणा कसाए, दुहा कुसीलो दुहानि पचत्रिहो ।
 नाणे दसण चरणे, तवे य अहं सुहुमए चेय ॥

इह नाणाटकुसीलो, उवजीत्र होइ नाणपभिईए ।
अहसुहुमो पुण तुस्सइ, एस तवम्सि चि ससाए ॥

[प० नि०, गा० २०—२४]

अर्थ—शील—चारित्र जिस का कुत्सित है,
सो कुरील निर्ग्रथ । इस के दो भेद हैं ।

कुशील निर्ग्रथ एक प्रतिमेवनाकुशील, दूसरा कपाय
का स्वरूप कुरील । प्रतिसेवना—विपरीत धाराधना
करके जिस का शील कुत्सित हो सो प्रति

सेवनाकुशील, और सञ्चलन रूप कपायों में जिस का
शील कुत्सित हो सो कपायकुशील हैं । इन दोनों के
ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और यथासूक्ष्म, ये पांच भेद हैं ।
यद्वा ज्ञानादिप्रतिमेवनाकुशील जो है, जो ज्ञान, दर्शन,
चारित्र, अथ तप, इन चारों को आजीविका के धाम्ते
करे । तथा यह तपस्वी है, इत्यादि प्रशंसा को सुन के
जो बहुत खुशी होये, सो पाचमा यथासूक्ष्मप्रतिमेवना-
कुशील जानना । तथा जो ज्ञान, दर्शन, अथ तप का
सञ्चलन कपाय के उदय में धरने २ विषय में उपयोग करे, सो
ज्ञानादिकपायकुशील जानना । जो चारित्रकुशील है, सो कपाय
के वश हो करके शाप दे देता है । मन करके जो क्रोधा-
दि को सेवे, सो यथासूक्ष्मकपायकुशील है । अथवा कपायों
करके जो ज्ञानादिकों को निराधे, सो ज्ञानादिककुशील

जानना । कोई एक आचार्य, नपजुशील के स्थान में लिंगकुशील कहते हैं । यह दू प्रकार के निर्ग्रंथ पाचवें धारे के अन्त तक रहेंगे ।

इति श्री तपागुणीयमुनि श्री बुद्धिविजय शिष्य मुनि

आनन्दविजय-आत्मारामविरचिते जैनतत्त्वादर्शे

तृतीय परिच्छेद सपूर्ण



चतुर्थ परिच्छेद

अथ चतुर्थ परिच्छेद में कुगुरु नत्तका स्वरूप लिखते हैं —

सर्वाभिन्नापिणाः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।

अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरुवो न तु ॥

[यो० शा०, प्र० २ श्लो० ६]

अर्थ — “सर्वाभिन्नापिणः” — स्त्री, धन, धान्य, हिरण्य-
मोना रूपादि सर्व धातु तथा चेश,
कुगुरु का वास्तु-हाट हजेली, चतुष्पदादिक अनेक
स्वल्प प्रकार के पशु, इन सब की अभिलाषा
करने का शील है जिसका, सो सर्वाभिन्नापो ।

“सर्वभोजिनः” — मद्य, मासादिक घासीस अभक्ष्य, तथा
यस्तीस अनतकाय, तथा अपर जो अनुचिन आहारादिक,
इन सर्व का भोजन करने का शील है जिस का सो सर्वभोजी ।

‘सपरिग्रहाः’ — जो पुत्र, कलत्र, येश, येशी प्रमुख करी युक्त
होये, सो सपरिग्रह, इसी वास्ते अब्रह्मचारी है । जो अब्रह्मचारी
होता है तिस में महा दोष होते हैं । इस वास्ते अब्रह्मचारी
एसा न्यारा उपन्यास करा है । अथ अगुरुपने का अनाधारण
कारण कहते हैं । “मिथ्योपदेशाः” — मिथ्या-वितथ-अयथार्थ
धर्म का उपदेश है जिसका सो अगुरु है । जेकर इहा कोई
ऐसी तर्क करे, कि जो धर्मोपदेश का दाना है, सो गुरु है, ता

फिर निष्परिग्रहादि गुणों का काहेको अन्येषण करना ? इस शका के दूर करने वास्ते दूसरा श्लोक फिर कहते हैं —

परिग्रहारभमग्ना-स्तारयेयु कथ परान् ।

स्य दरिद्रो न पर-भीश्वरीकर्तुमीश्वर ॥

[यो० शा०, प्र० ७ श्लो० १०]

अथ — परिग्रह-स्त्री आदि आरभ-जीवों की हिंसा, इन दोनों वस्तुओं में जो मग्न हैं, अर्थात् भव समुद्र में डूबे हुए हैं, वो किस तरे से दूसरे जीवों को ससार सागर से तार सकते हैं । इस बात में दृष्टांत कहते हैं, कि जो पुरुष आप ही दरिद्री है, वो दूसरों को क्योंकर धनाढ्य कर सकता है।

अथ प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध में आप हुए 'मिथ्योपदेशा गुरवोनतु इन पदोंका विस्मार लिखते हैं — कुगुरु जो हैं, उनका उपदेश इस प्रकार मे मिथ्या है । इस मिथ्या उपदेश के स्वरूप ही में प्रथम तीन सौ त्रैसठ मत का स्वरूप लिखते हैं । उन मे से एक सौ अस्सी मत तो क्रियावादी के हैं, चौरासी मत अक्रियावादी के हैं, सत्सठ मत अज्ञानवादी के हैं अरु बत्तीस मत विनयवादी के हैं* । ५ पूर्वोक्त सब मत एकत्र करने मे तीन सौ त्रैसठ होते हैं ।

* असीइसय किरियाण अक्रियवाइण होइ तुलसीती ।

अग्णाणि य सत्तट्टी वणइयाण च बत्तीस ॥

[आ० नि०, हारि० टी०, अधि० ६ म उद्धृत]

तिस में जो-क्रियावादी हैं सो ऐसे कहते हैं—कर्त्ता के बिना पुण्यपथादिलक्षणा क्रिया नहीं होती क्रियावादा के हैं। तिस वास्ते क्रिया जो है, सो आत्मा के साथ १८० मत १ समवाय संरध वाली है। यह जो क्रियावादी हैं, सो आत्मादिक नव पदार्थों को एकात अस्तित्वरूप से मानते हैं। तिस क्रियावादी के एक सौ अस्सी मत इस उपाय करके जान लेने। १ जीव, २ अजीव, ३ आश्रय, ४ वच, ५ सवर, ६ निर्जरा, ७ पुण्य, ८ अपुण्य ९ मोक्ष, यह नव पदार्थ अनुक्रम करके पट्टी पत्रादिक में लिखने, जीव पदार्थ के हेठ (नीचे) स्वत अरु परत यह दो भेद स्थापन करने, इन स्वत परत के हेठ न्यारे न्यारे नित्य अरु अनित्य यह दो भेद स्थापन करने अरु नित्य अनित्य इन दोनों के हेठ न्यारे न्यारे १ काल, २ ईश्वर, ३ आत्मा, ४ नियति, ५ स्वभाव, यह पाच स्थापन करने, और पीछे से विकल्प कर लेने। यन्त्र स्थापना इस तरे है—

जीव

स्वत		परत	
नित्य	अनित्य	नित्य	अनित्य
१ काल	२ काल	१ काल	१ काल
२ ईश्वर	२ ईश्वर	२ ईश्वर	२ ईश्वर
३ आत्मा	३ आत्मा	३ आत्मा	३ आत्मा
४ नियति	४ नियति	४ नियति	४ नियति
५ स्वभाव	५ स्वभाव	५ स्वभाव	५ स्वभाव

* नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय है।

पर्याय से पर्यायांतर में लोकों को स्थापन करता है । तथा "काल सुप्तेषु जागर्ति" —काल ही दूसरों के सोने के समय जागृत रहता है । तिस वास्ते प्रगट है कि काल दुरति-
क्रम है—काल को दूर करने में कोई भी समर्थ नहीं है, यह
काष्ठादी का विकल्प है ।

अथ ईश्वरवादी के विकल्प को कहते हैं, यथा—'अस्मि जीव
स्वतो नित्य ईश्वरत'—जीव अपने स्वरूप करके नित्य हैं,
परन्तु ईश्वर उत्पन्न करता है । क्योंकि ईश्वरवादी सर्व जगत्
ईश्वर ही का किया हुआ मानते हैं । ईश्वर उस को कहते हैं,
कि जिस के ज्ञान, वैराग्य, धर्म ऐश्वर्य, ए चारों मृत
सिद्ध होयें, अरु जीवोंको स्वर्ग मोक्ष, नरकादिक के जाने में
जो प्रेरक होये । तदुक्तम् —

ज्ञानमप्रतिष यस्य, वैराग्य च जगत्पतेः ।

ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्ध चतुष्टयम् ॥

अज्ञो जतुरनीशोऽय-भात्मनः सुखदुःखयो ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छे त्स्वर्गं वा शमभ्रमेव च ॥

तीसरा विकल्प आत्मवादीया का है । आत्मवादी उन को
कहते हैं, कि जो "पुरुष पदेद सब मित्यादि"—जो कुछ
दीयता है, सो सब पुरुष ही है, ऐसे मानते हैं ।

चौथा विकल्प नियतियादियों का है। नियतिवादी ऐसे कहते हैं, कि नियति एक नत्त्वान्तर है, नियतिवादा जिस की सामर्थ्य में सर्व पदार्थ अपने का मन अपने स्वरूप करके वैसे वैसे हो होते हैं, अन्यथा नहीं होते हैं—एतावता जो पदार्थ जिस काल में जिस करके होता है, सो पदार्थ तिस काल में तिस करके नियत रूप से ही होता दीयता है, अन्यथा नहीं। जेकर ऐसा न मानें तो कार्यकारणभाव की व्यवस्था कदापि न होयेगी। तिस रास्ते कार्य की नियतता में प्रतीत होने वाली जो नियति है, तिस को कौन प्रमाण पथ का कुशल पुत्र है, जो राध सकता है ? जे कर नियति राधिन हो जायेगी, तो और जगे भी प्रमाण मिथ्या हो जावगे । तथा चोक्तम् —

नियतेनैव रूपेण, मने भावा भवति यत् ।

ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुमेयतः ॥

यद्यदैव यतो यावत्, तत्तदैव ततस्तथा ॥

नियत जायते न्यायात्, क एना राधितु क्षमः ॥

[शा० स०, स्त० २ श्लो० ६१, ६२]

इन दोनो श्लोकों का अर्थ उपर लिख दिया है ।

पाचमा विकल्प, स्वभाववादियों का है । वो स्वभाव-

वादी ऐसे कहते हैं । कि इस ससार में स्वभाववादी सर्व पदार्थ स्वभाव से उत्पन्न होते हैं । सो का मत कहते हैं, कि माटी से घट होता है, परन्तु वस्त्रमे नहीं होता है, अरु तन्तुओं से वस्त्र होता है, परन्तु घटादिक नहीं होता है । यह जो मर्यादासयुक्त होना है, सो स्वभाव विना कदापि नहीं हो सकता है । तिस वास्ते यह जो कुछ होता है, सो सब स्वभाव से ही होता है । तथा अन्यकार्य तो दूर रहा, परन्तु यह जो मृगों का रन्ध्र जाना है, सो भी स्वभाव विना नहीं होता है । तथाहि-हाडि, इन्धन, फालादि सामग्री का समग्र भी है, तो भी फोकडु कठिन मृग नहीं रन्ध्रते हैं । तिस वास्ते जो जिस क होनेपर होवे, अरु जिसके न होनेपर जो न होवे, सो सो अत्रय यतिरेक करके तिस का कत्ता है । इस वास्ते स्वभाव ही से मृग का रन्ध्रना मानना चाहिये । इस वास्ते स्वभाव ही सर्व वस्तु का हेतु है ।

यह पाच विकल्प, 'स्वत' इस पद करके होते हैं । ऐसे ही पाच, 'परत' इस पद करके उपलब्ध होते हैं । परत शब्द का अर्थ तो ऐसा है, कि पर पदार्थों से व्यावृत्त रूप करके यह आत्मा निश्चय से है । ऐसे 'नित्य' पद करके दश विकल्प हुए हैं । ऐसे ही 'अनित्य' पद करके भी दश विकल्प होते हैं । सर्व विकल्प एकठे करने से बीस होते हैं । यह बीस विकल्प जीव पदार्थ करके होते हैं, ऐसे ही

अजीवादिक पदार्थों के साथ न्यारे न्यारे घीस त्रिकल्प जान लेने । तब घीस को नव से गुणाकार करने पर एक सौ अस्सी मत क्रियावादी के होते हैं ।

अथ अक्रियावादी के चौरासी मत लिखते हैं । अक्रिया-वादी कहते हैं, कि क्रिया-पुण्यपापरूपादि अक्रियावादी के नहीं है । क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ ८४ मत का लगती है । परन्तु स्थिर पदार्थ तो जगत् में कोई भी नहीं है, क्योंकि उत्पत्त्यनंतर ही पदार्थ का विनाश हो जाता है । ऐसे जो कहते हैं, सो अक्रियावादी * । तथा चाहुरेके —

अणिकाः सर्वसस्कारा अस्थिराणा कुतः क्रिया ।

भूतिर्येषा क्रिया सैन, कारक सैव चोच्यते ॥

[पद० म० श्लो० १ बृहद्भृत्ति]

अर्थ —सब सस्कार—पदार्थ क्षणिक है, इस वास्ते अस्थिर पदार्थों को पुण्यपापादि क्रिया कहा से होवे ? पदार्थों का जो होना है, सोई क्रिया है, सोई कारक है, इस वास्ते पुण्यपापादि क्रिया नहीं है । यह जो अक्रियावादी है, सो

* न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येव ये वदन्ति ते अक्रियावादिन आत्मादि-नास्तित्ववादिन इत्यर्थ । [पद० स०, श्लो० १ की बृहद्भृत्ति]

आत्मा को नहीं मानते हैं। तिनके चौरासी मत जानने का यह उपाय है—जीव, अजीव, आश्रय, स्वयं, निर्जरा, वध, मोक्ष, यह सातपदार्थ पत्रादि पर लिखने पीछे इन जीवादि सातों पदार्थों के हेठ न्यारे न्यारे स्वयं पर, यह दो विकल्प लिखने, फिर इन दोनों के हेठ न्यारे न्यारे काल ईश्वर, आत्मा, नियति स्वभाव, यदृच्छा, यह छे लिखने। इहा नित्यानित्य यह दो विकल्प इस वास्ते नहीं लिखे हैं, कि जब आत्मादि पदार्थ ही नहीं हैं, तो फिर नित्य अनित्य का सम्भव कैसे होये ? तथा जो यह यदृच्छावादी हैं, सो सर्व नास्तिक अक्रियावादी हैं। इस वास्ते त्रियावादी यदृच्छावादी नहीं हैं। इस वास्ते क्रियावादी के मत में 'यदृच्छा' पद नहीं ग्रहण किया है। इस मत के चौरासी भेद इसी रीति से जानना। विकल्प इस तरे है—“नास्ति जीव स्वतः कालत इत्येको विकल्प” जीव अपने स्वरूप करके काल से नहीं है, यह एक विकल्प। ऐसे ही ईश्वरादि से लेकर यदृच्छा पर्यन्त सब छ विकल्प हुए। इन का अर्थ पूरवत् जानना, परन्तु इतना विशेष है, जो यहा यदृच्छावादी अधिक है।

प्रश्न—यदृच्छावादियों का क्या मत है ?

उत्तर—जो पदार्थों का सत्तान की अपेक्षा नियत कार्यकारणभाव नहीं मानते, किन्तु 'यदृच्छया जो कुछ होता है, सो सर्व यदृच्छा से होता है, ऐसा मानते हैं, सो यदृच्छावादी हैं। वो ऐसे कहते हैं, कि नियम करके पदार्थों

का आपस में कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि कार्यकारण-
भाव प्रमाण से ग्रहण नहीं करा जाता है। तथाहि—मृत्तक
मैडक से भी मैडक उत्पन्न होता है, अरु गोबर से भी मैडक
उत्पन्न होता है। अग्नि से भी अग्नि उत्पन्न होती है, अरु
अरणि के काष्ठ से भी अग्नि उत्पन्न होती है। धूम से भी
धूम उत्पन्न होता है, अरु अग्नि से भी धूम उत्पन्न होता है।
कदली के कद् से भी केला उत्पन्न होता है, अरु केले के बीज
से भी केला उत्पन्न होता है। बीज से भी घटवृक्ष उत्पन्न
होता है, अरु घट वृक्ष की शाखा से भी घटवृक्ष उत्पन्न होता
है। इस वास्ने प्रतिनियत कार्यकारणभाव किसी जगे भी
नहीं देखने में आता है। इस वास्ने यदृच्छा करके किसी
जगे कुछ होता है, ऐसे मानना चाहिये। क्योंकि जय यह जान
लिया कि जो कुछ होता है, सो यदृच्छा से होता है, तो फिर
काहे को बुद्धिमान् कार्यकारणभाव को माने, और आत्मा
को फलेरा देवे। यह जैसे 'नास्ति मृत' के साथ छ विकल्प
करे हैं, ऐसे ही 'नाम्नि परत' के साथ भी छ विकल्प होते
हैं। यह जय सर्व विकल्प मिलायें, तब बारा विकल्प होते हैं।
इन बारा को जीवादिक सात पदार्थों करके सात गुणा
करने पर चौराभी भेद अक्रियावादी के होते हैं।

अथ तीनरा अज्ञानवादी का भेद कहते हैं—भूडा
अज्ञानवादी ज्ञान है जिसका सो अज्ञानवादी जानता,
या मत अथवा अज्ञान करके जो प्रवृत्त, सो अज्ञानिक

अज्ञानवादी*। वे ऐसे कहते हैं, कि ज्ञान अच्छी वस्तु नहीं है। क्योंकि ज्ञान जय होवेगा, तब परस्पर विवाद होगा जय विवाद होगा तब चित्त मलिन होगा जय चित्त मलिन होगा, तब ससार की वृद्धि होगी। जैसे किसी पुरुष ने कोई वस्तु (घात) उखड़ी कही, तब तिस का सुन कर जो ज्ञानी अपने ज्ञान के अभिमान से उस पुरुष के ऊपर बहुत मलिन चित्त करके (क्रुद्ध हो कर) उसके साथ विवाद करने लगा, विवाद करते हुए चित्त अत्यन्त मलिन हुआ अरु अहंकार बढ़ा, उस अहंकार और चित्त की मलिनता से महा पाप कर्म उत्पन्न हुआ, तिस पाप से दीघतर ससार की वृद्धि हुई। इस वास्ते ज्ञान अच्छी वस्तु नहीं है। अरु जब अपने को अज्ञानी मानिये, तब तो अहंकार का समय नहीं होता है, अरु दूसरों के ऊपर चित्त का मलिनपन भी नहीं होता है। तिस वास्ते कम का बाध भी नहीं होता है। तथा जो कार्य विचार कर किया जाता है तिस में महा कम का बाध होता है और उस का फल भी महा भयानक होता है। इस वास्ते उस का फल अवश्यमेव भोगने में आता है। परन्तु जो काम मनोव्यापार के बिना किया जाता है, तिस का फल भयानक नहीं होता, अरु अवश्यमेव भोगने में भी नहीं आता है। जो उस काम में किंचित् कर्म बन्ध होता है, सो

* कुत्सित ज्ञानमज्ञानं तद्रेषामस्तीत्यज्ञानिका, अथवाऽज्ञानेन चर
तो यथानिका । [५६० सं० श्लो १ की वृत्त]

भी चूने की भीत के ऊपर बालु-रेत की मुष्टि के सम्बन्धवत् स्पर्शमात्र है, परन्तु बन्ध नहीं होता है। इस वास्ते अज्ञान ही मोक्षगामी पुण्यों को अगीकार करना श्रेय है परन्तु ज्ञान अगीकार करना श्रेय नहीं है। अज्ञानवादी कहते हैं, कि जेकर ज्ञानका निश्चय करने में सामर्थ्य होवे, तो हम ज्ञान को मान भी लें। प्रथम तो ज्ञान सिद्ध ही नहीं हो सकता है, क्योंकि जितने भतावलगी पुण्य हैं, सो सर्व परस्पर भिन्न ही ज्ञान अगीकार करते हैं, इस वास्ते क्यों कर यह निश्चय हो सके, कि इस मत का ज्ञान सम्यग् है, अरु इस मत का ज्ञान सम्यग् नहीं है। जेकर कहोगे कि सकल उस्तु के समूह को साक्षात् करने वाले ज्ञान से युक्त जो भगवान् है, तिस के उपदेश से जो ज्ञान होवे सो सम्यग् ज्ञान है। अरु जो इस के बिना दूसरे मत है, उस का ज्ञान सम्यग् नहीं है। क्योंकि उन के मत में जो ज्ञान है, सो सर्वज्ञ का कथन किया हुआ नहीं है।

अज्ञानवादी कहते हैं कि यह तुमारा कहना तो सत्य है, किन्तु सकल उस्तु के समूह का साक्षात् करने वाला शानी, क्या सुगन, विष्णु, ब्रह्मादिक को हम मान ? किना भगवान् महाबोर स्वामी को ? फिर भी वोही सत्य रहा, निश्चय न हुआ, कि कौन सर्वज्ञ है ? जेकर कहोगे कि जिस भगवान् के पादारविन्द युगल को इन्द्रादि सर्व देवता, परस्पर अह पूर्वक (मैं पहिले कि मैं पहिले) विशिष्ट विशिष्टतर त्रिभूति

द्युति करके सयुक्त संकड़ों विमानों में बैठ करके सकल आकार मडल को आच्छादित करते हुए पृथिवी में उतर करके पूजने भये, सो भगवान् वर्द्धमान स्वामी सर्वश है । परन्तु सुगत, शकर, विष्णु, ब्रह्मादिक नहीं, क्योंकि सुगतादिक सब अल्प बुद्धि वाले मनुष्य हुये हैं, इस वास्ते यो देव नहीं हैं । जेकर सुगतादिक भी सर्वश होते, तो निन की भी इन्द्रादि देवता पूजा करते । परन्तु किसी भी देवता ने पूजा नहीं करी । इस वास्ते सुगतादिक सबश नहीं हुये हैं । हे जैन ! यह जो तुमने यात कही है, सो अपने मत के राग के कारण कही है । परन्तु इस यात से इष्टसिद्धि नहीं होती है । क्योंकि वर्द्धमान स्वामी की इन्द्रादि देवता, देवलोक से आकर के पूजा करते थे, यह तुमारा कहना हम फ्योंकर सच्चा मान लेंगे ? भगवान् श्री महावीर का तो हुये बहुत काल होगया है, अरु उन के सर्वश होने में कोई भी साधक प्रमाण नहीं है ? जेकर कहोगे कि सप्रदाय से पतावता महावीर के शासन से महावीर सर्वश सिद्ध होता है, तो इसमें यह तक होगी कि यह जो तुमारी सप्रदाय है, स कौन जाने कि किसी धूर्त की चलाई हुई है ? वा किसी सत्पुरुष की चलाई हुई है ? इस यात के सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है । अरु विना प्रमाण के हम मान लेंगे, तो हम प्रज्ञावान् काहेके ? तथा मायावान् पुरुष आप सबश नहीं भी होते तो भी अपने आप को जगत में सर्वश रूप

से प्रगट कर देते हैं। इद्रजाल के २७ पीठ हैं, तिन में से कितनेक पीठों के पाठक अपने आपको तीर्थकर के रूप में अरु पूजा करते हुए इन्द्र, देवता, यना समते हैं। तो फिर देवताओं का आगमन अरु पूजा देवने से सर्वज्ञपन क्योंकिर सिद्ध होये, जो हम श्रीमहावीर जी को सर्वज्ञ मान लेवें। तुमारे मत का स्तुतिकार आचार्य ममनभद्र भी कहता है।

देवागमनभोयान—चामरादिविभूतयः ।

मायाविप्रपि दृश्यते, नातस्त्वमसि तो महान् ॥

[आ० मी०, श्लो० १]

इस श्लोक का भावार्थ—देवताओं का आगमन, आकाश में चलना, छत्र चामरादिक की विभूति, यह सर्व आडर, इद्रजालियों में भी हो सकता है। इस हेतु से तो हे भगवन् ! तू हमारा महान्—स्तुति करने योग्य नहीं हो सकता है। तथा हे जन ! तेरे कहने से महावीर ही सर्वज्ञ होये, तो भी यह जो आचारागादिक शास्त्र हैं, सो महावीर सर्वज्ञ हो के कथन करे हुए हैं, यह क्योंकिर जाना जाये ? क्या जाने किसी धूर्त ने रच करके महावीर का नाम रख दिया होयेगा ? क्योंकि यह वात इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है, अरु अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि में कोई भी प्रमाण नहीं है।

बला कदी यह भी होवे, कि जो आचारागादिक शास्त्र

हैं, सो महावीर सर्वज्ञ ही के कहे हुए हैं। तो भी श्रीमहावीर जी के कहे हुए शास्त्र का यही अभिप्राय—अर्थ है, और अर्थ नहीं, यह क्योंकर जाना जाय ? क्योंकि शब्दों के अनेक अर्थ हैं, सो इस जगत् में प्रगट सुनने में आते हैं। क्या जाने इन ही अक्षरों करके श्री महावीर स्वामी जी ने कोई अन्य ही अर्थ कहा होवे परन्तु तुमारी समझ में उन ही अक्षरों करके बहुत और अर्थ भासन होना होवे। फिर निश्चय क्योंकर होवे, कि इन अक्षरों का यही अर्थ भगवान् ने कहा है। जेकर तुम ने यह मान रक्खा होवे, कि भगवान् के समय में गौतमादिक मुनि थे, उन्होंने भगवान् के मुग्धाविद से साक्षात् जो अर्थ सुना था, सोई अर्थ आज ताई परंपरा से चला आता है। इस वास्ते आचारणगादिक शास्त्रों का यही अर्थ है, अर्थ नहीं। यह भी तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि गौतमादिक भी ऊँचस्थ थे, अरु ऊँचस्थ को दूसरे की चित्तवृत्ति का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि दूसरे की चित्तवृत्ति तो अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। ऊँचस्थ तो इन्द्रिय द्वारा जान सकता है। इन्द्रियज्ञानी सर्वज्ञ के अभिप्राय को क्योंकर जान सके, कि सर्वज्ञ का यही अभिप्राय है, इस अभिप्राय से सर्वज्ञ ने यह शब्द कहा है। इस वास्ते भगवान् का अभिप्राय तो गौतमादिक नहीं जान सकते हैं। केवल जो धर्मावली भगवान् कहते भये, सोई धर्मावली भगवान् के अनुयायी गौतमादिक उच्चारण करते आये।

परन्तु भगवान् का अभिप्राय किसी ने नहीं जाना । जैमे ध्यायदेशोत्पन्न पुरुष के शब्द उच्चारण से म्लेच्छ भी वैसा शब्द उच्चार सकता है, परन्तु तात्पर्य कुछ नहीं जानता । ऐसे ही महावीर के शब्द के अनुवादक गौतमादिक हैं, परन्तु महावीर का अभिप्राय नहीं जानते । इस वास्ते सम्यग् ज्ञान किसी मत में भी सिद्ध नहीं होता है । एक तो, ज्ञान होने से पुरुष अभिमान से बहुत कर्म बाध कर दीप्त मसारी हो जाता है, दूसरे, सम्यग् ज्ञान किसी मत में है नहीं, इस वास्ते अज्ञान ही श्रेय है ।

सो अज्ञानी सतसठ प्रकार के हैं । तिन के जानने का यह उपाय है, कि जीवादिक नव पदार्थ किसी पट्टादिक (पट्टी आदि) में लिपने, अथ दृश्ये स्थान में उत्पत्ति लिपनी । तिन जीवादि नव पदार्थों के हेतु न्यारे न्यारे सत्त्वादिक सात पद स्थापन करने, सो यह हैं — १ सत्त्व, २ असत्त्व, ३ सदसत्त्व, ४ अवाच्यत्व, ५ सदवाच्यत्व, ६ असदवाच्यत्व, ७ सदसदवाच्यत्व । १ सत्त्व—स्वरूप करके विद्यमान पना, २ असत्त्व—पररूप करके अविद्यमान पना, ३ सदमत्त्व—स्वरूप से विद्यमानपना और पररूप करके अविद्यमान पना । यद्यपि सर्ववस्तु स्वपररूप करके सर्वदा ही स्वभाव से सदसत्त्व स्वरूप वाली है, तो भी उस की किसी जगे कदाचित् कुछ अद्भुत रूप करके प्रियत्वा की जाती है । तिस हेतु से यह तीन प्रकृत्य होते हैं, तथा ४ अवाच्यत्व—सोई सत्त्व, असत्त्व

को जब युगपत् एक शब्द करके कहना होये, तदा तिसका वाचक कोई भी शब्द नहीं है, इस वास्ते अवाच्यत्व। यह चारों विकल्प सकला वेष रूप हैं, क्योंकि सकल वस्तु को विषय करते हैं। ५ सदवाच्यत्व—यदा एक भाग में सत्, दूसरे भाग में अवाच्य, ऐसी युगपत् विवक्षा करें, तदा सदवाच्यत्व, ६ असदवाच्यत्व—यदा एक भाग में असत्, दूसरे भाग में अवाच्य तदा असदवाच्यत्व, ७ सदसदवाच्यत्व—यदा एक भाग में सत्, दूसरे भाग में असत्, तीसरे भाग में अवाच्य ऐसी युगपत् कल्पना करें, तदा सदसदवाच्यत्व। इन सातों विकल्पों से अथ विकल्प कोई भी नहीं है। जेकर कोई कर भी लेवे, तो इन सातों ही में अन्तर्भूत हो जायेंगे। परंतु सातों से अधिक विकल्प कदापि न होयेंगे। यह जो सात विकल्प कहें हैं, इन सातों को नव गुणा करें, तब त्रसठ होते हैं। अथ उत्पत्ति के चार विकल्प आदि के ही होते हैं। सत्यादि चार विकल्प त्रसठ में प्रक्षेप करें (मिलायें), तब सतसठ मत अज्ञानवादी के हाते हैं। अथ इन सातों विकल्पों का अर्थ लिखते हैं। कौन जानता है कि जीव सत् है ? कोई भी नहीं जानता है। क्योंकि इसका ग्रहण करने वाला प्रमाण कोई भा नहीं है। जेकर कोई जान भी लेवेगा कि जीव सत् है, तो कौन से पुरुषार्थ की सिद्धि हो गई। क्योंकि जब ज्ञान हो जायेगा तब अभिनिवेश, अभिमान, मलिन चित्त लोकों से विवादा, भगदा,

बढ़ जायेगा, तब तो ज्ञानवान् बहुत कर्म बन्ध करके दीर्घतर ससारी हो जायेगा। ऐसे ही असत् आदिरु शेष विकल्पों का भी अर्थ जान लेना।

८ विनय करके जो प्रवृत्त, सो *वैनयिक। इन विनय-
वादियों के लिंग अत्र याम्त्र नहीं होता है,
विनयवादी केवल विनय ही से मोक्ष मानते हैं, तिन
का मत विनयवादियों के बत्तीस मत हैं, सो इस तरे
मे हैं—१ सुर, २ राजा, ३ यति, ४ शानि,
५ स्थविर, ६ अधम, ७ माता, ८ पिता, इन आठों की
मन करके, बचन करके, काया करके, अथ देयकाल
उचित दान देने से विनय करे। इन चारों से आठ को
गुणा करने पर बत्तीस होते हैं।

ए सत्र मिल कर तीन सौ त्रेसठ मत हुये। ए सर्व मत-
धारी तथा इन मतों के प्ररूपणे थाले सर्व कुगुरु हैं, क्योंकि
यह सत्र मन मिथ्यादृष्टियों के हैं। यह सत्र एकातवादी हैं,
अर्थात् स्याद्वादरूप अमृत के स्याद से रहित हैं। इन का
जो अभिमत तत्त्व है, सो प्रमाण करके याधित है, इन के
मतों को पूर्वाचार्योंने अनेक युक्तियों से खडन करा है। सो
अन्य जीवों के जानने वास्ते पूर्वाचार्यों की युक्तिया किंचित्
मात्र नीचे लिखते हैं।

* विनयेन चरतीति वैनयिका। [बृ०स०, श्लो० १ की बृहद्ब्रति]

है। सहचारियो करके व्यपदेश सर्व तार्किकों के मत में प्रसिद्ध है, यथा—'मचा श्रोतनीति'—मच शब्द करते हैं*।

सिद्धान्ती—यह भी सूझो हो या कहना है, क्योंकि इस कहने में इतरेतर दोष का प्रसंग है। सोई कहते हैं, कि सहचारी भरतादिकों को काल के याग से पूर्वापर व्यवहार हुआ अरु कालको पूर्वापर व्यवहार, सहचारी भरतादिकों के योग से हुआ। जब एक सिद्ध नहीं होवेगा, तब दूसरा भी सिद्ध नहीं होगा। उक्त—

• एकत्वव्यापिताया हि, पूर्वोदित्व कथं भवेत् ।

सहचारिवशात्तच्चेदन्योन्याश्रयतागमः ॥

सहचारिणा हि पूर्वत्व, पूर्वकालसमागमात् ।

कालस्य पूर्वोदित्व च, सहचार्यप्रियोगत ॥

प्रागसिद्धानेकस्य, कथमन्यस्य सिद्धिरिति ।

* अर्थात् मच पर बैठे हुए व्यक्ति बोलते हैं ।

• एक, नित्य और व्यापक पदार्थ में पूर्वापर व्यवहार कैसे हो सकता है? यदि किसी सहचारी के संयोग से उस में पूर्वापर व्यवहार माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग होगा। क्योंकि, सहचारी के पूर्वापर व्यवहार में काल की अपेक्षा रहती है, और काल में पूर्वापर व्यवहार के लिये सहचारी का संयोग अपेक्षित है। जब तक प्रथम एक ही सिद्धि न हो जावे, तब तक दूसरे की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है?

इस घास्ते प्रथम पक्ष श्रेयं नहीं है। जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तो वो भी अयुक्त है। क्योंकि समयादिकरूप परिणामी काल विषे काल एक भी है, तो भी विचित्रपना उपलब्ध होता है। तथाहि—एक काल में मूंग पकाते हुए कोई पकना है, कोई नहीं पकना है। तथा समकाल में एक राजा की नौकरी करते हुए एक नौकर को थोड़े ही काल में नौकरी का फल मिल जाना है, अरु दूसरे को बहु कालांतर में भी वैसा फल नहीं मिलता है। तथा समकाल में गेती करते हुए एक जाट के तो बहु धान्य उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु दूसरे को थोड़ा उत्पन्न होता है। तथा समकाल में कौड़ियों को मुट्ठी भर कर भूमिका में गेरे, तब कितनीक कौड़िया सीधी पड़ती है, अरु कितनीक झोधी पड़ती है। अथ जेकर काल ही एकला कारण होवे, तब तो सर्व मूंग एक ही काल में पक जाते, परन्तु पकते नहीं हैं। इस घास्ते केवल काल ही जगत की विचित्रता का कर्ता नहीं है, किंतु कालादि सामग्री के मिलने से कर्म कारण है, यह सिद्ध पक्ष है।

अथ दूसरा ईश्वरवादी अरु तीसरा अद्वैतवादी, ए दोनों मतों का खण्डन द्वितीय परिच्छेद में लिख भाये हैं, तहां से जान लेना।

अथ चौथा मत नियतिवादी का है, तिस का खण्डन

लिखते हैं—नियतिवादी कहते हैं, कि सर्व नियतिवाद का पदार्थों का कर्त्ता नियति है । नियति उस स्रष्टा को कहते हैं कि जिस करके सभी पदार्थ नियत रूप में ही होते हैं । सो भी नियति, ताड्यमान अति जीण वस्त्र की तरे, विचार रूप ताडना को असहमान सैकड़ों टुकड़ों को प्राप्त होती है, सोई कहते हैं । हे नियतिवादी ! तेरा जो नियति नाम का तत्त्वातर है, सो भावरूप है, किंवा अभावरूप है ? जेकर कहोगे कि भावरूप है, तो फिर एक रूप है, वा अनेक रूप है ? जेकर कहोगे कि एक रूप है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है ? जेकर कहोगे कि नित्य है, तो किस तरे पदार्थों की उत्पत्त्यादिक में हेतु है ? क्योंकि नित्य जो होता है, सो किसी का भी कारण नहीं होता है । क्योंकि नित्य जो होता है सो सर्व काल में एक रूप होता है । तिस का लक्षण ऐसा है—‘अप्रच्युतानुत्प-अस्थिरकस्यभावतया नित्यत्वस्य व्यावणनात्’—जो क्षरे नहीं (नष्ट न होवे), उत्पन्न भी न होवे, अथ स्थिर एक स्वभाव करके रहे, सो नित्य । जेकर नियति तिस नित्य रूप

॥ “नियति नाम तत्त्वातरमस्ति यद्दशादेते श्वऽपि भावा नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा” । [पद० स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

अर्थात् नियति नाम का तत्त्वातर है, जिस के बल से सभी पदार्थ निश्चित रूप से ही उत्पन्न होते हैं अनिश्चित रूप से नहीं ।

करके कार्य उत्पन्न करे, तब तो सर्वदा तिसही रूप करके कार्य उत्पन्न करना चाहिये, क्योंकि तिस के रूप में कोई भी विशेषता नहीं है, अर्थात् एक ही रूप है। परन्तु सर्वदा तिस ही रूप करके तो कार्य उत्पन्न नहीं करती है, क्योंकि कभी कैसा घट कभी कैसा कार्य उत्पन्न होता दीप्त पड़ता है। तथा एक और भी बात है, कि जो दूसरे तीसरे आदि क्षण में नियति ने कार्य करने हैं, वो सर्व कार्य प्रथम समय ही में उत्पन्न कर लेवे, क्योंकि तिस नियति का जो नित्य करण स्वभाव द्वितीयादि क्षण में है, सो स्वभाव प्रथम समय में भी विद्यमान है। जेकर प्रथम क्षण में द्वितीयादि क्षण वर्त्ती कार्य करने की शक्ति नहीं, तो द्वितीयादि क्षण में भी फाय न होना चाहिये, क्योंकि प्रथम द्वितीयादि क्षण में कुछ भी विशेष नहीं है। जेकर प्रथम द्वितीयादि क्षण में नियति के रूप में परस्पर विशेष मानोगे तब तो जोरा जोरी नियति के रूप में अनित्यता आगई। क्योंकि “अतादवस्थ्यमनित्यता घ्न इति वचन प्रामाण्यात्”—जो जैसा है वो नैसा न रहे, [इस वचन प्रमाण से] उस को हम अनित्य कहते हैं।

प्रतिज्ञादी — नियति नित्य, विशेष रहित भी है, तो भी तिस तिस सहकारी की अपेक्षा करके कार्य उत्पन्न करती है। अरु जो सहकारी है, सो प्रतिनियत देश, काल वाले हैं, तिस वास्ते सहकारियों के योग से कार्य प्रम करके होना है।

सिद्धान्ती — यह भी तुमारा कहना असमीचीन है । क्योंकि सहकारी जो हैं, सो भी नियति करके ही प्राप्त होते हैं । अरु नियति जो है, सो प्रथम क्षण में भी तिस को करने के स्वभाव वाली है । जेकर द्वितीयादि क्षण में दूसरे स्वभाव वाली नियति मानोगे, तब तो नित्यपने की हानि हो जायगी । तिस वास्ते प्रथम क्षण में सर्व सहकारियों के समग्र होने से प्रथम क्षण में ही सर्व फाय करने का प्रसंग हा जायगा । तथा एक और भी बात है, कि सहकारियों के होने से कार्य हुआ, अरु सहकारियों के न हाने से कार्य न हुआ । तब तो सहकारियों ही को अग्रय व्यतिरेक देने से कारण कहना चाहिये । परंतु नियति को कारण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि नियति में व्यतिरेक का असम्भव है । उक्तच —

* हेतुनान्वयपूरण, व्यतिरेकेण सिद्धयति ।

नित्यस्याव्यतिरेकस्य, कुतो हेतुत्वमभव' ॥

अथ जेकर इन पूर्वोक्त दृश्यों के भय से अनित्य पक्ष मानोगे, तब तिस नियति के प्रतिक्षण अग्र अग्र रूप होने से नियतिया बहुत हो जायँगी और जो तुम ने नियति एक

* कार्य के साथ जिस का अवय और व्यतिरेक दोनों ही हों वही हेतु कारण हो सकता है, और जो नित्य तथा अग्रतिरेकी हो, वह कारण नहीं बन सकता ।

रूप मानी थी, तिस प्रतिष्ठा का व्याघात होने का प्रसङ्ग हो जायगा। अरु जो पदार्थ क्षणक्षयी होता है, वो किसी का कार्य कारण नहीं हो सकता है। तथा एक और भी बात है कि जेकर नियति एक रूप होये, तदा तिस में जो कार्य उत्पन्न होयेंगे, सो सर्व एक रूप ही होने चाहिये, क्योंकि बिना कारण के भेद हुए कार्यभेद कदापि नहीं हो सकता है। जेकर ही जाये, तब तो वह कार्यभेद निहेतुक ही होयेगा। परन्तु हेतु बिना किसी कार्य का भेद नहीं है। जेकर अनेक रूप नियति मानोगे, नब सो तिस नियति से अन्य नानारूप विशेषण बिना नियति नानारूप कदापि न होयेगी। जैसे मेघ का पानी, काली, पीली, ऊपर भूमि के सम्यन्ध बिना नानारूप नहीं हो सकता है, यदुक्त—*“विशेषण बिना यस्मात् न तुल्यात्ता विशिष्टतेति वचनप्रामाण्यत्”। तिस वास्ते अत्रश्य अन्य नानारूप विशेषणों का जो होना है, सो क्या तिस नियति से ही होता है, अथवा किसी दूसरे से होता है? जेकर कहोगे कि नियति से ही होता है, तब तो एक रूप नियति से होने वाले विशेषणों की नानारूपता कैसे होये? जेकर कहोगे कि विचित्र कार्य की † अन्यथानुपपत्ति करके

* क्योंकि विशेषण के बिना समान वस्तुओं में विशिष्टता-भिन्नता नहीं आती है।

† कार्य का कारण न बिना न होना अन्यथानुपपत्ति है, जैसे कि

नियति भी विचित्र रूप ही मानते हैं, तब तो नियति की विचित्रता बहुत विशेषणों बिना नहीं होवेगी । तिस वास्ते नियति के बहुत विशेषण अभीकार करने चाहिये । अथ तिन विशेषणों का जो भाव है, सो तिस नियति ही से होता है, अथवा किसी दूसरे से ? जेकर कहोगे कि नियति से होता है, तब तो अनवस्था दूषण होता है । जेकर कहोगे कि अन्य से होता है, तो यह भी पक्ष अयुक्त है, क्योंकि नियति बिना और किसी को तुमने हेतु नहीं माना है इस वास्ते यह तुमारा कहना किसी काम का नहीं है । तथा अनेक रूप नियति है, जेकर तुम ऐसे मानोगे, तब तो तुमारे मत के वैरी दो विकल्प हम तुम को भेट करते हैं । तुमारी नियति अनेक रूप जो है, सो मूर्त्त है ? वा अमूर्त्त है ? जेकर कहोगे कि मूर्त्त है, तब तो नामातर करके कम ही तुमने माने । क्योंकि कम जो हैं, सो पुद्गलरूप होने से मूर्त्त भी हैं अरु अनेक रूप भी हैं । तब तो तुमारा हमारा एक ही मत हो गया, क्योंकि हम जिनको कर्म मानते हैं, उन ही कर्मों का नामातर तुमने नियति मान लिया, परंतु वस्तु एक ही है । अथ जेकर नियति को अमूर्त्त मानोगे, तब तो नियति अमूर्त्त होने से सुख दुःख का हेतु न होवेगी । जैसे आकाश अमूर्त्त है, और सुख दुःख का हेतु नहीं है, पुद्गल ही मूर्त्त होने से सुख दुःख का हेतु हो सकता है । जेकर तुम ऐसे मानोगे कि

धूम अपने कारण अग्नि के बिना नहीं होता है ।

आकाश भी देश भेद करके सुख दुःख का हेतु है, जैसे मारवाड़ देश में आकाश दुःखदायी है, शेष सजल देशों में सुखदायी है। यह भी तुमारा कहना असत् है। क्योंकि तिन मारवाड़ादि देशों में भी आकाश में रहे हुए जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलों ही करी दुःख सुख होते हैं। तथाहि मरस्थली जो है, सो प्रायः जल करके रहित है, धर तिस में बालु भी बहुत है। नहा जय रस्ते में चलते हुए पग बालु में धस जाते हैं, तब तो पसीना बहुत आ जाता है। जय उष्ण काल में सूर्य की किरणों से बालु तप जाता है, तब बहुत सताप होता है। अरु जल भी पीने को पूरा नहीं मिलता है, तिस के खोदने में बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। इस वास्ते उन देशों में बहुत दुःख है। परन्तु सजल देशों में पूर्वोक्त कारण नहीं हैं। इस वास्ते पूर्वोक्त दुःख भी नहीं है। इस हेतु से पुद्गल ही सुख दुःख का हेतु है, परन्तु आकाश नहीं।

अत्र जेकर नियति को अभावरूप मानोगे, तो यह भी तुमारा पक्ष अयुक्त है क्योंकि अभाव जो है सो तुच्छरूप है, शक्ति रहित है, और कार्य करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि फटक कुण्डलादिकों का जो अभाव है। सो फटक कुण्डल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है, ऐसे देखने में आता है। जेकर फटक कुण्डलादिकों का अभाव फटक कुण्डलादिक उत्पन्न करे, तब तो जगत् में कोई भी दृष्टि न रहे।

प्रतिवादी — घटाभाव जो है सो मृत्पिंड है। तिस माटो

के पिंड से घट उत्पन्न होता है । तो फिर हमारे कहने में क्या अयुक्तता है ? अरु जो माटी का पिंड है सो तुम्हरूप नहीं है, क्योंकि वो अपने स्वरूप करके विद्यमान है । तो फिर अभाव पदार्थ की उत्पत्ति में हनु क्यों नहीं हो सकता ?

सिद्धान्ती — यह भी तुमारा पक्ष असमीचीन है । क्योंकि जो माटी का पिंड का स्वरूप है, सो भावाभाव का आपस में विरोध होने से अभावरूप नहीं हो सकता, जेकर भावरूप है, तो अभाव कैसे हुआ ? जेकर अभाव रूप है, तो भाव कैसे हुआ ? जेकर कहोगे कि स्वरूप की अपेक्षा भावरूप, अरु पररूप की अपेक्षा अभावरूप है, तिस घास्ते भावाभाव दोनों के न्यारे निमित्त होनेसे कुछ भी दूषण नहीं । इस कहने से तो माटी का पिंड भावाभावरूप होने से अनेकातात्मक स्वरूप होगा । परन्तु यह अनेकातात्मपना जैनों के ही मत में स्वीरुत है क्योंकि जैन मत वाले ही सर्व वस्तु को स्वपरभावादि स्वरूप करके अनेकातात्मक मानते हैं । परन्तु तुमारे मत में इस सिद्धान्त को अगीकार किया नहीं है । जेकर कहोगे कि मूर्तिपिंड में जो पररूप का अभाव है, सो तो कपित है, अरु जो भावरूप है सो तात्त्विक है, इस बास्ते अनेकातात्मक वाद को हम को शरण नहीं लेनी पड़ती । तो फिर तिस मूर्तिपिंड से घट कैसे हीयेगा ? क्योंकि मूर्तिपिंड में परमाथ से घट के प्रागभाव का अभाव है । जेकर प्रागभाव के बिना भी मूर्तिपिंड से घट हो जाये, तो फिर सूत्र-

पिंडादिक में भी घट क्यों नहीं हो जाता ? जैसा मृत्पिंड में घट के प्रागभाव का अभाव है, वैसा ही मूत्रपिंडादिक में भी घट के प्रागभाव का अभाव है। तथा मृत्पिंड में खरशृंग क्यों उत्पन्न नहीं हो जाता ? इस वास्ते यह तुमारा कहना कुछ काम का नहीं है। तथा जो तुमने कहा था, कि जो वस्तु जिम अवसर में जिस में उत्पन्न होवे है, सो कालांतर में भी वही वस्तु तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होती हुई दीपती है। सो यह तुमारा कहना ठीक है, क्योंकि कारण सामग्री के अनादि नियमों से काय भी तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होता है। जब कि कारणशक्ति के नियम से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर कौन ऐसा प्रेक्षावान् प्रमाण पथ का पुराल है, जा प्रमाणायाधित नियति को अंगीकार करे ?

अथ पाचमा स्वभाववादी का खण्डन लिखते हैं। स्वभाववादी ऐसे कहते हैं, कि इस ससार में स्वभाव वाद सर्व भाव पदार्थ स्वभाव ही से उत्पन्न होते हैं। यह स्वभाववादियों का मत भी नियतिवाद के खण्डन से ही खण्डित हो गया, क्योंकि जो दूषण नियतिवादी के मत में कहे हैं, वे सर्व दूषण प्रायः यहा भी समान ही हैं। यथा—यह जो तुमारा स्वभाव है, सो भावरूप है ? अथवा अभावरूप है ? जेकर कहोगे कि भावरूप है, तो क्या एक

रूप है ? वा अनेक रूप है ? इत्यादि सर्व द्रूपण नियति को तरे समझ लेने ।

एक और भी बात है । वह यह कि स्वभाव आत्मा के भावको कहते हैं । इस पर हम पूछने हैं, कि स्वभाव कार्यगत हेतु है ? वा कारण गत ? कार्यगत तो है नहीं, क्योंकि जब काय उत्पन्न हो जायेगा, तब कायगत स्वभाव होगा और बिना काय के हुए कायगत हो नहीं सकता । तथा जब काय स्वयं अर्थात् स्वभाव के बिना हो गया, तब तिसका हेतु स्वभाव कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो जिस के अलंघ्यत्व लाभ संपादन में समर्थ होवे, सो तिसका हेतु है । परन्तु काय तो उस के बिना निष्पन्न होने करके स्वयमेव लंघ्यत्वलाभ है । यदि ऐसा न हो तो स्वभाव ही को अभाव का प्रसंग हो जायेगा, अतः अकेला स्वभाव कार्य का हेतु नहीं है । जेकर कहोगे कि वह कारणगत हेतु है, सो यह तो हम को भी समत है । वह स्वभाव प्रतिकारण भिन्न है । तिस करके माटी से घट ही होता है, पटादि नहीं, क्योंकि माटी के पिंड में पटादि उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं है । अथ ततुओं से पट ही होता है, घटादि नहीं होते, क्योंकि ततुओं में घट उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं है । तिस घास्ते जो तुमने कहा था, कि माटीसे घटही होता है, पटादि नहीं होता, सो तो सर्व कारणगत स्वभाव मानने से सिद्ध ही की साधना है । अतः यह पक्ष हमारे मत का बाधक नहीं है । तथा जो तुमने कहा

या कि मूंगों में पकने का स्वभाव है, कोकडु में नहीं, इत्यादि । सो भी कारणगत स्वभाव का अगीकार कर लेने में समीचीन हो जाता है । जैसे एक कोकडु मूंग स्वकारण वरसे नैमे रूप वाले हुए हैं, कि हाडी, ईधन, कालादि सामग्री का संयोग भी है, तो भी नहीं पकते । तथा स्वभाव जो है सो कारण से अभिन्न है । इस वास्ते सर्व वस्तु सकारण ही हैं, यह सिद्ध पक्ष है ।

अथ अक्रियावादियों में जो यहच्छायादी हैं, तिनों ने कहा था, कि वस्तुओं का नियत कार्यकारण-यहच्छा-वाद भाव नहीं है, इत्यादि । सो उन का यह का अर्थन कहना भी कार्यकारण के विवेचन करने वाली बुद्धि में रहित होने का सूचक है । क्योंकि कार्य कारण का आपस में प्रतिनियत सम्बन्ध है । तथाहि—शालूक से जो शालूक उत्पन्न होता है, सो यह सदा शालूक ही से उत्पन्न होगा, परन्तु गोबर से नहीं । अरु जो गोबर से शालूक उत्पन्न होता है, यह सदा गोबर ही से उत्पन्न होगा, परन्तु शालूक से नहीं । अरु इन दोनों शालूकों की शक्ति, वृष्णादि की विचित्रता से और परस्पर जात्यतर होने से एकरूपता भी नहीं है, तथा जो अग्नि से अग्नि उत्पन्न होती है, सो भी सदैव अग्नि ही से उत्पन्न होगी, परन्तु अरणी के काष्ठ से नहीं । अरु जो अरणी के काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, सो सदा अरणी के काष्ठ से ही

उत्पन्न होगी, परन्तु अग्नि से नहीं होती। अरु जो कहा था कि बीज से भी फला उत्पन्न होता है, इत्यादि। सो भी परस्पर विभिन्न हाने से उस का भी यही उत्तर है, कि जो ऊपर लिख आये हैं। और भी जान है, कि जो फना फल से उत्पन्न होता है, सो भी वास्तव में बीज ही से होता है, इस वास्ते परपरा करके बीज ही कारण है। ऐसे ही घटादिक भी शाखा के एक देश से उत्पन्न होते हुए वास्तव में बीज से ही उत्पन्न होते हैं। शाखा से शाखा होती है, परन्तु उस शाखा का हेतु शाखा है, ऐसा लोक मं व्यवहार नहीं है। क्योंकि वट बीज ही सकल शाखा प्रशाखा समुदायरूप वट के हेतु रूप से लोक में प्रसिद्ध है। ऐसे ही शाखा के एक देश से भी उत्पन्न होता हुआ वट, परमार्थ से मूल, वटशाखा रूप ही है, यो भी मूल बीज ही से उत्पन्न हुआ मानना चाहिये। इस वास्ते किन्नी जगे में भी कार्य कारण भाव का व्यभिचार नहीं है।

अथ अज्ञानवादी के मत का खडन लिखते हैं। अज्ञानवादी कहते हैं, कि अज्ञान ही श्रेय है, क्योंकि अज्ञानवादी का कि अथ ज्ञान होता है, तब परस्पर में विवाद खण्डन होता है, और उस के योग से चित्त में क्लृपता उत्पन्न हो कर दीघतर ससार की वृद्धि होती है, इत्यादि। यह जो अज्ञानवादियों ने कहा है, सो भी मूर्खता का सूचक है, सोइ दिखाते हैं। और बात

तो दूर रही, परन्तु प्रथम हम तुमको डो घातें पूछने हैं—ज्ञान का जो तुम निषेध करते हो, सो ज्ञान से करते हो ? या अज्ञान से करते हो ? जेकर कहोगे कि ज्ञान से करने हैं, तो फिर कैसे कहने हो कि अज्ञान ही श्रेय है ? इस पहने से तो ज्ञान ही श्रेय हुआ, क्योंकि ज्ञान के बिना अज्ञान को कोई स्थापन करने में समर्थ नहीं है । जेकर उक्त कहने का मानोगे, तो तुमारी प्रतिष्ठा के व्यापार का प्रसंग होगा । जेकर कहोगे कि अज्ञान से निषेध करते हैं । सो भी अयुक्त है, क्योंकि अज्ञान में ज्ञान का निषेध करने की सामर्थ्य नहीं है । जय अज्ञान निषेध करने में समर्थ न हुआ, तब तो सिद्ध है कि ज्ञान ही श्रेय है । अरु जो तुमने कहा था, कि जय ज्ञान होगा, तब परस्पर में होने वाले त्रिवाद के योग से चित्त कालुष्यादिभार को प्राप्त होगा । सो यह भी बिना त्रिचारे कहना है । हम परमाय से ज्ञानी उस को कहते हैं कि जिस को आत्मा त्रिवेक करके पत्रिभ होवे, अरु जो ज्ञान का गर्व न करे । तथा जो बोड़ा सा ज्ञानी हो कर, कठ लग मद्य पी कर जने उन्मत्त बोलता है तैसे बोले, अरु सरल जगत् को तृण की तरे तुच्छ माने, सो परमाय से ज्ञानवान् नहीं किन्तु अज्ञानी ही है । क्योंकि उस को ज्ञान का फल नहीं हुआ है । ज्ञान का फल तो रागद्वेषादि दूषणों का त्याग करना है । जय कि यह नहीं हुआ, तब तो परमाय से ज्ञान ही नहीं । यथा—

*नज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगण' ।
तमसःकुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रत स्थातुम् ॥

ऐसा जानो, जिसेकी पवित्र आत्मा, और पर जीवों के हिन करने में एकान रस लेने वाला जेकर वाद भी करेगा, तत्र भी पर जीवों के उपकार के ही वास्ते करेगा । अरु यह भी राजा आदि परीक्षक निपुण बुद्धि वालों की परिपदा में ही करेगा अथवा नहीं । ऐसे ही तीर्थंकर गणधरों ने वाद करने की आशा दीनी है । जब ऐसे हैं तब वाद से चित्त की मलिनता द्वारा कम का बन्ध होने से दीघतर ससार की वृद्धि कैसे होवे ? ज्ञानवाद का जो वाद है, सो केवल वादी, नरपति आदि परीक्षकों के अज्ञान को दूर करने वास्ते है । सम्यक् ज्ञान के प्रगट होने से आत्मा का बड़ा उपकार होता है । इस वास्ते ज्ञान ही ध्य है ।

अरु जो अज्ञानवादी कहता है, कि तीव्र अध्यवसाय करके जो कम उत्पन्न होते हैं, उन से दारुण विपाक-फल होता है सो तो हम मानते हैं । परंतु जो अशुभ अध्यवसाय है, तिसका हेतु ज्ञान नहीं है, क्योंकि अज्ञान ही अशुभाध्यवसायों का हेतु देखने में आता है । इस में इतनी बात और जानने

* वह ज्ञान ही नहीं है, कि जिस के उदय होने पर रागादि दोषों का समूह बना रहे । अथकार में यह शक्ति कहा, कि वह सूर्य को किष्का के आग ठहरा सके ।

योग्य है, कि ज्ञान के होते हुए कदाचित् कर्मदोष से अकार्य में प्रवृत्ति भी होये, तो भी ज्ञान के बल से प्रतिक्षण सचेत भावना के द्वारा ज्ञानी में तीव्र अगुह परिणाम नहीं होते हैं। जैसे कोई एक पुरख राजादि के दुष्ट नियोग से विषमिथित अन्न को भयभीत मन से खाता है, तैसे ही सम्यक् ज्ञानी भी कथंचित् कर्मदोष से यदि अकार्य भी करेगा, तो भी ससार के दुखों से भयभीत मनगला अवश्य होवेगा, किंतु निश्च-निर्भय नहीं होवेगा। ससार से जो भयभीत होना है, तिस ही को सचेत कहते हैं। तब सिद्ध हुआ कि जो सचेतमान है, वह तीव्र अगुह अध्यवसाय वाला नहीं होता। अरु जो तुम ने कहा था, कि अज्ञान ही सत्पुरुषों को मोक्ष जाने के वास्ते श्रेय है, ज्ञान श्रेय नहीं। सो यह कहना भी मूढता का सूचक है, क्योंकि जिसका नाम ही अज्ञान है, वो श्रेय क्योंकि हो सकता है? अरु जो तुमने कहा था, कि हम ज्ञान को मान भी लें, जेकर ज्ञान का निश्चय करने में कोई सामर्थ्य होये। सो भी मूर्खों का सा कहना है। क्योंकि यद्यपि सर्व मतों वाले परस्पर भिन्न ही ज्ञान अंगीकार करते हैं, तो भी जिस का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाण से वाधित नहीं, अरु पूर्वापर व्याहृत नहीं है, वो यथार्थरूप माना ही जायेगा। सो तैसा वचन तो भगवान् ही का कहा हुआ हो सकता है, सोई प्रमाण है, शेष नहीं। अरु जो कहा था कि बौद्ध भी अपने बुद्ध भगवान् को सर्वज्ञ मानते हैं, इत्यादि। सो भी असत् है,

क्योंकि तिन का वचन प्रमाण से बाधित है। इस वास्ते सुगतादिक सबज्ञ नहीं हैं। तिनका वचन जैमे बाधित है, तैसे आगे लिखेंगे।

तथा जो तुमने कहा था कि यदि वद्धमान स्वामी सर्वज्ञ भी होये, तो भी तिस वद्धमान स्वामी ही के कह हुए यह आचारागादि शास्त्र है, यह क्योंकि प्रतीत होये ? सो यह भी तुमारा कहना दूर हो गया, क्योंकि और किसी का ऐसा दृष्टवाधा रहित वचन है ही नहीं। अरु जो तुमने कहा था कि यह भी तुमारा कहना होये कि आचारागादि जो शास्त्र है, सो वद्धमान स्वामी सबज्ञ के कहे हुए हैं, तो भी वद्धमान स्वामी के उपदेश का यही अर्थ है, अन्य नहीं है, इत्यादि। सो भी अयुक्त है, क्योंकि भगवान् वीतराग है, अरु जो वीतराग होता है सो किसी को कपटमय उपदेश देकर भुलाना नहीं है, क्योंकि विप्रतारणा का हेतु जो रागादि दोषों का समूह सो भगवान् में नहीं है। अरु जो सर्वज्ञ होता है, सो जानता है, कि इस शिष्य ने विपरीत समझा है अरु इस ने समयक् समझा है। तब जिस ने विपरीत समझा है, तिसको मना कर दते हैं। परन्तु भगवान् ने गौतमादिजनों को मने नहीं करा। इस वास्ते गौतमादिकों ने सम्यक् ही जाना है। अरु जो कहा था, कि गौतमादि छद्मस्थ है, इत्यादि। सो भी असार है, क्योंकि छद्मस्थ भी उक्त रीति करके भगवान् के उपदेश से ही यथाय वक्ता

निश्चय हो सकता है। तथा विचित्र अर्थों वाला शब्द भी भगवान् ने हो कह है। सो शब्द जैसे प्रकरण का होगा, तैसे तैसे ही अर्थ का प्रतिपादक हो सकता है। इस वास्ते कोई भी दृषण नहीं, क्योंकि तिस तिस प्रकरण के अनुसार तिस तिस अर्थ का निश्चय हो जाता है। अरु गौतमादिकों ने जिस जिस जगे जिस जिस शब्द का जैसा जैसा अर्थ करा है, सो भगवान् ने निषेध नहीं करा। इस वास्ते भी जाना जाता है, कि गौतमादिक ने यथार्थ ही जाना है, अरु यथाय ही शब्दों का अर्थ करा है। अरु जो कुछ गौतमादिकों ने कहा था, सोई आचार्यों की अत्रिच्छिन्न परंपरा करके अरु तक तैसे ही अर्थ का अयगम होता है। तथा ऐसे भी न कहना कि आचार्यों की परंपरा हम को प्रमाण नहीं? क्योंकि अत्रिपरीतार्थ कहने से आचार्यों की परंपरा को कोई भी झूठी करने में समर्थ नहीं है।

एक और भी बात है यह, यह कि तुमारा जो मत है, सो आगममूलक है? वा अनागममूलक है? जेकर कहामे कि आगममूलक है, तत्र तो आचार्यों की परंपरा क्योंकर अप्रामाणिक हो सकती है? आचार्यों की परंपरा के बिना, आगम का अर्थ ही क्योंकर जाना जायगा? जेकर कहोगे कि अनागममूलक है, तत्र तो उन्मत्त के वचनवत् प्रामाणिक ही न होवेगा।

प्रतिवादी — यद्यपि हमारा मत आगममूलक नहीं है, तो

भी यह युक्तियुक्त है, इस वास्ते हम मानते हैं ।

सिद्धांती — अहो ! 'दुरत स्पर्शनानुराग'—कैसा भारी अपने मत का राग है ! क्योंकि यह पूर्वापर विरुद्ध भाषण तो अज्ञान मत का भूषण है ।

प्रतिवादी — किस तरे हमारा पूर्वापर विरुद्ध बोलना ही हमारे मत का भूषण है ?

सिद्धान्ती — युक्तिया जो होती हैं, सो ज्ञानमूलक ही होती हैं । परन्तु तुम अज्ञान ही को श्रेय मानते हो । तो फिर तुमारे मत में सब युक्तियों का कैसे सम्भव हो सकता है ? इस वास्ते तुम पूर्वापर विरुद्धार्थ के भाषक हो । इस हेतु से तुमारा मत किसी भी काम का नहीं है ।

अब विनयवादी के मत का खण्डन लिखते हैं । जो वादी विनय ही में मोक्ष मानते हैं, उनका विनय-वाद कथन भी एकातवाद के मोह में युक्तिशून्य का खण्डन है क्योंकि विनय तो मुक्ति का एक अंग है ।

अरु मुक्ति मार्ग तो * "सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणाणि मोक्षमाग इति वचनात्—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, अरु सम्यक् चारित्र्य रूप है, इस वास्ते ज्ञानादिकों को तथा ज्ञानादिकों के आधारभूत जो बहुश्रुतादिक पुण्य हैं, तिन की जो विनय करे, बहुमान देने, ज्ञानादिकों की वृद्धि करे, सो परपरा करके मुक्ति का अंग हो सकता

है। परन्तु जो सुर, नरपति आदिक की विनय है, सो ससार का हेतु है, क्योंकि जो जिस की विनय करता है, वो उस के गुणों को बहुमान देता है। अरु सुर, नरपति प्रसुग्य में तो विषय भोगने का प्रधान गुण है, जब उन की विनय करी, तब तो उन के भोगों को बहुमान दिया, जब भोगों को बहुमान दिया, तब दीर्घ ससार पथ की प्रवृत्ति कर लीनी। इस वास्ते एकात विनय से जो मोक्ष मानते हैं, सो भी असत् वादी हैं, क्योंकि ज्ञानादिकों से रहित विनय साक्षात् मुक्ति का अग नहीं है। ज्ञान, दर्शन, और चारित्र्य से रहित पुरुष, केवल *पादपतनादिक विनय से मुक्ति नहीं पा सकता है, किन्तु ज्ञानादिक सहित हो कर ही पा सकता है, तब ज्ञानादिक ही साक्षात् मुक्ति के अग हुए विनय नहीं।

प्रतिवादी — हम कैसे जाने कि ज्ञानादिक ही मुक्ति के अग हैं ?

सिद्धान्ती — इस ससार में मिथ्यात्व अज्ञान, अविरति, इन तीनों ही करके कर्म वर्गणा का सम्बन्ध आत्मा के साथ होता है कर्मबन्ध का जो क्षय होना है, सोई मोक्ष है, †“मुक्ति-कर्मक्षयादिष्टेति वचनप्रामाण्यात्”। कर्म का क्षय तब होगा, जब कर्मबन्ध के कारण का उच्छेद होगा, कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्वादि तीन हैं, इन मिथ्यात्व आदि का प्रति

* पैरा पढ़ने आदि।

† [शा० स०, स्त० २ श्लो० ४४]

पक्षी सम्यक् दर्शन है, अज्ञान का प्रतिपक्षी सम्यक् ज्ञान
 अरु अविरति का प्रतिपक्षी सम्यक् चारित्र्य है । जय यह
 तीनों प्रकार भाग्यको प्राप्त होंगे, तब सद्यथा कर्मों के बन्ध
 का कारण दूर होगा जब कारण का उन्मूढ हो जायेगा, तब
 समूल कर्मोन्मूढ होने में मोक्ष होवेगी । इस वास्ते ज्ञाना
 दिक ही मोक्ष के अंग हैं विनय मात्र नहीं । विनय तो
 ज्ञानादि के द्वारा परंपरा करके मुक्ति का अंग है । परन्तु
 साक्षात् मोक्ष के हेतु तो ज्ञानादिक ही हैं । अरु जो जैन
 शास्त्रों में कई जगह पर यह लिखा है कि “सर्वक्याणामाजन
 विनय” सो ज्ञानादिकों की प्रवृत्ति के वास्ते ही लिखा है ।
 जेकर विनयवादी भी इस नरे मानना है, तब तो विनयवादी
 भी हमारे मत का ही समर्थक है, तब तो फिर विवाद का
 ही अभाव है । यह समुच्चय ३६३ मत का किञ्चित् मात्र
 स्वरूप लिखा है ।

अथ भव्य जीवों के बोध के वास्ते पद्म दर्शनों का किञ्चित्
 स्वरूप लिखते हैं —

उस में प्रथम बौद्ध दर्शन का स्वरूप कहते हैं । बौद्ध
 मन में जो गुरु होत है तिन का लिंग ऐसा
 बौद्धमत का होना है । मस्तक मुण्डा धुआ, चाम का
 स्वरूप दुरुड़ा, कमडलु धातुरक्त घन्त्र, यह तो उनका
 चेष है । अरु शौचक्रिया बहुत है, कोमल शय्या
 में सोना सरे उठ करके पय पीना, मयाह काल में भान

खाना, अपराह मे पानी पीना, अद्ध रात्रि में द्राक्षाण्ड, मिसरी आदि का खाग, मरण के अन्त में मोक्ष, यह बौद्धों का चलन है । तथा मनगमता भोजन करना, मनगमती शय्या, आसन, अरु मनगमता रहने का स्थान, ऐसी अच्छी सामग्री से मुनि अच्छा ध्यान करता है । अरु भिक्षा के समय पात्र मे जो कुछ पड जाये, सो सर्व शुद्ध मान करके ये मास भी खा लेत है । अरु अपनी ब्रह्मचर्यादि की क्रिया में बहुत दृढ होते हैं । यह उन का आचार है । धर्म, बुद्ध, सब, इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं । अरु शामन के पिणों का नाश करने वाली तारा देवी को मानते हैं । पिपश्यादिक सात, इन के पुद्गापतार हैं, जिन की मूर्तियों के कठ में तीन तोन रेखा का चिह्न होता है । तिन को भगवान् मानते हैं, अरु सर्वज्ञ मानते हैं ।

ये बुद्ध भगवान् को जितने नामों से कहते हैं, सो नाम लिखते हैं — १ बुद्ध, २ सुगत, ३ धर्मधातु, ४ त्रिकालजित्, ५ जिन, ६ बोधिसत्त्व, ७ महाबोधी, ८ आर्य, ९ शाम्ना, १० तथागत, ११ पञ्चज्ञान, १२ पडभिज्ञ, १३ दशार्ह, १४ दशभूमिग, १५ चतुर्विंशज्जातकण, १६ दशपारमिताधर, १७ द्वादशाक्ष, १८ दशगल, १९ त्रिकाय, २० धीघन, २१ अद्यय, २२ समतभद्र, २३ सगुत्त, २४ दयाकूर्च, २५ विनायर, २६ मारजित् २७ लोकजित्, २८ मुपजित्, २९ धर्मराज, ३० विशानमात्रक, ३१ महार्मत्र, ३२ मुनीन्द्र, यह यत्तीम नाम

प्यक, १० कुशिक, ११ अत्रि, १२ विंगल, १३ पुष्पक, १४ बृहदार्य, १५ अगस्ति, १६ सतान, १७ राशिकर, १८ विद्या गुरु, यह अठारह उन के तीर्थेश हैं । इन की बहुत सेवा करते हैं । इन का पूजन, अरु प्रणिधान तिन के शास्त्रों से जान लेना ।

इन का अक्षपाद मुनि अर्थात् गौतम मुनि गुरु है । तिन के मत में भरट ही पूजनीक है । वे कहते हैं, कि देवताओं के सम्मुख हो कर नमस्कार नहीं करनी चाहिये । जैसा नैयायिक मत में लिंग रेप, और देव आदि का स्वरूप है, तैसा ही वैशेषिक मत में भी जान लेना, क्योंकि नैयायिक वैशेषिकों के प्रमाण अरु तर्कों में बहुत थोड़ा भेद है । इस वास्ते यह दोनों मत तुल्य ही हैं । इन दोनों ही को नपस्थी कहते हैं । अरु इन के शास्त्रिक चार भेद हैं—१ शैव, २ पाशुपत, ३ महाव्रतधर, और ४ कालमुख । इन के अवातर भेद भरट, भक्तलंगिक, और तापसादिक है । भरटादिकों को घन के ग्रहण करने में ब्राह्मणादि घणों का नियम नहीं, किंतु जिस की शिव के विषे भक्ति होये सो ब्रती भरटादिक होता है । परन्तु शास्त्रों में नैयायिक को सदा शिवभक्त होने से शैव, और वैशेषिकों को पाशुपत कहते हैं* ।

इन नैयायिकों के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द,

* इस सार प्रकरण के लिय देखो पृष्ठ सं० की गुणरत्नसंस्कृत श्रुति ।

यह चार प्रमाण माने हैं । अरु १ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ सयय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धांत ७ अप्रयय, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० धाद ११ जल्प, १२ पितडा १३ हेत्या भास, १४ छज, १५ जाति, और १६ निग्रहस्थान, यह सोला पदाय मानते हैं । इन का विस्तार बहुत है, इस याम्ते नहीं लिखा । दुष्टों का जो आत्यन्तिक वियोग, तिस को मोक्ष कहते हैं । न्यायसूत्र—कर्त्ता अक्षपाद् मुनि, भाष्य—कर्त्ता वात्स्यायन मुनि, न्याय धार्त्तिक—कर्त्ता उद्योतकर, तात्पर्य टीका—कर्त्ता वाचस्पति मिश्र, तात्पर्य परिशुद्धि कर्त्ता उदयनाचार्य, न्यायालकार वृत्ति—कर्त्ता धीक-टाभयतिलकोपाध्याय और भासर्वज्ञप्रणीत न्यायसार की अटारह टीका हैं तिन में से न्यायभूषण नामक टीका, जयतरचित, न्यायकलिका, और न्याय कुसुमाजलि आदि इन नैयायिकों के तर्क मुख्य ग्रथ हैं ।

वैशेषिक मत भी यहीं लिख देते हैं । वैशेषिकों का मत नैयायिकों के तुल्य ही है, परंतु इतना विशेष वैशेषिक मत है, कि इस मत वाले प्रत्यक्ष अरु अनुमान का स्वरूप यह दो प्रमाण मानते हैं, तथा १ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य, ५ विशेष, ६ समवाय, इन भापरूप छ तत्त्वों को मानते हैं । इन सर्व का विस्तार देरना होवे, तो वैशेषिक मत के ग्रन्थों में देख लेना, तथा तपागच्छाचार्य श्रीगुणरत्नसूरि विरचित पद्दसंन-

समुच्चय ग्रन्थ की टीका देख लेनी। अथ वैशेषिकमत के जो तक ग्रन्थ हैं—सो कहते हैं, कन्दली (६००० श्लोक प्रमाण)—श्रीधर आचार्य कत्ता, वैशेषिक सूत्र (३००० श्लोक प्रमाण), प्रशस्तकर भाष्य (७०० श्लोक प्रमाण), व्योमसिनाचार्यवृत व्योममती टोका (६००० श्लोक प्रमाण), उदयन की करी हुई किरणावली (६००० श्लोकप्रमाण), श्रीजत्स आचार्यवृत लीलावती टीका (६००० श्लोक प्रमाण), अरु एक आत्रेय तत्र था, सो व्यवच्छेद हो गया है। यह वैशेषिक मतवाले कहते हैं, कि शिखी ने उल्क का रूप धारण करके कणाद मुनि के आगे यह वैशेषिक मत प्रकाश करा था, इस वास्ते इस मत का नाम औलूभ्य मत भी है।

अथ साख्यमत लिखते हैं। प्रथम तो साख्यमत के साधुओं के जाने वास्ते उन के लिंगादि लिखते हैं।
 साख्य मत सो थिदडो भी होते हैं अरु एक दण्डवाले भी होते हैं। कौपीन पहरते हैं धातुरक्त वस्त्र रखते हैं, कोई शिर पर शिन्वा रखते हैं, अरु कोई जटा रखते हैं, कोई मस्तक छुर मे मुण्डा कर रखते हैं। भृगवम का आसन रखते हैं। द्विजों के घर का अन्न खाते हैं, कोई पाच ही भोजन खाते हैं। अरु वारा अक्षर का जाप करते हैं। तिन के भक्त जब उन को धन्दना करते हैं, तब “ॐ नमो नारायणाय” ऐसे कहते हैं तब गुरु उन को ‘नमो नारायणाय’ ऐसे कहते हैं। अरु महाभारत में जिस का नाम “धीटा” ऐसे

लिया है, इस काष्ठ को मुखवस्त्रिका को मुख के निश्रास-निरोध के वास्ते रखते हैं, जिस में मुखश्रास में जीवहिंसा न होवे। यदाहुस्ते —

घ्राणादितोऽनुयातेन, ग्वासेनैकेन त्रतवः ।

हन्यते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्रात्तरयादिनाम् ॥

[पङ्० स०, पृ० वृत्ति, अ० ३]

वे साय्य मत के * गुरु (साधु) जल के जीवों की दया के वास्ते अपने पास पानी के छानने के निमित्त एक गलना रखते हैं, अरु अपने भक्तों को पानी के वास्ते तीस अगुल प्रमाण लम्बा और बीस अगुल प्रमाण चौड़ा, दृढ गलना रखने का उपदेश करते हैं । अरु जो जीव पानी के छानने से निकले, उस को उमी पानी में पीन्ने प्रक्षेप कर देना, क्योंकि मीठे पानी खरे पानी के पूरे मर जाते हैं, अरु खारे पानी के मिलने से मीठे पानी के पूरे मर जाते हैं, इस वास्ते दोनों पानी का परस्पर मेल न करना । बहुत सूक्ष्म पानी के एक त्रिंशु में इतने जीव हैं, कि जेकर भ्रमर के समान उन जीवों की फाया बनाई जाये, तो तीन

* वर्तमान काल में साय्यमत के साधु नहीं हैं, जिस समय में वे विद्यमान थे, उस समय में उन का जो वेप तथा आचार था, उस का यह वर्णन है ।

लोक में वे जीव न समा सकेंगे । [इति गलनफयिचारो मोमाम्नायाम्]

यह साख्य भी एक प्राचीन, अरु एक त्रीन ऐसे दो तरे के हैं । नदीनों का दूसरा नाम पानजल भी कहने हैं । इन में प्राचीन साख्य, ईश्वर को नहीं मानते हैं, अरु नदीन साख्य ईश्वर को मानते हैं । जो निरीश्वर हैं, उन का नारायण देव है, अरु उन के जो आचार्य हैं, सो त्रिपुत्र प्रतिष्ठा पारक तथा चैतन्य प्रमुख शब्दों करके कहे जाते हैं । अरु साख्य मत के आचार्य कपिल आसुरी, पचरिष, मागय, उलूक, और ईश्वररुष्णा प्रभृति हैं । साख्यमत वालों को कापिल भी कहते हैं । तथा कपिल का परमर्षि ऐसा दूसरा भी नाम है । इस वास्ते तिन को पारमप कहते हैं । धारा शाली (धनारस) में ये बहुत होत हैं । तथा एक मास का उपवास करने वाले बहुत से ब्राह्मण अर्चिमाग से विरुद्ध धूममाग के अनुगामी हैं । परन्तु साख्यमतानुयायी तो अर्चिमाग का ही अवलम्बन करते हैं । इस वास्ते ब्राह्मण जो हैं सो वेदप्रिय होने से यज्ञमार्ग के अनुगामी हैं, और साख्यमत वाले जो हैं, सो हिसायुक वेद से पराङ्मुख होते हुए अध्यात्म मार्ग का अनुसरण करते हैं । अपने मत की महिमा ऐसी मानते हैं—

इस पिय च खाद मोद,

नित्य भुक्ष्व च भोगान् यथाऽभिकामम् ।

यदि विदित, कपिलमत,

तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥

पंचविगतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रत ।

शिखी मुराडी जटी वापि, मुच्यते नात्र सशयं ॥

अर्थ —जेकर तुमने कपिल मत जाना है, तो इसी, पियो, गेलो, पाओ, सदा पुरी रहो, जैसे रुचि होवे, तैसे भोगों को सदा भोगो, तो तुमको थोड़े से काल में मुक्ति का सुख प्राप्त हो जावेगा । पच्चीस तत्त्वों का जो जानकार होवे, सो चाहे किसी आश्रम में रहे, शिखावाला होवे, वा मुण्डित होवे, अथवा जटावाला होवे वे सर्व उपाधि से छूट जाता है, इस में शय्य नहीं ।

अथ साख्यमत में सर्व साख्ययादी, पच्चीस तत्त्व मानते हैं ।

जय यह पुरुष तीन दुःखों से अभिहत होता

दुःखत्रय है, तब तिन दुःखों के दूर करने के वास्ते

जिज्ञासा उत्पन्न होती है । सो तीन दुःख

यह हैं — १ आध्यात्मिक, २ आधिदैविक, ३ आधिभौतिक ।

आध्यात्मिक जो दुःख है, सो दो प्रकार का है, एक शारीरिक,

दूसरा मानसिक । तथा जो वायु, पित्त, श्लेष्म, इन तीनों की

विषमता से देह में जो अतिसारादिक होते हैं, सो शारीरिक

है । अरु विषयों के देखने से जो काम, मोह, लोभ, मोह,

ईर्ष्या आदि होवे, सो मानसिक दुःख है । यह दोनों

घातरिक उपाय से दूर हो सकते हैं, इस वास्ते इन को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। २ जो दुःख मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सप, स्थायर आदि के निमित्त करके होता है, तिस को आधिभौतिक कहते हैं, ३ तथा यत्न, राक्षस, भूतादिक का प्रप्रेय हो जाना, महामारी, अनादृष्टि अतिदृष्टि का होना, तिस का नाम आधिभौतिक है। अन्तिम दो दुःख बाह्य हैं क्योंकि बाह्य उपाय से साध्य हैं। इन तीनों दुःखों करके दुःखी हुए प्राणियों के दुःखों के दूर करने को वास्ते तत्त्वों के जानने की इच्छा होती है। सो ये तत्त्व पच्चीस हैं।

अत्र इन का स्वरूप लिखते हैं। तिन में प्रथम सत्त्वादि गुणों का स्वरूप कहते हैं। प्रथम सत्त्वगुण तीन गुणों का सुख लक्षण, दूसरा रजोगुण दुःख लक्षण, स्वल्प तीसरा तमोगुण मोहलक्षण है। इन तीनों गुणों के यह लिंग हैं—सत्त्वगुण का चिह्न प्रसन्नता, रजोगुण का चिह्न सताप, तमोगुण का चिह्न दीनपना। प्रसाद, बुद्धि पाटय, लाघव, प्रथय, अनभिष्वग, अद्रप प्रीति आदि, यह सत्त्वगुण के कार्यलिंग हैं। ताप, शोष, भेद, चलचित्तता, स्तम्भ, उद्वेग यह रजोगुण के कार्य लिंग हैं। दैन्य, मोह, मरण, सादन, वीभत्सा, अज्ञानगौरवादि, यह तमोगुण के कार्यलिंग हैं। इन कार्यों के द्वारा सत्त्वादि गुण जाने जाते हैं। जैसे कि लोक में किसी पुरुष को जो कुछ सुख उपलब्ध होता है, सो आर्जव, मार्दव, सत्य,

शौच, लज्जा, शुद्धि, क्षमा, अनुकंपा, प्रसादादि रूप है, यह सर्व सत्त्व गुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ दुःख उपलब्ध होता है, सो द्वेष, द्रोह, मत्सर, निंदा, वचन, बधन, तापादि रूप है, सो रजोगुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ मोह, उपलब्ध होता है, सो अज्ञान, मद, भ्रालस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिकता, विपाद, उन्माद स्वप्नादि रूप है, यह तमोगुण के कार्य हैं। इन परस्पररोपकारी सत्त्वादिक तीन गुणों करके सर्व जगत् व्याप्त है। परन्तु ऊर्ध्व लोक में देवताओं विषे बाहुल्य करके सत्त्वगुण है, अधोलोक, तियच और नरकों विषे बाहुल्य करके तमोगुण है, तथा मनुष्यों में घटुलता करके रजोगुण है।

इन तीनों गुणों की जो सम अवस्था है, तिस का नाम प्रकृति है तिस प्रकृति को प्रधान और अत्यन्त भी कहते हैं। सो प्रकृति नित्य स्वरूप है। “अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभा य कृट्म्य नित्यम्” यह नित्य का लक्षण है। अरु यह जो प्रकृति है, सो अनवयया, असाधारणी, अशब्दा, अस्पर्शा, अरसा, अरूपा, अगधा, अव्यया कही जाती है। जो मूल साख्यमती है, वे एक एक आत्मा के साथ न्यारा न्यारा प्रधान मानते हैं, अरु जो नवीन साख्यवादी हैं, वे सर्वात्माओं में एक नित्य प्रधान मानते हैं। प्रकृति अरु आत्मा के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, इस वास्ते सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम लिखते हैं।

तिस प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न होती है । पुरोवर्त्ती गौ
 आदि के दीग्वने से, यह गौ ही है, घोड़ा नहीं,
 पचास तारों तथा यह स्थाणु ही है पुर्य्य नहीं, ऐसा
 का स्वरूप निश्चयरूप जो अध्ययसाय होता है, तिस
 का नाम बुद्धि है, इस का दूसरा नाम महत्
 है । तिस बुद्धि के आठ रूप हैं— धर्म, ज्ञान, धैर्य्य, ऐश्वर्य्य,
 यह चार तो सात्त्विक रूप है, और अधर्म, अज्ञान, अधैर्य्य,
 अनैश्वर्य्य, यह चार तामस रूप हैं । तिस बुद्धि से अहकार
 उत्पन्न होता है, तिस अहकार से सोळा प्रकार का गण-
 पदार्थों का समूह उत्पन्न होता है । सो गण यह हैं—१ स्पर्शन-
 त्वक्, २ रसन-जिह्वा, ३ घ्राण-नासिका, ४ चक्षु-लोचन,
 ५ श्रोत्र-श्रवण, इन पाचों को बुद्धीन्द्रिय कहते हैं । यह पाचों
 अपने अपने विषय को जानती हैं । अरु यह पाच कर्मेन्द्रिय
 हैं—१ पायु-शुद्धा, २ उपस्थ-स्त्री पुर्य्य का चिन्ह,
 ३ वाक्, ४ हाथ और ५ पग हैं । इन पाचों से १
 मलोत्सग, २ सभोग, ३ बोलना ४ पकड़ना, ५ चलना
 ये पाचों काम होते हैं इस वास्ते इन पाचों को कर्मेन्द्रिय
 कहते हैं । अरु अग्यारवा मन । यह जो मन है, सो जय
 बुद्धीन्द्रियों से मिलता है, तय बुद्धीन्द्रियरूप हो जाता है,
 अरु जय कर्मेन्द्रियों से मिलता है, तय कर्मेन्द्रिय रूप हो
 जाता है । तथा यह मन सकल्प विकल्प रूप है । तथा अहकार
 से पाच तमात्रा जिनकी सूक्ष्म सहा है, उत्पन्न होती

हैं। १ रूपतन्मात्रा—सो शुक्ल कृष्णादिरूप विशेष, २ रस तन्मात्रा—सो तिक्तादिरस विशेष, ३ गन्धतन्मात्रा—सो सुरभि आदि गन्ध विशेष, ४ शब्दतन्मात्रा—सो मधुरादि शब्द विशेष, ५ स्पर्शतन्मात्रा—सो मृदु काठिन्यादि स्पर्श विशेष है। यह षोडशक गण है। इन पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यथा—रूपतन्मात्रा—से अग्नि उत्पन्न होती है। रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है। और शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। तथा स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होता है। ऐसे पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यह सब मिल कर चौबीस तत्त्वरूप प्रधान साध्य मत में निवेदन किया। अर्थात् प्रकृति, महान्, अहकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, पांच तन्मात्रा, पांच भूत, यह चौबीस तत्त्व कहे हैं। इन में से प्रधान केवल प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं है। और बुद्धि आदिक सात अपने मे उत्तरवर्ती के कारण और पूर्ववर्ती के कार्य हैं, इस वास्ते इन सातों को प्रकृति विकृति कहते हैं। षोडशक गण तो कार्यरूप होने से विकृति रूप ही है। तथा पुद्गल जो है, सो न प्रकृति है, न विकृति है, क्योंकि वह न किसी से उत्पन्न हुआ है, न किसी को उत्पन्न करता है। तथा साध्य मत के आचार्य ईश्वरकृष्ण साख्यसप्तति नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

क्योंकि, प्रकृति प्रवृत्ति स्वभाव वाली है। तथा आत्मा 'विगुण'—सत्त्वादि गुण रहित है, क्योंकि सत्त्वादि जो हैं सो प्रकृति के धर्म हैं। तथा, भोक्ता—भोगने वाला है, भोक्ता भी साक्षात् नहीं, किंतु प्रकृति का विकारभूत, उभय मुख दर्पणाकार जो बुद्धि है, तिस में सक्रात हुए सुषुप्त आदि के, अपने निर्मल स्वरूप में प्रतिबिम्बित होने से, वह भोक्ता कहलाता है—“बुद्धिर्ध्वजसितमर्थं पुरुषश्चेतयते” इति वचनात्। जैसे जार के फूलों के सन्निधान के वर से स्फटिक में रक्तादि का व्यपदेश होता है, अर्थात् यह स्फटिक रक्त है, ऐसा कहने में आता है। तैसे ही प्रकृति के निकट होने से पुरुष भी सुषुप्त आदि का भोक्ता कहा जाता है। साख्यमत के वादमहार्णव में भी कहा है—

* बुद्धिदर्पणसक्रातमर्थप्रतिबिम्बक द्वितीयदर्पणकल्पे
पुंस्यध्वारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य नत्नात्मनोविकारा-
पत्तिरिति ।

तथा कपिल का शिष्य आसुरि भी कहता है—

* बुद्धिरूप दर्पण में पड़ने वाला पदार्थों का प्रतिबिम्ब दूसरे दर्पण सदा पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। इस बुद्धि के प्रतिबिम्ब का पुरुष में प्रतिबिम्बित होना—क्षणना ही पुरुष का भोग है। इसी से उस को भोक्ता कहते हैं। आत्मा में इस से कोई विकार नहीं होता।

* निविक्लेदरूपरिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिविम्बोदय स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

तथा सारयाचाय विंध्यवासी तो आत्मा को ऐसे भोक्ता कहता है—

: पुरुषोऽविकृतात्मैः स्वनिर्भासमचेतनम् ।

मन. करोति मान्निध्यादुपाधिः स्फटिक यथा ॥

तथा वह आत्मा, “नित्यचिदाभ्युपेत” —नित्य जो चित्त चेतना, उस करके युक्त अर्थात् नित्य चेतन्य स्वरूप है। इस कहने से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष ही चेतन्य स्वरूप है, ज्ञान नहीं। क्योंकि वह ज्ञान बुद्धि का धर्म है। तथा ‘पुमान्’ यह एक वचन जाति की अपेक्षा से है, जैसे आत्मा तो

* जिस प्रकार स्वच्छ जल में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल का ही विकार है, चन्द्रमा का नहीं। उसी प्रकार आत्मा न बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से, उस मन जो भोक्तृत्व है, वह मात्र बुद्धि का विकार है पुरुष—आत्मा का नहीं। आत्मा तो वस्तुतः निर्विकार ही है।

। जेम जपाकुसुम के संयोग से स्फटिक रत्न लाल प्रतीत होता है। उसी प्रकार यह अविकारी चेतन—आत्मा, सन्निधान से अचेतन मन की अपने समान चेतन बना लेता है। तब इस मन भोक्तृत्व का अभिमान होने लगता है।

द्विज ही चार प्रकार के हैं—१ कुटीचर, २ गृहदक, ३ हस, ४ परमहस, तिन में १-त्रिदण्डी, सशिरा ब्रह्मसूत्री, गृहत्यागी, यजमानपरिग्रही, एक घर पुत्र के घर में भोजन करके कुटी में घसने वाले को कुटीचर कहते हैं । २ कुटीचर के समान घेप रखने वाला, विप्र के घर में नीरस भिक्षा करने वाला, विष्णुजाप करने वाला और नदी के तीर पर रहने वाला जो हो, तिस को गृहदक कहते हैं । ३ जो ब्रह्मसूत्र, शिखा करके रहित, कषाय घल और दंडधारी, ग्राम में एक रात्रि अथ नगर में तीन रात्रि रहता है, धूम रहित जब अग्नि हो जाये, तब ब्राह्मण के घर में भोजन करता है, तप करके शोणित शरीर, देश विदेश में फिरता रहता है, तिसको हस कहते हैं । हस का जय ज्ञान हो जाता है, तब वह चारों घणों के घर में भोजन कर लेता है, अपनी इच्छा में दण्ड रखता है ईशान दिशा के स मुख जाता है, जेकर शक्ति हीन हो जाये, तब अनशन ग्रहण करता है । ४ जो एक मात्र वेदान्त का स्वाध्यायी हो, तिस को परमहस कहते हैं । इन चारों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है । तथा ये चारों ही केवल ब्रह्माद्वैतवाद के पक्षपाती होते हैं ।

अब पूर्वमीमांसावादियों का मत विशेष करके लिखते हैं । जैमिनी मत वाले कहते हैं, कि सर्वज्ञ, सर्वज्ञ चर्चा सवदर्री, धीतराग, सृष्टि आदि का कर्ता, इन पूर्वोक्त विशेषणों वाला कोई भी देव नहीं है,

कि जिस का वचन प्रामाणिक माना जाये। प्रथम तो कहने वाला कोई देव ही सिद्ध नहीं हो सकता, फिर उसके रचे हुए शास्त्र कैसे प्रामाणिक हो सकते हैं। तथा उस की असिद्धि में यह अनुमान भी है। यथ—पुरुष सर्वज्ञ नहीं, मनुष्य होने से, रथ्यापुरुषवत् ।

प्रश्न—किकर होकर जिसकी असुर, सुर मेरा करते हैं, और तीन लोक के ऐश्वर्य के सूचक छत्र चामरादि जिस की विभूति हैं, सो सर्वज्ञ है, बिना सर्वज्ञ के इस प्रकार की लोकोत्तर विभूति क्योंकर हो सकती है ?

उत्तर—यह विभूति तो इन्द्रजालिया भी बना सकता है। इस बात का नाचो तुमारे जैनमन का समनभद्र आचार्य भी है। यथा—

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतय ।

मायाविष्वपि दृश्यते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥

[आ० मी० श्लो० १]

प्रश्न—जैसे अनादि सुराणो मल को चार तथा मृत्यु टपाकादि की क्रिया विशेष से दूर कर देने पर सुराणो सर्वथा निमज्ज हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी निरंतर धानादिकों के अभ्यास से मल रहित होकर सर्वज्ञता को प्राप्त कर सकता है, अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

उत्तर—यह कहना भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि

अभ्यास करने से भी शुद्धि की तरजमना ही होती है, परम प्रार्थ नहीं। जो पुरुष कूदा का, छलाग मारने का, अभ्यास करेगा, वो दस हाथ कूद जायेगा, बीस हाथ कूद जायेगा, अधिक से अधिक पचास हाथ कूद जायेगा परन्तु शत योजन तक अथवा सर्वे लोक को कूद के चले जाने का अभ्यास उसे कदापि नहीं हो सकेगा। ऐसे ही आत्मा भी अभ्यास के द्वारा अधिक विश्व तो हो सकता है किन्तु सबश नहीं हो सकता।

प्रश्न—मनुष्य को सबशता मत हो, परन्तु ब्रह्मा विष्णु, और महेश्वरादि तो सबश है, क्योंकि तिन को तो जगत् ईश्वर मानता है। अतः उन मंज्ञान के अतिशय की सम्पत्ति का भी सम्भव हो सकता है। इस बात को कुमारिल ने भी कहा है, कि दिव्य देह ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, ये सबश भले होये परन्तु मनुष्य को सबशता क्यों कर हो सकती है ?

उत्तर—जो राग द्वेष में मग्न हैं और निग्रह अनुग्रह में प्रस्त है, काम सेवन में तत्पर है, ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, क्योंकर सबश हो सकते हैं ? तथा प्रत्यक्ष प्रमाण भी सबशता का साधक नहीं है, कारण कि इन्द्रियें वत्तमान वस्तु ही को ग्रहण करती हैं। अरु अनुमान से भी सबश सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। एव आगम भी सर्वश की सिद्धि करने वाले नहीं। क्योंकि सब आगम विवादास्पद् ह। उपमान

भी नहीं, क्योंकि हमारा सर्वज्ञ कोई होवे, तब उपमान बने । तैसे ही अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अथवा अनुपपद्यमान ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिस के होने से सर्वज्ञ सिद्ध होवे । जब भावग्राहक पाचों प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध न हुआ, तब तो सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय सिद्ध हुआ । तथा यह अनुमान भी सर्वज्ञ के अभाव को ही सिद्ध करता है । यथा, सर्वज्ञ नहीं है प्रत्यक्षादि अगोचर होने से, यथाशुभ्रत् । जब कि कोई सर्वज्ञ देव नहीं, और उस स्वयं देव का कहा हुआ कोई शास्त्र नहीं । तब अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान कैसे होवे ? ऐसी आशंका करके जैमिनी कहता है कि इस ससार में “अतीन्द्रिय”— इन्द्रियों के अगोचर आत्मा, धर्माधम, काल, स्वर्ग, नरक, और परमाणु प्रमुख जो पदार्थ हैं, तिन का साक्षात् [करत लामलकरत] देखने वाला कोई नहीं । इस हेतु से नित्य जा वेद वाक्य हैं, तिन ही से यथार्थ तत्त्व का निश्चय होता है । क्योंकि वेद जो हैं, सो अपौरुषेय हैं, एनायता किसी के रचे हुये नहीं, अनादि नित्य हैं । तिन वेद उचनों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, परन्तु किसी सर्वज्ञ के कहे हुये आगम से नहीं होता । क्योंकि सर्वज्ञ, कोई न हुआ है, न वत्तमान में है, न आगे को कोई होवेगा । यथा—

* अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद्गृह्य न विद्यते ।

वचनेन हि नित्येन, य पश्यति स पश्यति ॥

प्रश्न — अपौरुषेय वेदों का अर्थ कैसे जाना जाये ?

उत्तर — हमारी जो अव्यवच्छिन्न अनादि परंपरा है, तिस से जाना जाता है। अतः प्रथम वेदों का ही पाठ प्रयत्न से करना चाहिये। वेद चार हैं—ऋग्, यजुष्, साम, अथर्व। इन चारों का पाठ करने के अनन्तर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये। धर्म जो है, सो अतीन्द्रिय है। वह कैसा है ? उस को किस प्रमाण से जानें ? ऐसी जो जानने की इच्छा है, तिस का नाम जिज्ञासा है। वो जिज्ञासा धर्म-साधनी है—धर्म साधने का उपाय है। इस का निमित्त नोदना—वेद वचन-वृत्त प्रेरणा है। तिस के निमित्त दो हैं। एक जनक, दूसरा ग्राहक। यहां पर ग्राहक ही निमित्त जानना चाहिये। इस का विशेष स्वरूप कहते हैं —

श्रेय साधक कार्यों में जिस के द्वारा जीवों को प्रवृत्त किया जाये, सो नोदना—वेद वचनवृत्त प्रेरणा है। धर्म जो है, सो नोदना करके जाना जाता है। इस वास्ते नोदना लक्षण धर्म है। उस का ज्ञान अतीन्द्रिय होने करके नोदना ही से हो सकता है। किसी प्रत्यक्षादिक प्रमाण से नहीं,

* अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाला, इस सत्कार में कांक्ष नहीं है। अतः नित्य वेदवाक्यों से जा देखता है, वही देखता है।

क्योकि प्रत्यक्षादिक विद्यमान के उपलभक हैं। अथ धम जो है, सो कर्त्तव्यतारूप है, तथा कर्त्तयता जो है, सा त्रिकान स्वभाव वालो है। तिस कर्त्तव्यता का ज्ञान नोदना ही उत्पन्न करा सकती है, यही मीमामकों का अभ्युपगम—सिद्धात है।

अथ नोदना का व्याख्यान करते हैं। अग्निहोत्र, सब जीवों की अहिंसा और दानादिक क्रिया के प्रवर्त्तक-प्रेरक जो वेदों के घचन, सो नोदना है। जैसे—† “अग्निहोत्र जुहुयात्स्यगकाम”। यह प्रवर्त्तक वेद वचन है, तथा निवर्त्तक वेद वचन—“न हिंस्यात् सग भूतानि, तथा न घ हिंस्रो भवेत्”। इत्यादि। इन प्रवर्त्तक और निवर्त्तक वेद वचनों से प्रेरित हुआ पुरुष जिन द्रव्य, गुण, कर्मादि के द्वारा हवनादि में प्रवृत्त और उनमें निवृत्त होता है, उस अनुष्ठान में उसके अभीष्ट स्वर्गादि फल की जिस में निहि होतो है, उस का नाम धर्म है। इसी प्रकार उक्त वेद वचनों से प्रेरित हुआ भी यदि प्रवृत्त अथवा निवृत्त नहीं होना, तो उस से उस को अनिष्ट नरकादि फल की जिम से प्राप्ति होती है, वह अधर्म है। तात्पर्य कि, अभीष्ट फल के देने वाला धम और अनिष्ट फल का सम्पादन करने वाला अधर्म है। शाबरभाष्य में भी ऐसे ही कहा है*।

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्नि होत्र करे।

* य एव धेयस्करः स एव धमशब्देनोच्यते ।

यह जमिनी पट्ट प्रमाण मानता है, १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान ३ शब्द, ४ उपमान, ५ अर्थापत्ति, और ६ अभाय । इन का विस्तार पञ्चदशनसमुच्चय की बड़ी टीका में जान लेता ।

यह पांच दर्शन आत्मिक कह जान है छटा जैन दर्शन है तिम्र का स्वरूप अगले पच्छिद्देश में लिखा जायगा । तथा नास्तिक जा है सो दर्शन में नहीं, "नास्तिक तु न दर्शनमिति राजशेखरमूरिचतुष्टयदर्शनसमुच्चयवचनात् ।" सो भी माय जीयों के जानने धाम्ने कह्युं स्वरूप लिखते हैं ।

कपाली, मम्म त्गाने वाले यामी ब्राह्मण से ले कर अत्यज पर्यन्त कितनेष नास्तिक हैं । तिन बाबाक मत का मत का लाकायन और चार्याक कहते का स्वरूप हैं । ये ज्ञान, परलोक और पुण्य पापादि कुछ नहीं मानते । चारभौतिक देह को ही आत्मा मानते हैं, तथा सयं जगत् चार भूतों से ही उत्पन्न हुआ मानते हैं । और पाचवें भूत आकाश को भी मानते हैं । इन के मत में पंच भूतात्मक जगत् है । इन के मत में पृथिवी आदि भूतों सेनी ही, मद्यशक्ति की तरे चैतन्य उत्पन्न होता है । पानी के बुलबुले की तरे जो शरीर है, वही जीव-आत्मा है । इस मत वाले मद्य मास खाते हैं, तथा माता, बहिन, पटो आदिषु जो अगम्य है, तिन से भी गमन कर लेते हैं । ये, नास्तिक प्रति वर्ष एक दिन सब एक जगे में एकठे होते हैं, खियों से विषय सेवन करते हैं । ये नास्तिक, काम से

अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं मानते। काम का सेवन करना ही इनके मत में पुरुषार्थ है।

इस मत की उत्पत्ति, जनमत के शीलतरङ्गिणी नामक शास्त्र में ऐसे लिखी है। एक बृहस्पतिनामा ब्राह्मण चावाक मत की उत्पत्ति था, उस का दूसरा नाम वेदव्यास भी था, उस की एक बहिन थी। वो बालविधवा हो गई। उस के सुसराब में ऐसा कोई न था, जिस के आश्रय में वो अपना जीवा व्यतीत करती, तात निराधार होकर, वह अपने भाई के घर में आ रही, वो अत्यत रूपघाली युवती थी, उस का जो भाई था, तिस की भार्या मृत्यु को प्राप्त हो गई थी। जब बृहस्पति का काम ने अत्यत पीडित किया, तब उसको अपनी बहिन के साथ विषय सेवन की इच्छा भई। अपनी बहिन से उस ने प्रार्थना करी, कि हे भगिनी ! मेरे साथ तु समोग कर, तब तिस की बहिन ने कहा कि हे भाई ! यह बात उभयलोक विरुद्ध है, क्योंकि प्रथम तो मैं तेरी बहिन हू, जेकर भाई के साथ विषय भोग करूंगी तो अग्र्यमेव नरक में जाऊंगी, और यदि यह बात जगत में प्रसिद्ध हो गई, तो लोग मुझ को धिक्कार देंगे, इस वास्ते यह नीच काम मैं नहीं करूंगी। बहन की बात को सुन कर बृहस्पति ने अपने मन में सोचा, कि जब तक इसके मन से पाप और नरकादिकों का भय दूर नहीं होगा, तब तक यह मेरे साथ कभी समोग न करेगी। अत

इस का कुछ उपाय करना चाहिये । ऐसा विचार करके उस ने बृहस्पति सूत्र रचे, तिन सूत्रों से पुण्य पाप, और स्वर्ग, नरक का अभाव सिद्ध किया । तथा अपनी बहिन को ये सूत्र सुना कर उस का विचार भा बदल दिया । तब तिस की बहिन ने अपने मन में विचार करा, कि यह जो शरीर है, सो तो प्राचर्मांतिक है, अरु इस शरीर से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई पदार्थ है नहीं । तो फिर पुण्य, पाप, नरक, आदि के भय से तथा मुख लोकों की विडम्बना के विचार से अपने यौवन को बृथा क्यों खोऊ ? ऐसा विचार करके वह अपने भाई के साथ विषयभोग करने में लिप्त हो गई । जब लोगों को यह बात जान पड़ी तब लोग निंदा करने लगे । इस पर बृहस्पति ने निलज्ज हो कर लोगों को नास्तिक मत का उपदेश करना आरम्भ कर दिया । जो लोग अत्यन्त विषयी अरु अज्ञानी थे, वे सब उस के शिष्य हो गए । कितनेक काल पीछे उन के शिष्यों ने अपने-मन को प्रतिष्ठित करने के वास्ते कहा, कि यह जो हमारा मत है, सो देवताओं के गुरु जो बृहस्पति हैं, तिनका चलाया हुआ है, अरु बृहस्पति से अर्थ दूसरा-कोई बुद्धिमान् नहीं है, इस वास्ते हमारा मत सच्चा है । इस बृहस्पति का हमारे चौबीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीर से पहिले होना प्रमाणसिद्ध है, क्योंकि श्रीमहावीर जी क कथन करे हुए शास्त्रों में चायाक, मत का निरूपण है । इस प्रकार से चार्वाक मत की उत्पत्ति है ।

इस मत का नाम चार्वाक, लोकायत आदि है। “चर्वं अदने, चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्रतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिक परोक्षवस्तु-जातमिति चार्वाका, मयाकश्यामाशेत्यादि-सिद्धहैमोणा-दिदण्डकेन शब्दनिपातनम् । लोका निर्विचारा सामान्या लोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता, लोकायतिका इत्यपि, बृहस्पतिप्रणोतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति”—चर्व् जो धातु है, सो भक्षण अर्थ में है, चर्वण-भक्षण जो करे, तात्पर्य कि जो पुण्य पापादिक परोक्ष वस्तुसमूह को न माने, सो चार्वाक । मयाक श्यामाक इत्यादि सिद्धहैमव्याकरण के उणादिदण्डक के द्वारा निपात से सिद्ध है । तथा लोक—निर्विचार, सामान्य लोगो की तरह जा आचरण करते हैं, वे लोकायत और लोकायतिक हैं । तथा बृहस्पति के प्ररूपे मत को मानने से इनको बार्हस्पत्य भी कहते हैं ।

अथ चार्वाक का मत लिखते हैं । वे इस प्रकार से कहते हैं, कि जीव-चेतना लक्षण परलोक में जाने चार्वाक की वाला नहीं है । पाच महाभूत से जो चेतन मायताए - उत्पन्न होता है, सो भी यहा ही भूतो के नाश होने से नष्ट हो जाता है । जेकर जीव पर-लोक से घ्राया होवे, तत्र तो उसे परलोक का स्मरण होना चाहिये, परन्तु होता नहीं है । इस वास्ते जीव न परलोक से घ्राया है, अरु न परलोक में जाने वाला है । तथा जीव के स्थान में जो 'देव' ऐसा पाठ मानिये, तत्र यह

बहना हागा कि सर्वनादि विरोपण विरिष्ट कोई देव नहीं है । तथा मोक्ष भी नहीं, धर्माधर्म नहीं, पुण्य पाप नहीं, पुण्य पाप का जो फल-नरक, स्वर्ग, सो भी नहीं है । तथाहि—

एतावानेव लोकोऽय, यावानिन्द्रियगोचरः ।

भद्रे ष्टकपद परय, यद्वदत्यचहुश्रुता' ॥

[पङ्० स०, श्लो० ८१]

अर्थ —इतना ही मनुष्य लोक है, जितना कि प्रत्यक्ष देखने में आता है । क्योंकि जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, सोई पदार्थ है, और दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है । यहा पर लोक शब्द से लोक में रहे हुए पदार्थों का ग्रहण करना । तथा इस लोक से भिन्न जो जीव पुण्य, पाप, अरु तिन का फल जो स्वर्ग नरकादिक कह जाते हैं, सो अप्रत्यक्ष होने से नहीं है । जेकर अप्रत्यक्ष को भी माना जाये तब तो शशशृंग, वध्यापुत्रादि भी होने चाहिये । अत्र पच विध प्रत्यक्ष करके यथाक्रम-१ मृदु कठोरादि वस्तु २ तिक्त, कटु, कपायादि द्रव्य, ३ सुगन्ध दुर्गन्ध रूप गन्ध, ४ भू, भूचर, भुवन, भूरुह, स्तम्भ, कुम्भ अम्भोरुहादि, नर, पशु, श्यापदादि, स्थावर, जगम प्रमुख पदार्थों का समूह, ५ विविध वेणु वीणादि वाद्य की ध्वनि, इन पाचों के बिना और कुछ भी नहीं प्रतीत होता । जब कि पाच भूतों से

अतिरिक्त नरक स्वर्ग में जाने वाला जोर, प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ । तो जीरो के सुख दुःख का कारण धर्माधर्म है, और धर्माधर्म के उत्कृष्ट तथा निरुष्ट फल भोगने की भूमि स्वर्ग नरक है, तथा पुण्य पाप के सर्वथा क्षय होने से मोक्ष का सुख मिलता है । यह सब पूर्वोक्त वर्णन ऐसा है, जैसा कि आकाश में विश्राम करना है । क्योंकि जोर का न तो किसी ने स्पर्श किया है, न किसी ने खाकर उस का स्वाद चखा है न किसी ने सूखा है, न किसी ने देगा है, न किसी ने सुना है । तो फिर वे मूढ-मति किस वास्ते जीव का मान करके, स्वर्गादि सुखों की इच्छा करके, शिर, दाढ़ी और मूछ, मुण्डना करके, नाना प्रकार के दुष्कर तप का अनुष्ठान करके, क्यों शीत, आतप का सहन करके, इस शरीर की विडम्बना करते हुए इस मनुष्य जन्म को वृथा ही खराब कर रहे हैं ? वास्तव में यह उन की समझ की विडम्बना है । इस वास्ते तप सयमादि सब कुछ बाल झीडा के समान है । यथा —

तपासि यातनाश्रिताः, सयमो भोगवचना ।
 अग्निहोत्रादिकु कर्म, बालकीडेन लक्ष्यते ॥
 यावज्जीवेत् मुख जीवेत्, तावद्वैपयिकं मुसम् ।
 भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥

इस से यह सिद्ध हुआ कि जा इन्द्रियगोचर है, सोई तार्त्रिक है। अत्र जो परोक्ष प्रमाण-अनुमान आगमादि करके जीन अरु पुण्य पापादि को स्थापन करते हैं, अरु कदाचित् स्थापन करने से हटते नहीं हैं, तिन क प्रतिबोध के वास्ते दृष्टान्त कहते हैं- 'भद्रे वृकपद पश्येत्यादि'। इस विषय में यह प्रचलित कथा है—कोई नास्तिक पुरुष अपनी आस्तिक मन विषे दृढ़ प्रतिज्ञा वाली भार्या का नास्तिक मत में लाने के वास्ते अनेक युक्तियों करके प्रति दिन प्रतिबोध करता था। परन्तु वो प्रतिबोध को प्राप्त नहीं होती थी। तब उसने विचारा, कि यह इस उपाय से प्रतिबोधित हायेगी, ऐसे अपने चित्त में चिंतन करके रात्रि के पिछले प्रहर में स्त्री को साथ लेकर नगर से बाहर निकल करके उस ने अपनी भार्या को कहा, हे घत्तमे ! इस नगर के बसने वाले लोग परोक्ष पदार्थों को अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध करते हैं, तथा लोक में बहुत शास्त्रों के पडे हुये कहलाते हैं, सो अब तू इन की चतुराई देख। ऐसे कह कर उस ने नगर के दरवाजे से लेकर चौक तक सूक्ष्म धूली में अपने हाथों में भेड़िये के पंजों का आकार बना दिया। प्रातःकाल में भेड़िये के पंजे को देख कर वहा बहुत से लोग इकट्ठे हो गये, और उन को देख कर कई एक बहुश्रुत भी वहा आगये। उन बहुश्रुत लोगों ने वहा पर एकत्रित हुए लोगों से कहा कि निश्चय ही कोई भेड़िया रात्रि में घन

से यहा पर आया है, अन्यथा भेड़िये के पगों का निरान नहीं हो सकता । तब वह नास्तिक पुत्र निज भार्या को कहने लगा, कि हे भद्रे ! 'वृकपठ पश्य"—भेड़िये का पता तु देस, जिस पजे को ये अयदुधुत भेड़िये का पजा कहते है । लोक रूढि से यह बहुधुत कहजाते हैं, परन्तु परमार्थ से तो ये महा ठोठ है । क्योंकि ये परमार्थ तो कुछ जानते नहीं, केवल देग्वा देग्वी रौला (शोर) करने लग रहे हैं । परमार्थ से इन का वचन मानने योग्य नहीं है । ऐसे ही बहुत मतों वाले धार्मिक घूर्त—धम के यहाने दूसरों को उगने में सत्पर, फटिपन अनुमान आगमादि से जीयादि का अस्मित्व मिद्ध करते हुए भोले लोगों को स्वर्गादि मुग्यों का वृया ही लोभ दिया कर, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य, हेयोपादेयादि के सकटों में गिराते हैं । बहुत से मूग्यों के हृदय में धार्मिकता का ज्यामोह उत्पन्न करते हैं । इन वाम्ने बुद्धिमानों को उन का वचन नहीं मानना चाहिये । यह देस उस स्त्री ने अपने पति की मय घातों को स्वीकार कर लिया । तदनन्तर यह नास्तिक अपनी भार्या को ऐसे उपद्रव देने लगा -

पिय खाद च चाम्बोचने ! यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भौर ! गत निरर्त्ते, समुदयमात्रमिद् कलेवरम् ॥

[पङ्० स०, श्लो० ८२]

व्याख्या — हे चाम्बोचने—सुन्दर आखवाली ! "पिय"—

तू पी, अर्थात् पेयापेय की व्यवस्था छोड़ कर मदिरापान कर। न कजल मदिरा ही पी, किन्तु “प्राश् च —भक्ष्यामक्ष्य की उपेक्षा करके मास,ादिक भोगेगा। तथा गन्दागन्ध का विभाग त्याग कर, भोगों को भोग कर अपना यौवन सफल कर। हे वरगात्रि—श्रेष्ठ अर्गों वाली। तेरा जो कुछ यौवनादि व्यतीत हो गया, धो तुझ को न मिनेगा। यहा पर यदि कोई राका करे कि अपनी इच्छा से जो मनमाना गान पान और भोग तिलास करेगा, उस को परलोक में कष्ट परपरा की प्राप्ति बहुत सुखम है, और जो यहा सुकृत करेंगे, उन को भगवतर में सुख, यौवनादिक की प्राप्ति सुखम होगी, ऐसी आशका को दूर करने के वास्ते वह नास्तिक कहता है। हे भीरु। पर के कहने मात्र से नरकादि दुखों की प्राप्ति के भय से इस लोक के भोगों से निवृत्त होना, पतावता इस लोक में विषयभोग कर्के यौवन का सुख ता नहीं लेना, धर पर लोक में हम को यौवनादिक फिर मिलेगा, ऐसे परलोक के सुखों की इच्छा करके, तपश्चरणादि कष्टक्रिया का अनुष्ठान करते हुए जो इस लोक के सुखों की उपेक्षा करनी है, सो महा मूढता का चिह्न है।

यदि कही कि शुभाशुभ कर्म के धरा से इस जोध को पर लोक में स्वकर्म हेतुक सुख दुखादि की वेदना का अग्रश्य अनुभव करना पड़ेगा। ऐसी आशकाके उत्तर में वह कहना है, कि “समुदयमात्रमिदं कलेवरम्”—चार भूतों का संयोग

मात्र हो यह शरीर है । इन चारों भूतों के सयोग मात्र से अथ दूमरा भग्नर में जाने वाला, शुभागुम कर्म विपाक का भोगने वाला जीव नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है । अरु चारों भूतों का जो सयोग है, सो विजली के उद्योत की तरह क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है । इस वास्ते परलोक का भय मत कर, और जैसा मत माने, वैसा खा और पी, तथा भोग-विलास कर ।

अरु इनके प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप कहते हैं —

पृथ्वी जल तथा तेजो, वायु भूतचतुष्टयम् ।

आगारो भूमिरेतेषा, मान त्वत्तजमेव हि ॥

[पद्० स०, श्लो० ८३]

अर्थ — १ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि ४ वायु, यह चार भूत हैं, अरु इन चारों का आधार पृथ्वी है । यह चारों एकडे होकर चैतन्य को उत्पन्न करते हैं । इन चारों के मत में प्रमाण तो एक प्रत्यक्ष ही है ।

भूतचतुष्टय से उत्पन्न होने वाली देह में चेतनता कैसे उत्पन्न हो जाती है ? इस शका का समाधान करने के वास्ते यह नास्तिरु कहता है —

पृथ्व्यादिभूतसहत्या, तथा देहपरीणतेः ।

मदशक्तिः सुरागेभ्यो, यद्वत्तद्विद्रात्मनि ॥

[पद्० स०, श्लो० ८४]

अर्थ — पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, तिन की जो सहति —सयोग, तिस करके जो देह की परिणति—परिणाम, तिससे चेतना, जैसे मदिरा क अगों से—शुद्ध धातकी आदिकों से उन्माद् शक्ति उत्पन्न होती है, ऐसे ही इस देह में चैतन्य शक्ति उत्पन्न होजाती है, परन्तु देह से अन्य कोई जीव पदार्थ नहीं है। इस वाम्ते दृष्ट सुखों का त्याग करना, और अदृष्ट सुखों में प्रवृत्त होना, यह ता लागों की निरी मूर्खता है। तथा जो शातरस में मग्न होकर मोक्ष के सुख का घणन करते हैं वे भा मद्वा मूढ़ हैं। क्योंकि काम—मैथुन सेवन से अधिक न कोई धर्म है, न कोई माक्ष है, और न कोई सुख है।

यह जा ऊपर मत लिये हैं, इनके जो उपदेशक हैं, वे सर्व गुरु हैं। क्योंकि जो इना के मत हैं, वे युक्ति और प्रमाण से स्पष्टित ही जाते हैं, तथा इन का कथन पूर्वापर विरोधी है।

प्रश्न —महो जैन ! अदिहत के कहे हुए तत्त्व का तुम को बड़ा राग है इन करके तुम अपने मत को तो निर्दोष ठहराते हो, अरु हमारे मतों को पूर्वापर विरोधी कहते हो, परन्तु हमारे मतों में कुछ भी पूर्वापर व्याहतपना नहीं है, क्योंकि हमारे जो मत हैं, सो सर्वथा निर्दोष हैं।

उत्तर —हे धादियों ! तुम अपने अपने मत का पक्षपात छोड़ कर, मध्यस्थपने की अवलम्बन करके अरु निरभिमान हो कर, सुन्दर युक्ति को धार करके सुनो। हम तुमारे मतों में

पूर्वापर व्याहृतपत्ता दिग्गलाते है । प्रथम बौद्ध में पूर्वापर विरोध का उद्घाटन करने है —

१ प्रथम तो बौद्ध मत में सर्व पदार्थों को क्षणभंगुर कहा और पीछे से ऐसे कहा है—“नाननुकृतान्य बौद्धमत में पूर्वा यन्निरेक कारण नाकारण विषय इति” पर विरोध अर्थात् अर्थ के होते ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थ के बिना नहीं होता, इस प्रकार अनुकृत अन्वय-यतिरेक वाला अर्थ ज्ञान का कारण है । तथा जिस अर्थ से यह ज्ञान उत्पन्न होती है, तिस कारण रूप अर्थ हो को विषय करता है । इस कहने से अर्थ दो क्षण स्थितिवाला कहा गया । जैसे कि अर्थ रूप कारण से ज्ञान रूप कार्य जो उत्पन्न होता है, वह दूसरे क्षण में उत्पन्न होगा । क्योंकि एक ही समय में कारण और कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं । तथा वह ज्ञान अपने जनक अर्थ हो को ग्रहण करता है । “नापर नाकारण विषय इति घचनात्” । जब ऐसे हुआ तब तो अर्थ दो समय की स्थिति वाला यत्नात् हो गया, परन्तु बौद्ध मत में दो समय की स्थिति वाला कोई पदार्थ है नहीं ।

२ तथा “नाकारण विषय इत्युक्त्वा” अर्थात् जो पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है, उस पदार्थ को ज्ञान विषय भी नहीं करता । ऐसे कह कर फिर योगी प्रत्यक्ष

ज्ञान को अतीत अनागत पदार्थों का जानने वाला कहा है । परन्तु अतीत पदार्थ तो नष्ट हो गये हैं तथा अनागत पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुये हैं । इस वास्ते अतीत अनागत पदार्थ ज्ञान के कारण नहीं हो सकते हैं । तब अकारण को योगी प्रत्यक्ष का विषय कहना विरोधी क्यों नहीं ?

३ ऐसे ही साध्य साधन की व्याप्ति के ग्राहक—ग्रहण करने वाले ज्ञान को, कारणता का अभाव होने पर भी त्रिकालगत अर्थ का विषय कहने वाला मानने वाले को क्यों नहीं पूर्वापर व्याघात होगा ? क्योंकि कारण ही को प्रमाण का विषय माना है, अकारण को नहीं ।

४ तथा पदार्थ मात्र को क्षणविनाशी अंगीकार करने में जिन का भिन्न भिन्न काल है, ऐसे अन्यय-यतिरेक की प्रतिपत्ति समझ नहीं होती, तब फिर साध्य साधनों के त्रिकाल विषय व्याप्ति ग्रहण को मानने वाले के मत में पूर्वापर व्याहति क्यों नहीं ?

५ तथा सर्व पदार्थों को क्षणक्षयी मान कर भी पीछे से बुद्ध ने ऐसे कहा है कि —

इत एरुनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरपो हत ।

तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षु ।।

[शा० स०, स्त० ४ श्लो० १२४]

इस श्लोक में क्षणिक वाद के विरुद्ध जन्मान्तर के विषे में 'मे श्रीर' 'अस्मि' शब्द का प्रयोग करने वाले बुद्ध के कथन में क्यों कर पूर्वापर विरोध न करना चाहिये ?

६ ऐसे ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नीलादिक वस्तुओं को सर्व प्रकार करके ग्रहण करता हुआ भी नीलादिक अश विषयक निर्णय उत्पन्न करता है, परन्तु नीलादि अर्थ गत क्षणक्षयी अश के विषय में निर्णय उत्पन्न नहीं करता है, ऐसे स्वशता को कहते हुए सांगत के वचन में पूर्वापर विरोध सुगोध ही है ।

७ तथा हेतु को तोन रूप माना जाता है और साध को दो उदनेष्ट वाला माना है, अरु फिर कहता है कि वस्तु साध नहीं है ।

८ तथा परस्पर अनमिले हुये परमाणु निकटना सशय वाले पकड़े होकर घटादि रूप से प्रतिभासित होते हैं, परन्तु आपस में अगाभीमात्र रूप करके किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं करते । यह बौद्धोंका मत है । तिस में यह दूषण है, कि आपस में परमाणुओं के अनमेल से, जब हम घट का एक देश हाथ से पकड़ेंगे, तब सम्पूर्ण घट को नहीं आना चाहिये । तथा घट के उठाने से भी एक देश ही घट का उठना चाहिये, सम्पूर्ण घट नहीं उठना चाहिये । तथा जब हम घट को गले से पकड़ के खँचेंगे तब भी घट का एक देश

ही हमारे पास आना चाहिये, सपूण घट नहीं । परन्तु जलादि धारण रूप जो घट का अथत्रियालक्षण सत्त्व है, उस के अगीकार करने से सौगतों ने परमाणुओं का मिलना माना है, परन्तु तिन के मत में परमाणुओं का मिलना है नहीं । इत्यादि बौद्ध मत में अनेक पूर्वापर विरोध हैं ।

अथ बौद्ध मत का खण्डन भी थोड़ा सा लिखते हैं । इन बौद्धों का यह मत है, कि सब पदार्थ नैरात्म्य बौद्ध मत का हैं एतावता आत्मस्वरूप-अपने स्वरूपकरके खण्डन स्वदा स्थिर रहने वाले नहीं हैं ऐसी जो भावना, तिस का नाम नैरात्म्य भावना है । यह नैरात्म्य भावना रागादि क्लेशों के नाश करने वाली है । तथाहि—जब नैरात्म्य भावना होवेगी, तब अपने आप के त्रिपे तथा पुत्र, भाई, भाया आदि के त्रिपे भी आत्मीय अभिनिवेश नहीं होवेगा । एतावता यह मेरे हैं ऐसा मोह नहीं होवेगा । क्योंकि जो अपना उपकारी है, सो आत्मीय है, अरु जो अपना प्रतिघातक है सो द्वेषी है । परन्तु जब आत्मा ही नहीं है, किन्तु पूर्वापर दूटे हुए क्षणों का अनुसंधान है । पूव पूव हेतु करके जो प्रतिबद्ध ज्ञानक्षण है, वही तत्सदृश उत्पन्न होते हैं । तब कौन किन्मो का उपकर्ता या उपघातक है ? क्योंकि क्षण (क्षणिक पदार्थ) क्षणमात्र रहने करके, परमाथ से उपकार वा अनु

पकार नहीं कर सकते। इस वास्ते तत्त्वज्ञानियों को अपने पुत्रादिकों में आत्मीय अभिनिवेश, और वैरियों विषे द्वेष नहीं होता तथा लोगों को अनात्मीय पदार्थों में जो आत्मीय अभिनिवेश होता है, सो अतत्त्वमूलक होने से अनादि वासना के परिपाक से उत्पन्न हुआ जानना।

प्रश्न—यदि परमार्थ से उपकार्य उपकारक भाव नहीं, तब तुम कैसे कहते हो कि भगवान् सुगत ने करुणा से सकल जीवों के उपकार वास्ते धर्म देना दो ? और पदार्थों की क्षणिकता भी अजर एकांत ही है। तो तत्त्वज्ञान ने धरु क्षण के पीछे नष्ट हो जाना है, और तत्त्वज्ञान यह भी जानता है, कि मैं पीछे नहीं था अरु आगे को मैंने नहीं होना है, तो फिर वह मोक्ष के वास्ते क्यों यत्न करे ?

उत्तर—जो कुछ तुमने कहा है, सो हमारा अभिप्राय न जानने से कहा है, और वह अयुक्त है। भगवान् जो हैं, सो प्राचीन अवस्था विषे अस्थिर हैं, अरु सकल जगत् को राग द्वेषादि दुःखों से व्याप्त जान कर, और मेरे को इस सकल जगत् का दुःख दूर करना योग्य है, ऐसी दया उत्पन्न होने से नैरात्म्य क्षणिकत्वादि को जानता हुआ भी, तिन उपकार्य जीवों में निःश्लेष क्षण उत्पन्न करने के वास्ते, प्रजाहितैषी राजा की तरह, सकल जगत् के साक्षात् करने में समर्थ, अपनी सततिगत विशिष्ट क्षण की उत्पत्ति के वास्ते यत्न का आरम्भ करता है। क्योंकि सकल जगत् के साक्षा-

त्कार करे बिना सर्व का उपकार करना अराम्य है। तिस वास्ते समुत्पन्न केवल ज्ञान, पूर्वावस्थापन्न भगवान् सुगम वृत्तार्थ भी है, तो भी कृपाके विशेष सस्कार घर से देयना देने में प्रवृत्त होता है। तत्र देयना सुन कर निमल बुद्धि के जोशों को, नैरात्म्यतत्त्व का विचार करते हुए भावना क प्रकर्ष विशेष से वैराग्य उत्पन्न होता है, तिस से उन को मुक्ति का लाभ होता है। परन्तु जो आत्मा को मानना है, तिस को मुक्ति का समय नहीं। क्योंकि परमाथ से आत्मा के अस्तित्व को मानेंगे तो आत्मदर्शी को आत्मा में अहंरूप स्नेह अवश्य होगा, स्नेह क घर से इस आत्मा को सुखी करने की तृष्णा उत्पन्न होगी। तृष्णा के घरम फिर सुखों के साधनों में प्रवृत्त होगा, और दोषों का तिरस्कार करके गुणों का आरोप करेगा। जब गुण उत्पन्न हुए, तब गुणों में राग करेगा। तिस राग मे यात्रतकाल आत्माभिनिवेश रहेगा, नावत्काल पयत्त ससार है।

ये पश्यत्यात्मान, तत्रास्याहमिति शाश्वत स्नेह ।
 स्नेहात्सुखेषु तृप्यति, तृष्णा दोषास्तिरस्क्रुते ॥
 गुणदर्शी परितृप्यन्, ममेति सुखमाधनान्युपादत्ते ।
 तेनात्माभिनिवेशो, यात्रत्तान्त् म ससार ॥

[पङ्० स०, श्लो० ५२ की वृ० वृ०]

तुमारा यह सर्व कहना, तुमारे अन्त करण में घास करने वाले मोह का विलास है, क्योंकि आत्मा के अभाव से अर्थात् उसके अस्तित्व का अस्वीकार करने से यद्य मोक्षादिकों का * सामानाधिकरण्य—एकाधिकरणत्व नहीं होगा, सोई दिव्याते हैं ।

हे बौद्धो ! तुम आत्मा को तो मानते नहीं हो, किन्तु पूर्वापर दूटे हुए ज्ञान क्षणों की सतान ही को मानते हो । जब ऐसे माना, तब तो अन्य को बंध हुआ, और अन्य की मुक्ति हुई । तथा जुधा और को लगी, तृप्ति और की हुई । तैसे ही अनुभविता और हुआ, अरु स्मर्त्ता और हो गया । जुलाय और ने लिया, अरु राजी-रोग रहित और हो गया । तपक्लेश तो और ने करा, परन्तु स्वर्गादि का सुख और ने भोगा । पर पढ़ने का अभ्यास तो किसी और ने करा, परन्तु पढ़ कोई और गया । इत्यादि अनेक अतिप्रसंग होने से यह कथन युक्तिसंगत नहीं है । जेकर कहो कि सन्तान की अपेक्षा से यद्य मोक्षादिकों का एक अधिकरण हो सकता है । तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सतान ही किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है । जैसे कि, सतान जो है सो सतानी से भिन्न है ? या अभिन्न ? जेकर कहो कि भिन्न है, तब तो फिर दो विकल्प होते हैं, अर्थात् यह सतान नित्य है ? वा अनित्य ? जेकर कहो कि नित्य है, तब तो तिस को

*समान अधिकरण अर्थात् एक स्थान में होना ।

बन्ध मोक्षादिक का समझ ही नहीं है। क्योंकि सर्वकाल में एक स्वभाव होने से उस की अवस्था में विचित्रता नहीं हो सकती। तथा तुम तो किसी पदार्थ को नित्य मानते नहीं हो "सर्व क्षणिकमिति वचनात्"। अथ जेकर कहोगे कि अनित्य-क्षणिक है, तब तो वोही प्राचीन-बन्ध मोक्षादि *वैयधिकरण्य दूषण प्राप्त होगा। जे कर कहोगे कि वह अभिन्न है, तो फिर अभिन्न होने से [तिस के स्वरूप की तरे] सतानी ही सिद्ध हुआ, सन्तान नहीं। तब तो पूरे का दूषण तदवस्थ ही रहा। जे कर कहोगे कि क्षणों से अन्य सन्तान कोई नहीं, किंतु कार्य कारण भाग के प्रत्यक्ष से जो क्षण भाग है, सोई सन्तान है, इस वास्ते उक्त दोष नहीं है। यह भी तुमारा कहना अयुक्त है क्योंकि तुमारे मन में कार्य कारण भाग ही नहीं घटता है। क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद मात्र कार्य कारण भाग है। तब जैसे विवक्षित घटक्षण के अनंतर अन्य घटक्षण है, तैसे पटादि क्षण भी है, अथ जैसे घट क्षण से पहिला अनंतर विवक्षित घट क्षण है, तैसे पटादि क्षण भी है। तब तो प्रति नियत कार्य कारण भाग का अगम कैसे होवे ?

तथा एक और भी दूषण है, वो यह है, कि कारण से उत्पन्न होता हुआ कार्य, सत् उत्पन्न होता है ? अथवा असत् उत्पन्न होता है ? जेकर कहो कि सत् उत्पन्न होता

* भिन्न अधिकरण में होना।

है, तब तो कार्य उत्पत्ति काल में भी सत् होगा, और कार्य कारण को समकालता का प्रसंग होगा। परन्तु एक काल में दो पदार्थों का कार्य कारण भाव माना नहीं है, अन्यथा माता पुत्र का व्यवहार न होवेगा, तथा घट पटादिनों में भी परस्पर कार्य कारण भाव का प्रसंग हो जावेगा। जेकर भ्रमत् पक्ष मानोगे, तो जो भी अयुक्त है, क्योंकि जो भ्रमत् है, सो कार्य नहीं हो सकता है, अन्यथा परशुग भी फाय होना चाहिये, तथा अत्यनाभाव और प्रध्वनाभाव, इन दोनों में कोई विशेषता न होगी, क्योंकि दोनों ही जगे वस्तु सत्ता का अभाव है।

एक और भी ध्यान है, कि "तद्भावे भाव" ऐसे अयगम प्रतीति में कार्य कारण भाव का अयगम है। परन्तु जो तद्भाव में भाव है सो क्या प्रत्यक्ष में प्रतीत होता है ? या अनुमान करके प्रतीत होता है ? प्रत्यक्ष में तो नहीं, क्योंकि पूर्व वस्तुगत प्रत्यक्ष से पूर्ववस्तु परिच्छिन्न है। और उत्तर वस्तुगत प्रत्यक्ष करके उत्तर वस्तु परिच्छिन्न है, परन्तु ये दोनों ही परस्पर के स्वरूप को नहीं जानते, और इन दोनों का अनुसन्धान करने वाला ऐसा कोई तीसरा स्वरूप तुम मानते नहीं हो। इस वास्ते इस के अनन्तर इस का भाव है, ऐसे किस तरे अयगम होवेगा ? तथा अनुमान जो है, सो लिंग लिंगी के मन्व प्रहण पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। परन्तु लिंग लिंगो का सम्बन्ध प्रत्यक्ष

प्राप्त है। जेकर अनुमान में सबध ग्रहण करें, तब अनन्य स्थादृश्यण जाना है। अतः कार्य कारण भाव के विषे में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने से अनुमान की भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान के दोनों क्षणों में भी परस्पर कार्य कारण भाव के अवगमन का निषेध हुआ जान लेना। क्योंकि वही भी स्वस्वेदन करके अपने अपने रूप के ग्रहण करने में, परस्पर स्वरूप के अनन्यधारण से, तदनंतर में उत्पन्न हुआ है, तथा इस का मैं जनक हूँ ऐसी अवगति के न होने से, तुमारे मत में इन का कार्य कारण भाव नहीं बनता। इससे सिद्ध हुआ कि एक सतति में पतित होने से सबध मोक्ष का एकाधिकरण है, तुमारा यह कथन मिथ्या है। तथा इस कहने से जो यह कहते हैं कि उपादयोपादान क्षणों का परस्पर वास्यवासक भाव होने से, उत्तरोत्तर विशिष्ट विशिष्टतर क्षणोत्पत्ति के द्वारा मुक्ति का होना सम्भव है, सो भी, उक्त रीति से उपादानोपादेय भाव की उपपत्ति न होने से प्रतिक्षिप्त ही जानना। तथा जो वास्यवासक भाव कहा है सो भी, तिल पुष्पों की तरह एक काल में दोनों हों तब हो सकता है क्योंकि *“अवस्थिता हि वास्यते, भावाभावैरवस्थिते” —विद्यमान भाव ही विद्यमान भावों से वासित होते हैं। तब उपादेयोपादान क्षणों का परस्पर असाहित्य होने से वास्यवासक भाव कैसे होवे ?

* [श्लो० वा०, निगलम्बनवाद श्लो० १८५]

अर्थात् नहीं हो सकता । कहा भी है —

* वास्यवासकयोश्चैव-मसाहित्यान्न वासना ।

पूर्वशर्णैरनुत्पन्नो, वास्यते नोत्तरः क्षणः ॥

उत्तरेण विनष्टत्वान्न च पूर्वस्य वासना ।

[श्लो० चा०, निरा० वा० श्लो० १८०, १८३]

एक और भी बात है, कि वासना वासक से भिन्न है ? वा अभिन्न ? जेकर कहोगे कि भिन्न है, तब तो वासना करके शून्य होने से, अन्य की भाँति उस को भी वासना कदापि वासित नहीं करेगी । जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तब तो वास्य क्षण में वासना का सक्रम कदापि नहीं होवेगा । क्योंकि अभिन्न होने से, वासना वासक का ही स्वरूप होगी । तो जैसे वासक का सक्रम नहीं होता, उसी प्रकार वासना का भी नहीं होगा । यदि वास्यक्षण में वासक की भी क्षमति मानोगे, तब तो अन्य का प्रमग होवेगा । इस वास्ते तुमारा कहना किसी प्रकार से भी काम का नहीं है । तथा जो तुमने राग द्वेषादि से व्याप्त दुखी जगत के उद्धार के वास्ते बुद्ध की देसना की बात कही है, वो भी युक्ति युक्त नहीं । क्योंकि तुमारे मत में पूर्वापर च्युटित क्षण ही परमार्थ से सत हैं, और क्षणों के रहने का कालमान मात्र एक परमाणु के व्यतिक्रम जितना है, इस वास्ते उत्पत्ति से व्यतिरिक्त तिन की और कोई स्थायी क्रिया उपपद्यमान

नहीं होती, “*भूतियस क्रिया सैव कारक सैव चोच्यते’ । इस हेतु से ज्ञान क्षणों का उत्पत्ति के अनन्तर १ तो गमन है न अत्रस्थान है, और न पूर्वापर क्षणों से अनुगम है । इस धाम्ने इन का परस्पर स्वरूपाधारण नहीं । अरु ना ही कोई उत्पत्ति के अनन्तर व्यापार है । तब मेरे सम्मुख यह अर्थ साक्षात् प्रतिभासना है, इस प्रकार अथ के निश्चय मात्र करने में भी अनेक क्षणों का समय है, रागद्वेषादि दुःख से आकुल सकल जगत् की विचारणा, दीघतर काज साध्य शास्त्रानुसंधान तथा अथ चिन्तन करना और मोक्ष के वास्ते सम्यक् उपाय में प्रवृत्त हाना, इत्यादि बातों का, क्षणिक वाद में कैसे सम्भव हो सकता है ?

प्रश्न — यह जो सर्व व्यवहार है, सो ज्ञान क्षणों को सतति की अपक्षा करके है, फिर तुम इस पक्ष में क्यों दूषण देते हो ?

उत्तर — मालूम होता है कि हमारा कहा हुआ तुमारी समझ में नहीं आया है क्योंकि ज्ञान क्षण सतति के विषय में भी वही दूषण है जो हमने ऊपर कहा है । वैकल्पिक, और अवैकल्पिक, जो ज्ञान क्षण हैं, या परस्पर में अनुगम क अभ्यास में परस्पर स्वरूप को नहीं जानते, तथा क्षणमात्र से अधिक ठरहते नहीं । अतः ज्ञान सतति के स्वीकार से भी तुमारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, आगे मीच करके

त्रिचारो तो सही । इससे अधिक गौडमत का गण्डन देयना हो, तो नदीसिद्धांत, सम्मतितर्क, द्वादशारण्यचक्र, अनेकाल-जयपताका, स्याद्वाद्दरजाकर, स्याद्वाद्दरजाकरायतारिका प्रमुख शास्त्रों में देख लेना ।

अथ नैयायिक और वैशेषिक मत में पूर्वापर व्याहृतपना दियेलाते हैं । १ पदार्थों में सत्ता के नैयायिक मत में योग से सत्त्व है, ऐसे कह कर सामान्य, पूर्वापर विरोध विरोध, समवाय, इन पदार्थों को सत्ता के योग विना ही सत्त्व कहते हैं । तो फिर उनका वचन पूर्वापर व्याहृत क्या न होवे ?

२ अपने आप में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान अपने आप को नहीं जानता, ऐसे कह कर फिर कहते हैं, कि ईश्वर का जो ज्ञान है, सो अपने आप को जानता है । इस प्रकार ईश्वर ज्ञान में स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं हैं, तो फिर क्योंकर स्वयचन का विरोध न हुआ ?

३ तथा दीपक जो है, सो अपने आप को आप ही प्रकाश करता है । इस जगह पर स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं, यह पूर्वापर व्याहृत वचन है ।

४ दूसरों के ठगने वास्ते छल, जाति और निग्रहस्थान आदि का तत्परूप से उपदेश करते हुए अक्षपाद ऋषि का वैराग्य वचन ऐसा है, कि जैसा अधकार को प्रकाश स्वरूप कहना । तब यह क्योंकर पूर्वापर व्याहृत वचन नहीं है ?

५ आकाश को निरवयव स्वीकार करते हैं। फिर तिस का गुण जो शब्द है, वह उस के एक देश में ही सुनाई देता है, सबत्र नहीं। तत्र तो आकाश को मायता साययता प्राप्त हो गई। यह भी पूर्वापर विरोध है।

६ सत्तायोग से पदार्थ को सरत्र होता है, अरु योग जो है, सो सर्व वस्तुओं में सायना होने ही से होता है। परन्तु सामाय को निरर अरु एक माना है, तत्र यह पूर्वापर व्याहत वचन क्यों नहीं ?

७ समवाय को नित्य और एक स्वभाव मान कर उस का सत्र समवायी पदार्थों के साथ नियत सम्बन्ध स्वीकार करना समवाय को अनेक स्वभाव वाला सिद्ध करता है। तत्र तो पूर्वापर विरोध हो गया।

८ "अव्यक्तप्रमाणम्"—अथ है सहकारी जिस का सो अर्थवत् प्रमाण, यह कह कर फिर योगी प्रत्यक्ष को अतीताद्यर्थ विषयक कहने वाले को अशय पूर्वापर विरोध है। क्योंकि अतीतादिक जो पदार्थ है, सो विनष्ट तथा अनुत्पन्न होने से सहकारी नहीं हो सकते।

९ तथा स्मृति गृहीतप्राही अरु 'अनर्थ जन्यत्वेन'—विना अर्थ के होने करके प्रमाण नहीं है। जय गृहीतप्राही होने से स्मृति को अप्रमाण माना, तत्र धारावाही ज्ञान भी गृहीतप्राही होने से अप्रमाण होना चाहिए। परन्तु धारावाही ज्ञान को नैयायिक और वैशेषिक प्रमाण मानते हैं। अरु

अनर्थजन्य होने करके स्मृति को जय अप्रमाण माना, तब अतोतानागत अनुमान भी अनर्थजन्य होने करके प्रमाण न हुआ। अरु अनुमान को शब्द की तरें त्रिकाल विषयक मानते हैं। यथा—धूम करके उत्तमान अग्नि अनुमेय है। अरु मेघोन्नति करके भविष्यत् वृष्टि, अरु नदी का पूर देखने से अतीत वृष्टि का अनुमान मानते हैं। तो फिर धारावाही ज्ञान, अरु अनर्थजन्य अनुमान, इन दोनों को तो प्रमाण मानना अरु स्मृति को प्रमाण नहीं मानना, यह पूर्वापर विरोध है।

१०—ईश्वर का सर्वाथे विषय प्रत्यक्ष जो है, सो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हो ? वा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पौत्पन्न मानते हो ? जेकर कहोगे कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हैं, तब तो—

“इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यम्”—

[न्या० ६०, अ० १ आ० १ सू० ४]

इस सूत्र में सन्निकर्षोत्पादान निरर्थक होवेगा, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान सन्निकर्ष के बिना भी हो सकता है। जेकर कहोगे कि ईश्वर प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मानते हैं, तब तो ईश्वर के मन का, अणुमात्र प्रमाण होने से युगपत् सर्व पदार्थों के साथ सयोग न होवेगा। तब तो ईश्वर जय एक पदार्थ को जानेगा, तब दूसरे पदार्थ होते हुआओं को भी नहीं

जानेगा। तब तो हमारी तर्र तिस ईश्वर को कदापि सवशता न होवेगी क्योंकि सर्व पदार्थों के साथ युगपत् सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। जेकर कहौगे कि सर्व पदार्थों की क्रम करके जानने से सर्वज्ञ है, तत्र तो बहुत काल करके सब पदार्थों के देखने से ईश्वर की तर्र हम को भी सवश कहना चाहिये। एक और भी बात है, कि अतीत और अनागत जो पदार्थ हैं, सो त्रिनष्ट तथा अनुत्पन्न होने से, उनका मन के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। यदि हो तो पदार्थों का सयोग भी हागा, परन्तु अतीत अनागत पदार्थ तो तिस अवसर में असत् हैं, तब किस तर्र महेश्वर का ज्ञान अतीत अनागत अर्थ का ग्राहक हो सकेगा ? अरु तुम तो ईश्वर का ज्ञान सवाथ का ग्राहक मानते हो, तब तो पूर्वापर विरोध सहज ही में हो गया। ऐसे ही योगियों के सर्वाथ ग्राहक ज्ञान का भी विरोध जान लेना।

११. काय द्रव्य के प्रथम उत्पन्न होने से तिस का जो रूप है, सो पीछे से उत्पन्न हाता है, क्योंकि विना आधय के गुण कैसे उत्पन्न होये। यह कह करके पीछे से यह कहते हैं, कि काय द्रव्य के विनाश हुए पीछे तिस का रूप नष्ट होता है। यह पूर्वापर विरोध है, क्योंकि जब कायद्रव्य का नाश हो गया, तब रूप आधय विना पीछे क्योंकर रह सकेगा ?

११ नैयायिक और वैशेषिक जगत् का कर्त्ता इश्वर को

मानते हैं। यह बात भी एक महामूढता का चिन्ह है, क्योंकि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता है। इस जगत् कर्त्ता का गण्डन दूसरे परिच्छेद में अच्छी तरह विस्तार पूर्वक लिया आये हैं, ता भी भव्य जीवों के ज्ञान के वास्ते थोड़ा सा इहा भी लिया देते हैं।

कई एरु कहते हैं कि साधुओं के उपकार वास्ते अरु दुष्टों के सहार वास्ते ईश्वर युग युग में अवतार लेता है। अरु सुगतादिक कितनेक यह बात कहते हैं, कि मोक्ष को प्राप्त हो करके, अपने तीर्थ को फ्लेश में देखकर, फिर भगवान् अवतार लेता है। यथा —

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तार* परम पदम् ।

गत्वागच्छति भूयोऽपि, भव तीर्थनिकारत* ॥

[पङ्० स०, श्लो० ४६ की वृ० वृ०]

जो फिर ससार में अवतार लेता है, वो परमार्थ से मोक्ष को प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि उसके सब काम क्षय नहीं हुए हैं। जेकर मोहादिक कर्म क्षय हो जाते, तो वो काहे को अपने मत का तिरस्कार देख के पीडा पाता, अरु अवतार

* परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुःकृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थं, सम्भवामि युगे युगे ॥

[भ० गी०, अ० ४ श्लो० ८]

लेता । जेकर माधुओं के उपकारार्थ अरु दुष्टों के महार जास्ते अवतार लेता है, तब तो वो असमर्थ हुआ, क्योंकि रिना ही अवतार के लिये वो यह काम नहीं कर सकता था । जेकर कर सकता था, तो फिर काहे को गभायास में पड़ा ? इस वास्ते सर्व कर्म क्षय नहीं हुए, जेकर क्षय हो जाते तो कभी भी अवतार न लेता । यदुक्तम् —

* दग्धे बीजे यथात्यत, प्रादुर्भवति नाकुर* ।

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ॥

[तत्त्वा०, अ० १० सू० ७ का भाष्य]

उक्त च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिगामु-
काना प्रवलमोहविजृम्भितम् -

दग्धेन पुनरुपैति भव प्रमथ्य,

निर्वाणमप्यनवगारितभीरनिष्टम् ।

मुक्त स्वय कृततनुश्च परार्थेशूर-

स्त्वच्छासनपतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥

[द्वि० छा० श्लो० १८]

* भाषाया — जैसे बीज के दग्ध होने पर अरु उत्पन्न नहीं होता वस ही कर्मबीज के दग्ध होने पर जन्म रूपी अकुर नहा होता ।

आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने भी मुक्त आत्मा के पुन ससार में आने को मोह का प्रवल साम्राज्य कहा है । अर्थात् ऐसा मानना सवथा अज्ञानता है ।

प्रतिवादी —सुगतादिक ईश्वर मत हों, परन्तु सृष्टि का कर्त्ता तो ईश्वर है, उस को आप क्यों नहीं मानते ?

सिद्धान्ती —जगत् कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण का अभाव है, इस वास्ते नहीं मानते ।

प्रतिवादी —जगत्कर्त्ता की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है, यथा—पृथिव्यादिक किसी बुद्धिमान् के ईश्वर कर्त्तृत्व रचे हुए हैं, कार्यरूप होने से, घटादि की तरे । का गण्डन यह हेतु असिद्ध भी नहीं है, पृथिव्यादिकों के साययव होने से उन में कार्यत्व प्रसिद्ध है । तथाहि—पृथिवी, पर्वत, पृष्ठादिक सर्व साययव होने से घटयत् कार्यरूप हैं । अरु यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चितकर्त्तृक घटादिकों में कार्यत्व हेतु प्रत्यक्ष देखने में आता है । तथा जिन आकाशादि का कोई कर्त्ता नहीं है, उन से व्यावृत्त होने से यह कार्यत्व अनैकातिरु भी नहीं है । एव प्रत्यक्ष तथा आगम करके अयाचित विषय होने से, यह काळात्ययापदिष्ट भी नहीं है । अत इस निर्दोष हेतु से जगत् कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है ।

सिद्धान्ती —यहा प्रथम, पृथिवी आदिक किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए हैं, इस की सिद्धि के वास्ते जो तुमने कार्यत्व हेतु कहा था, सो कार्यत्व क्या साययत्त्व को कहते हो ?

वा प्रागस्त का स्वरक्षण सत्ता समवाय है ? वा 'कृत' ऐसे प्रत्यय का विषय है ? वा विकारित्व ही कार्यत्व है ? इन चारों विकल्पों में से कार्यत्व हेतु का कौन सा स्वरूप है ? जेकर कहो कि उसका सामयवत् स्वरूप है, तो यह साव यत्पना अवयवों के विषे वत्तमानत्व है ? वा अवयवों करके आरभ्यमाणत्व है ? वा प्रदेशवत्त्व है ? अथ 'सामय' ऐसी बुद्धि का विषय है ?

तर्हा आद्य पक्ष विषे अवयव सामाय करके यह हेतु अनैकातिक है, क्योंकि अवयवों के विषे वत्तमान अवयवत्व को भी निरवयव और अकार्य कहत हैं। तथा दूसरे पक्ष में यह हेतु साथ के समान सिद्ध होता है। जैसे पृथिव्यादिकों म कार्यत्व साथ्य है, वैसे ह। परमाणु आदि अवयवारभ्यत्व साथ्य है। तथा तीसरे पक्ष में आकार के साथ हेतु अनैकातिक है, क्योंकि आकार प्रदश वाला तो है, परन्तु कार्य नहीं है। तथा चौथे पक्ष में भी आकार के साथ हेतु व्यभिचारी है क्योंकि जो व्यापक होता है, सो निरवयव नहीं हाता है, अरु जो निरवयव होता है, सो परमाणुत्वं व्यापक नहीं होता है।

तथा प्रागस्त का स्वरक्षण में जो सत्तासमवाय तद्रूप भी कार्यत्व नहीं, क्योंकि वह नित्य है। यदि कार्यत्व का ऐसा ही स्वरूप मानोगे, तब तो पृथिव्यादिकों के कार्यत्व को भी

नित्यता का प्रसंग होयेगा । फिर बुद्धिमान् का बनाया हुआ कैसे सिद्ध करोगे ? एक और भी दृषण है । *पञ्चातगत जो योगियों का सम्पूर्ण कर्मक्षय, उसमें यह हेतु प्रविष्ट नहीं होता, इन वास्ते भागासिद्ध है । क्योंकि कर्म क्षय ध्वन्नाभावरूप है, उस में सत्ता और स्वकारणसमवाय का अभाव है । अतः स्वकारण सत्तासमवाय रूप कार्यत्व वहा नहीं रहता ।

तथा "कृत" इस प्रत्यय का विषय भी कार्यत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि एतन्न उत्सेचनादि करके 'कृतभावायम्' ऐसे अकार्य आकार्य में भी उत्तमान होने से, यह अनैकात्मिक है ।

अथ जेकर विकारि स्वरूप कार्यत्व मानोगे, तब तो महेश्वर को भी कार्यत्व का प्रसङ्ग होगा, अर्थात् वो भी कार्य हो जायेगा, क्योंकि जो अयथाभाव है, वोही विकारित्व है । जेकर कहोगे कि ईश्वर विकारी नहीं, तब तो उस में कार्यकारित्व ही दुर्घट है । इस प्रकार कार्य के स्वरूप का विचार करते हुए उस की उपपत्ति न होने से, कार्यत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में जगत्कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । तथा लोक में कार्यत्व की प्रसिद्धि उस में है, जो कि कभी हो और कभी न हो, परन्तु यह जो जगत् है, सो तुमारे महेश्वर की तरे सदा ही स्वरूप है । फिर यह

* किंच, योगिनामशेषकर्मक्षये पञ्चान्त पातियप्रवृत्तत्वेन भागासिद्धोऽयं हेतुः, तत्प्रक्षयस्य प्रध्वसाभावरूपत्वेन सत्तास्वकारणसमवाययोरभावात् ।

[पद्० स०, श्लो० ४६ की वृ० वृ०]

कार्य रूप कैसे माना जा सकता है ?

प्रतिपादी — इस जगत् के अतर्गत तृणादिकों में कार्यत्व होने से यह जगत् भी फायरूप है ।

सिद्धांती — तब तो महेश्वर के अतर्गत बुद्धि आदिकों को, तथा परमाणु आदि के अतर्गत पाकज रूपादिकों को फायरूप होने से, महेश्वर तथा परमाणु आदि को कार्यत्व का अनुपग होवेगा । और इस ईश्वर के अपर बुद्धिमान् कर्त्ता की कल्पना करने पर अनवस्था दूषण तथा अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग होगा । अस्तु, किसी प्रकार से जगत् को कार्य भी मान लिया जाये, तो भी यहा पर क्या कार्यमात्र को तुमने हेतु माना है ? वा कार्य विशेष को हेतु रूप से स्वीकार किया है ? जेकर आद्य पक्ष मानोगे, तब तो उस से बुद्धिमान् कर्त्ता विशेष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि तिस के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं है । किन्तु कर्त्त सामान्य की सिद्धि होती है । जेकर ऐसे ही मानोगे, तब तो यह हेतु अर्किचि त्कर है । और साध्य से विरुद्ध के साधने से हेतु विरुद्ध भी है । इस घास्ते कृतबुद्धि उत्पादक रूप जो कार्यत्व है, सो बुद्धिमान् कर्त्ता विशेष का गमक नहीं हो सकता । जेकर समान रूप होने से कार्यत्व को गमक मान लें, तब तो धांपादि को भी अपि के गमकत्व का प्रसंग होवेगा । तथा महेश्वर को आत्मत्व रूप से सर्व जीवों के सदृश होने से ससारित्व और अटपशत्य आदि का प्रसङ्ग भी हो जायेगा ।

तुल्य आक्षेपसमाधान न्याय से समान रूपता का यहा पर भी अगीकार करना पडेगा। इस वास्ते वाष्प अथ धूम इन दोनों में किसी अरा करके साम्य भी है, तो भी कोई एक ऐसा विशेष है, जिस से कि धूम ही अग्नि का गमक है, वाष्पादिक नहीं। तैसे ही पृथिव्यादिकों में भी इतर कार्यों की अपेक्षा कुछ विशेष ही अगीकार करना होगा।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तब तो पक्ष में कार्य विशेष के अभाव से यह हेतु असिद्ध है। यदि मान लें, तो जीर्ण कृप प्रासादादिकों की तरे अक्रिया देखने वाले को भी कृत-बुद्धि की उत्पादकता का प्रसङ्ग होगा। जेकर कहो कि समारोप से प्रसङ्ग नहीं होता है, तो भी दोनों जगे एक सरीखा होने से क्यों नहीं होता है? क्योंकि दोनों जगें कर्त्ता का अतीन्द्रियत्व समान है, यदि कहो कि प्रामाणिक, को यहा कृतबुद्धि है। तो तहा तिस को कृतकर्त्ता का अवगम, क्या इस अनुमान करके अथवा अनुमानातर करके है? आद्य पक्ष में परस्पर आश्रय दूषण है, तथाहि—सिद्धविशेषण हेतु से इस अनुमान का उत्थान है, परन्तु तिस के उत्थान होने पर हेतु के विशेषण की सिद्धि है। दूसरे पक्ष में अनुमानातर का भी सविशेषण हेतु से ही उत्थान होयेगा, तहा भी अनुमानातर से इस की सिद्धि करोगे, तो अन-घस्या दूषण आयेगा। इस वास्ते कृतबुद्धि उत्पादकत्व रूप विशेषण सिद्ध नहीं। तब यह विशेषणासिद्ध हेतु है।

अथ जो कहते हैं कि यात प्रतिपूरित पृथिवी के दृष्टात

से भी व्यभिचार है। ईश्वर बुद्ध्यादिकों में कायत्व के होने पर भी यहा समवायी कारण ईश्वरादि से भिन्न बुद्धिमत्पूर्व-कत्व का अभाव है। जेकर यहा भी इसी तरे मानोगे, तब तो अनन्यस्यादूषण होवेगा। तथा यह कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्टभी है, क्योंकि बिना थोड़े उत्पन्न हुए तृणादिकों के विषय में बुद्धिमान् कत्ता का अभाव, अग्नि के अनुष्णत्व साध्यविषे द्रव्यत्व हेतु की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण से दीर्घ पडता है।

प्रतिवादी—अक्षुर तृणादिकों का भी अदृश्य ईश्वर कत्ता है।

निश्चातो—यह भी ठीक नहीं, तथा अदृश्य ईश्वर का होना, क्या इसी प्रमाण से है? अथवा और किसी प्रमाण से है? प्रथम पक्ष में शक क दूषण है। इस प्रमाण से तिस का सद्भाव सिद्ध होवे, तब अदृश्य होने से ईश्वर के अनुपलभ की सिद्धि होवे, तिसको सिद्धि के होने पर कालात्ययापदिष्ट का अभाव सिद्ध होवे, तिस के पीछे इस प्रमाण की सिद्धि होवे। दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि ईश्वर के भावावेदी किसी प्रमाण का सद्भाव नहीं है। यदि प्रमाण का सद्भाव है तो भी ईश्वर के अदृश्य होने में क्या शरीर का न होना कारण है? या विद्यादि का प्रभाव है? या जाति विशेष है? प्रथम पक्ष में अशरीरी होने से मुक्त आत्मा की भाति कत्तापने की उपपत्ति नहीं हो सकती।

प्रतिज्ञादी —शरीर के अभाव से भी ज्ञान इच्छा और प्रयत्न के आश्रय से शरीर को उत्पन्न करके ईश्वर कर्ता हो सकता है ।

सिद्धान्ती —यह भी बिना विचार ही का तुमारा कहना है । क्योंकि शरीर सम्बन्ध से ही सृष्टि रचने की प्रेरणा होसकती है । शरीर के अभाव होने पर मुक्त आत्मा की तरे तिस का सम्भव ही नहीं । तथा शरीर के अभाव से ज्ञानादि के आश्रयत्व का भी सम्भव नहीं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति मे शरीर निमित्त कारण है । अन्यथा मुक्तात्मा को भी तिस की उत्पत्ति होयेगी । तथा विद्यादि प्रभाव को अदृश्यपने में हेतु मानें तो कदाचित् यह दीपना भी चाहिये । क्योंकि विद्यावान् सदा अदृश्य नहीं रहते । पिशाचादिकों की तरे जाति विशेष भी अदृश्य होने में हेतु नहीं । क्योंकि ईश्वर एक है, एक में जाति नहीं होती है, जाति जो होती है सो अनेक व्यक्तिनिष्ठ होती है । भले ही ईश्वर दृश्य, अथवा अदृश्य होये, तो भी क्या सत्ता मात्र करके ? वा ज्ञान करके ? वा ज्ञान इच्छा और प्रयत्न करके ? वा तत्पूर्व व्यापार करके ? वा ऐश्वर्य करके, पृथि-यादिकों का कारण है ?

तहा आद्य पक्ष में कुलालादिकों का भी, सत्त्व के अविशेष होने मे जगत्कर्तृत्व का अनुपग होयेगा । दूसरे पक्ष में योगियों को भी जगत् कर्ता की आपत्ति होयेगी । तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अशरीरी में ज्ञानादि के आश्रयत्व

का पूर्व ही प्रतिषेध कर दिया है । चाँये का भी सम्भव नहीं, क्योंकि अरासीरी को फाय घबन के व्यापार का सम्भव नहीं है । तथा ऐश्वर्य भी क्या ज्ञातपा है ? अथवा कसापना है ? अथवा और कुछ है ? जेकर कहो कि ज्ञातपा है, तब क्या ज्ञातृत्वमात्र है ? अथवा स्वज्ञातृत्व है ? आद्यपक्ष में ज्ञाता ही हावेगा, ईश्वर नहीं हावेगा । अन्मदादिक अय ज्ञाताओं की तरे । दूसरे पक्ष में भी इस को सघनता हावेगी परंतु सुगनादियत् इश्वरता नहीं । अथ जेकर कहोगे कि कसृत्व है तब तो अनक फाय करने वाले पुम्मकारादिकों को भी ऐश्वर्य की प्रसक्ति हावेगी । तथा इच्छा प्रयत्नादि के बिना और कोई भी वस्तु ईश्वर के ऐश्वर्य का निबधन कारण नहीं है ।

एक और भी बात है । कि क्या ईश्वर की जगत् बनाने में यथारुचि प्रवृत्ति है ? वा कर्म के वश हो करके ? वा दया करके ? वा क्रीडा करके ? वा निग्रहानुग्राह करने के वास्ते ? वा स्वभाव से ? आद्य विकल्प में कदाचित् और तरें भी खूष्टि हो जावेगी, दूसरे पक्ष में ईश्वर की स्वतंत्रता की हानि हावेगी । तीसरे पक्ष में सर्व जगत् सुखी ही करना था ।

प्रतिषादी — ईश्वर क्या करे ? जैसे जैसे जीवों ने कर्म करे हैं, तिन कर्मों के वश से ईश्वर तैसा तैसा दुःख सुख देता है ।

सिद्धान्ती —तो फिर तिस का क्या पुरुषार्थ है ? जय कर्म ही की अपेक्षा से कर्त्ता है, तब तो ईश्वर की कल्पना से क्या प्रयोजन है ? कम ही के बल से सब कुछ हो जावेगा । तथा चौथे पात्रमें त्रिकल्प में ईश्वर रागी और द्वेषी हो जावेगा, तब तो ईश्वर क्योंकर सिद्ध होगेगा ? तथाहि क्रीडा करने से बालक रागवान् ईश्वर है । तथा निग्रह अनुग्रह करने से भी राजा की तरें ईश्वर राग द्वेष वाला सिद्ध होगा ।

जेकर कहो कि ईश्वर का स्वभाव ही जगत् रचने का है । तब तो जगत् को स्वभाव से ही हुआ माना । फिर ईश्वर की कल्पना काहे को करते हो ? इस वास्ते कार्यत्त हेतु, बुद्धिमान् कर्त्ता—ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता । इस वास्ते नैयायिक, धर्मोपिक जो जगत् का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, सो मूखता का सूचक है । विशेष करके जगत् कर्त्ता का खण्डन देयना होवे, तो सम्प्रतितर्क ग्रथ में देयना ।

अरु जो नैयायिकों ने सोला पदार्थ माने हैं, सो भी बालकों की खेल है, क्योंकि सोला पदार्थ सोलह पदार्थों घटते नहीं है । ये सोला पदार्थ यह हैं—
की समीक्षा १ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ सराय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टांत, ६ सिद्धांत ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वामास, १४ छल, १५ जाति, १६ निग्रहस्थान ।

१ हेयोपादय रूप से जिस करके पदार्थों का परिच्छेद-

ज्ञान किया जाये, उम को प्रमाण कहते हैं*। सो प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द भेद से चार प्रकार का है।

तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मक प्रत्यक्षमिति गोतमसूत्रम्” ।

[न्या० ६०, अ० १ आ० १ सू० ४]

इस का यह तात्पर्य है, कि इन्द्रिय अर्थात् अर्थ का जो सवध तिस से उत्पन्न हुआ जो व्यपदेश और व्यभिचार से रहित, निश्चयात्मक ज्ञान, तिस को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का यह लक्षण ठीक नहीं है। जहा अर्थ ग्रहण के प्रति आत्मा का साक्षात् व्यापार हो, सोई प्रत्यक्ष प्रमाण है, और वह अपाधि, मनपर्यव तथा केवल है। यह जो प्रत्यक्ष नैयायिकों न कहा है, सो उपाधि द्वारा प्रवृत्त होने से अनुमान की तरे परोक्ष है। यदि इस को उपचार प्रत्यक्ष माने, तत्र तो हो सम्भत्ता है। परन्तु तत्त्वार्चिता में उपचार का व्यापार नहीं होता।

अनुमान प्रमाण के तीन भेद हैं—१ पूर्ववत्, २ शेषवत्, ३ सामान्यतोदृष्ट। तदा कारण से फाय का जो अनुमान, सो पूर्ववत्। तथा कार्य से कारण का जो अनुमान, सो शेषवत्, तथा आर के एक वृक्ष को फूला फला

* तत्र हेयोवादेयप्रवृत्तिरूपनया यन पदाथपरिच्छित्ति क्रियते तत् प्रमीयतऽनेनेति प्रमाणम् । [सू० ६० श्रु० १ अ० १० की टीका]

देख कर ससार के अन्य सभी आत्र के वृक्ष फले फले हुए हैं, ऐना जानना, अथवा देवदत्तादिकों में गति पूर्वक, स्थान से स्थानांतर की प्राप्ति को देख कर सूर्य में भी गति का अनुमान करना, सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। परन्तु तहा भी अन्यथानुपपत्ति ही गमक है, कारणादिक नहीं क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के विना कारण को कार्य के प्रति व्यभिचार होने से, उसी को गमक मानना चाहिये। अरु जहा अन्यथानुपपत्ति है, तहा कार्य कारणादिकों के विना भी गम्य गमकभात्र देखते हैं, जैसे छत्तिका के देखने से रोहिणी का उदय होवेगा। तदुक्त—

* अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

तथा एक और भी यात है, कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण ही नैयायिक का फहा प्रमाण न हुआ, तत्र प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान जो है, सो क्याकर प्रमाण होवेगा? तथा “प्रसिद्ध साधर्म्यात्” अर्थात् प्रसिद्ध साधर्म्य से जो साध्य का साधन है, सो

* अन्यथानुपपन्नत्वम्—अविनाभाव । [प्र० मी० १ २ ९]

जहा पर अविनाभाव है, वहा पर हेतु की त्रिविधरूपता की क्या आवश्यक्ता है? और जहा पर अविनाभाव नहीं, वहा पर भी हेतु-त्रैविध्य अनावश्यक है।

तात्पर्य कि जहा पर अविनाभाव है, वहा पर हेतु त्रैविध्य रहे या

उपमान है। यथा—जैसी गौ है तैसा गवय-रोक्ष है। यहा भी सञ्ज्ञा सञ्ज्ञी के सम्बन्धी की प्रतिपत्ति ही उपमान का अर्थ है। तत्र यहा भी अन्यथानुपपत्ति के सिद्ध होने से उपमान भी अनुमान के अन्तर्भूत ही है, पृथक् प्रमाण नहीं। जेकर कहोगे कि यहा अन्यथानुपपत्ति नहीं है, तब तो व्यभिचारी होने से उपमान प्रमाण ही नहीं है। शब्द भी सत्र ही प्रमाण नहीं है, किंतु जो भास प्रणीत आगम है सोई प्रमाण है। अर्थ अर्थ के बिना दूसरा कोई भास है नहीं। इम यान का विशेष निर्णय देखना होये, तो सम्मतितत्र, नदीसिद्धांत आप्तभी मास्तादि शास्त्र देख लेने। तथा एक और भी यात है, कि यह चारों प्रमाण आत्मा का ज्ञान है, अरु ज्ञान आदि वस्तु के गुणों को पृथक् पदार्थ मानिये, तत्र तो रूप रसादि को भी पृथक् पदार्थ मानना चाहिये। जेकर कहो कि प्रमेय के ग्रहण में इन्द्रिय और अथादि से ये भी ग्रहण किये जाते हैं। तो यह भी तुमारा कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि द्रव्य से पृथक् गुणों का अभाव है, द्रव्य के ग्रहण करने से गुणों का भी ग्रहण

न रहे तो भी हेतु से साध्य का अनुमान हो सकता है। परंतु जहा पर अविनाभाव नहीं है, वहां पर हतु त्रैविध्य होन पर भी साध्य की मित्रि नहीं होती। जैसे—वृत्तिका के दशन से रोहिणी के उदय विषयक अनुमान में कार्य कारण भाव का अभाव होन पर भी अविनाभाव से साध्य की मित्रि हो जाती है। हेतु त्रैविध्य—हतु का पक्ष तथा सपक्ष में रहना और विपक्ष में न रहना।

सिद्ध है, इस वास्ते हम को पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं ।

२ तथा प्रमेय के भेद-१ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, ४ अर्थ, ५ बुद्धि, ६ मन, ७ प्रवृत्ति, ८ दोष, ९ प्रेत्यभार, १० फल, ११ दुःख, १२ अयत्न । तथा आत्मा सर्व का देखने वाला अरु भोक्ता है, अरु इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुग्न, ज्ञान, इन करके अनुमेय है । सो तो हम ने जीवतत्त्व में ग्रहण किया है । अरु शरीर जो है सो आत्मा का भोगायनन है, इन्द्रिय भोगों के साधन हैं, अरु इन्द्रियार्थ भोग्य हैं । ये शरीरादिक भी जीवाजीव के ग्रहण में हमने ग्रहण करे हैं । अरु बुद्धि जो है, सो उपयोग रूप ज्ञान विशेष है, सो बुद्धि जीव के ग्रहण ही में जा गई, एतावता जीव तत्त्व में ही ग्रहण होगई । अरु मन सर्व विषय अंत करण है, युगपत् ज्ञान का न होना यह मन का लिंग है । तथा द्रव्यमन तो पौद्गलिक है सो अजीव तत्त्व में ग्रहण किया है । अरु भावमन जो है सो ज्ञानरूप आत्मा का गुण है, सो जीव तत्त्व में ग्रहण किया है । अरु आत्मा की इच्छा का नाम प्रवृत्ति है, सो सुग्न दुःखों के होने में कारण है, ज्ञान रूप होने से यह जीव तत्त्व में ग्रहण की है । आत्मा के जो अर्धप्रमाय-राग, द्वेष, मोहादि, सो दोष हैं, यह दोष भी जीव के अभिप्राय रूप होने में जीवतत्त्व में ही ग्रहण किये हैं, इसवास्ते पृथक् पदार्थ नहीं । प्रेत्य भार परलोक का सद्भाव होना, सोभी जीवाजीव के विना और कुछ नहीं है । तथा फल सुग्न दुःख का भोगना, सोभी जीव

गुणों के अतभूत है। इन वास्ते पृथक् पदार्थ कहना ठीक नहीं। तथा बुद्ध, यह भी फल से न्यारा नहीं। अरु जन्ममरणादि सर्व प्रकार के दुखों से रहित होना अपवर्ग-भोक्तृ है। सो हम ने नयत्तर मे माना ही है।

३ तथा यह क्या है? ऐसे अनिश्चयरूप प्रत्यय को न्याय कहते हैं, सो भी निणय ज्ञानयत् आत्मा ही का गुण है।

४ तथा मनुष्य जिस से प्रयुक्त हुआ प्रवृत्त होता है, तिस का नाम प्रयोजन है, सो भी इच्छा विशेष होने से आत्मा का ही गुण है।

५ तथा जो विवाद का विषय न हो अर्थात् वादी प्रति वादी दोनों को संमन हो, सो नृष्टान है। वो भी जीराजीव पदार्थों से न्यारा नहीं है इस वास्ते पृथक् पदार्थ नहीं है। क्योंकि अययग्रहण में भी आगे इस का ग्रहण हो जायेगा।

६ तथा सिद्धांत चार प्रकार का है—(१) 'सर्वतत्राविरुद्ध'—सर्व शास्त्रों में अविरुद्ध, जैसे स्पर्शनादि इन्द्रिय हैं, अरु स्पर्शादि इन्द्रियार्थ हैं, तथा प्रमाणों द्वारा प्रमेय का ग्रहण होता है। (२) समानतंत्रसिद्ध और परतत्रासिद्ध प्रतितत्र सिद्धांत है, जैसे साय्य मत में कार्य सत् ही उत्पन्न होता है, न्याय वैशेषिक मत में अमत् और जैन मत में सदसत् उभयरूप उत्पन्न होता है। (३) जिम्न की सिद्धि के होने पर और भी अर्थ अनुपग करके सिद्ध हो जाये, सो अधिक रणसिद्धांत है। तथा (४) "अपरीक्षितार्थाभ्युपगमत्वात्सिद्धि

शेषपरीक्षणमभ्युपगमभिद्धात"—जैसे किसी ने कहा शब्द क्या वस्तु है ? कोई एक कहता है कि शब्द द्रव्य है, सो शब्द नित्य है ? वा अनित्य है ? इत्यादि विचार । यह चार प्रकार का सिद्धांत भी ज्ञान विशेष से अतिरिक्त नहीं है । अरु ज्ञानविशेष आत्मा का गुण है, जो गुणीके ग्रहण करने से ग्रहण किया जाता है । इस वास्ते पृथक् पदार्थ नहीं ।

७ अथ अत्रयत्र-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इन पाचों अत्रयचों को जेकर शब्दमात्र मानिये, तत्र तो पुद्गल रूप होने से अजीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं । जेकर ज्ञानरूप मानिये, तत्र तो जीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं । इस वास्ते पृथक् पदार्थ कहना ठीक नहीं । जेकर ज्ञान विशेष को पृथक् पदार्थ मानिये तत्र तो पदार्थ बहुत हो जावेंगे, क्योंकि ज्ञानविशेष अनेक प्रकार के हैं ।

८ सराय के अनन्तर भवितव्यता प्रत्ययरूप जो पदार्थ पर्या लोचन, तिस को तर्क कहते हैं । जैसे कि, यह स्थाणु अथवा पुरुष जरूर होगा । यह भी ज्ञान विशेष ही है । ज्ञानविशेष जो है, सो ज्ञान से अभिन्न है, इस वास्ते पृथक् पदार्थ पत्पना ठीक नहीं ।

९ सराय और तर्क सेती उत्तर काल भावी निश्चयात्मक जो ज्ञान, तिस का नाम निर्णय है । यह भी ज्ञानविशेष है, अरु निश्चयरूप होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतर्भूत होने से पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं ।

तथा १० वाद, ११ जल्प, १२ वितंडा—तहा प्रमाण, तक, साधन, उपालभ, सिद्धांत से अतिरुद्ध पचावयय संयुक्त पक्ष प्रतिपक्ष का जो ग्रहण करना, तिम का ताम वाद है। सो वाद तत्त्वज्ञान के वास्ते दिप्य अरु आचार्य का होना है। अरु सोई वाद, तिम को जीतना होये, तिस के साथ छल, जाति, निग्रहस्थान आदि के द्वारा जो साधनोपालभ—स्वपक्ष स्थापन और पर पक्ष में दूषणोत्पादन करना जल्प कहलाता है। तथा सो वाद ही प्रतिपक्ष स्थापना से रहित वितंडा है। परन्तु वास्तव में इन तीनों का भेद ही नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्त्वचिंता में तत्त्व के निणयार्थ वाद करना चाहिये। छल जाति आदिक से तत्त्व का निश्चय ही नहीं होता है। छल आदिक जो हैं सो पर को परास्त करने के वास्ते ही हैं, तिम से तत्त्वनिणय की प्राप्ति कदापि नहीं होती। जेकर इन का भेद भी माना जाये, तो भी ये पदार्थ नहीं हो सकते हैं। क्योंकि जो परमार्थ वस्तु है, सोई पदार्थ है। अरु वाद जो है, सो पुरुष की इच्छा के अधीन है, नियतरूप नहीं है। इस वास्ते पदार्थ नहीं। तथा एक और भी बात है, जि बहुत से लोग कुक्कड़, लाल और मीठे, आदि के वाद में भी पक्ष प्रतिपक्ष का ग्रहण करते हैं। तत्र तो तिनों को भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनी चाहिये, परन्तु यह तो तुम भी नहीं मानते। इस वास्ते वाद पदार्थ नहीं है।

१३ तथा असिद्ध, अनैकांतिक, विरुद्ध, यह तीनों हेत्वा

भास है । हेतु तो नहीं, परन्तु हेतु की तर्रं भासमान होते हैं, इस वास्ते इन को हेत्वाभास कहते हैं । जत्र सम्यक् हेतुओं की ही तत्त्वज्ञवस्थिति नहीं, तो हेत्वाभासों का तो कहना ही क्या है ? क्योंकि जो नियत स्वरूप करके रहे, सो वस्तु है । परन्तु हेतु तो एक साध्य वस्तु में हेतु है, और दूसरे साध्य में जहेतु है, इस वास्ते नियत स्वरूप वाला नहीं ।

तथा १४ छल, १५ जाति, १६ निग्रहस्थान, यह तीनों पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि यह तीनों ही वास्तव में कपट रूप हैं । जिनों ने इनको तत्त्व रूप से कथन किया है, उन के ज्ञान, वैराग्य का तो कहना ही क्या है ? तब तो इस ससार में जो चोरी, ठगी, और हाथ फेरी आदि सिखावे, तिस को भी तत्त्वज्ञान का उपदेशक मानना चाहिये । यह नैयायिक मत के सोला पदार्थों का स्वरूप तथा खण्डन संक्षेप से बतला दिया । जे कर विशेष देयना होवे, तो न्यायकुमुदचन्द्र और सूत्रवृताग सिद्धांत का बारहवा अध्यायन देय लेना ।

अथ वैशेषिक मत का खण्डन लिखते हैं । वैशेषिकों के कहे हुये तत्त्व भी तत्त्व नहीं हैं । वैशेषिक मत में छ पदार्थों की १ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य ५ समीक्षा विशेष, ६ समजाय, यह छे तत्त्व माने है । तहा १ पृथिवी, २ अप्, ३ तेज, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिक्, ८ आत्मा, ९ मन, यह नव द्रव्य हैं । परन्तु तिन में पृथिवी, अप्, तेज, और वायु, इन

चारों को मिश्र भिन्न द्रव्य मानने से, टीका नहीं । क्योंकि परमाणु जो हैं, सो प्रयोग और विश्रसा करके पृथिवी आदिकों के रूप से परिणमते हुए भी अपने द्रव्य पन को नहीं त्यागते हैं । तथा अतिप्रसंग होने से, अवस्था भेद करके, द्रव्य का भेद मानना भी युक्त नहीं है । आकाश तथा पाल को तो हमने भी द्रव्य माना है । दिशा जो है, सो आकाश का अथ यथभूत है, इस वास्ते पृथक् द्रव्य नहीं । तथा आत्मा जो कि शरीर मात्र व्यापी और उपयोग लक्षण वाला है, तिस को हम भी द्रव्य मानते हैं । अह जो द्रव्यमन है, सो पुद्गल द्रव्य के अन्तर्भूत है, तथा जो मायमन है, सो जीव का गुण होने से, आत्मा के अन्तर्गत है । यद्यपि वैशेषिक कहते हैं, कि पृथिवी पृथिवीत्व के योग से पृथिवी है । परन्तु यह भी उन का कहना स्वप्रक्रिया मात्र ही है, क्योंकि पृथिवी से अन्य दूसरा कोई पृथिवीत्व—पृथिवीपना नहीं है, जिस के योग से पृथिवी पृथिवी होवे । अपि मु सर्व जो कुछ भी है, सो सामान्य विशेषात्मक है, अर्थात् नरसिंहाकारत्व उभय स्वभाव है । तथा चोक्तम्—

नाचय स हि भेदत्वान्न, भेदोऽन्वयवृत्तितः ।

मृद्भेदद्रव्यससर्गवृत्तिजात्यतर घटः ॥

न नरः सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपत ।

शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यतरं हि सः ॥

[सू० ४०, शु० १ अ० १२ की टीका]

मावार्थ—घट और मृत्तिका का अन्वय—अभेद नहीं है, क्योंकि पृथु, बुध्न, उदराकारादिकों करके इस का भेद है, तथा अन्वयवर्ती होने से घट का मृत्तिका से भेद भी नहीं है, एतावता घट मृत्तिका रूप ही है । तत्र अन्वय व्यतिरेक इन दोनों के मिलने से घड़ा जो है, सो जात्यंतर रूप है, एतावता मृत्तिका से कथंचित् भेदा भेद रूप है । सिंह रूप होने से नर नहीं है, अरु-नररूप होनेसे सिंह भी नहीं है, तथा तो शब्द, विज्ञान, और कार्य के भेद होने से नरसिंह जो है, सो तीसरी जाति है ।

६२। अथ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, इन की प्रवृत्ति रूपी द्रव्य में है, अरु ये विशेष गुण है । तथा सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परन्त्व, अपरत्व, ये सामान्य गुण है । इन की सर्व द्रव्य में वृत्ति है । तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार, ये आत्मा के गुण हैं । तथा गुरुत्व पृथिवी और जल में है । द्रवत्व पृथिवी, जल अरु अग्नि में है । स्नेह जल में ही है । घेग नाम का सस्कार मूर्त्त द्रव्यों में है । अरु शब्द आकाश का गुण है । परन्तु तिन में सख्यादिक जो सामान्य गुण है । ये रूपादिवत् द्रव्यस्वभाव होने करके परोपाधि से गुण ही नहीं हैं । फ्यों कि जत्र गुण द्रव्य से पृथक् हो जावेंगे, तत्र द्रव्य के स्वरूप की हानि हो जावेगी । * "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्"—इस कहने

करके गुण जो हैं सो द्रव्य से न्यारे नहीं हैं। द्रव्य के ग्रहण ही से गुण का ग्रहण करना न्याय्य है, पृथक् पदार्थ मानना युक्त नहीं है। तथा शब्द जो है, सो आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि यह तो पौद्गलिक है, अरु आकाश अमूर्त है। शेष जो कुछ वैशेषिक ने कहा है, सो प्रक्रियामात्र है, साधन दूषणों का अंग नहीं है।

३ अरु कर्म भी गुणवत् पृथक् पदार्थ मानना अयुक्त है।

४ अथ सामान्य दो प्रकार के हैं, एक पर दूसरा अपर। तिन में पर सामान्य महासत्ता का नाम है, वो द्रव्यादि तीन पदार्थों में व्याप्त है। अरु जो अपर है, सो द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादिक है। तिन में महासत्ता को पृथक् पदार्थ मानना अयुक्त है। क्योंकि सत्ता में जो सत् प्रत्यय है सो क्या और किसी सत्ता के योग से है? वा स्वरूप करके है? जेकर कहोगे कि और सत्ता के योग से है, तब तो तिस सत्ता में जो सत् प्रत्यय है, वह किसी और सत्ता के योग से होना चाहिये। इस प्रकार तो अनगस्था दूषण आता है। जेकर कहोगे कि स्वरूप करके सत् है, तब तो द्रव्यादिक भी स्वरूप करके सत् है। तो फिर अजा के गल के स्तनों की तरे निष्कल सत्ता की कल्पना से क्या प्रयोजन है? एक और भी शब्द में परिणाम को उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है, वही इस का गुण है, और गुण से होने वाला परिणाम पर्याय है, गुण कारण है और पर्याय कार्य है।

यान है, कि द्रव्यादिक जो है, सो क्या सत्ता के योग होने से सत् कहे जाते हैं ? अथवा सत्ता के सम्बन्ध बिना ही सत् स्वरूप है ? जेकर कहोगे कि स्वतः ही सत् स्वरूप है, तब तो सत्ता की कल्पना करनी व्यर्थ है । जेकर कहोगे कि सत्ता के योग से सत् है, तब तो एतद्विषय भी सत्ता के योग से सत् होना चाहिये । तथा चोकम —

स्वतोऽर्था सतु सत्तावत्मतया किं सदात्मनाम् ।

असदात्ममु नैषा स्यात्सर्वथातिप्रसगतः ॥

[सू० क०, श्रु० १ अ० १० की टीका में सगृहीत]

यही दूषण मुख्य योग क्षेम होने से अपर सामान्य में भी समझ लेने । तथा सामान्य विशेष रूप होने से वस्तु को कथंचित् सामान्यरूप हम भी मानते हैं । इस वास्ते द्रव्य के ग्रहण करने से सामान्य का भी ग्रहण होगया । अतः सामान्य जो है, सो द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं है ।

५ अथ विशेष जो है, सो अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि के हेतु होने कारके वैशेषिकों ने माने हैं । तथा यह विचार करते हैं, कि तिन विशेषों में जो विशेष बुद्धि है, सो क्या अपर विशेषों कारके है ? या स्वतः ही-स्वरूप कारके है ? अपर विशेषहेतुक तो हो नहीं सकती, क्योंकि अनवस्था दोष धाता है, तथा विशेष में विशेष का अगीकार नहीं है । जेकर कहोगे कि स्वतः ही विशेष बुद्धि के हेतु है, तब तो द्रव्यादिक भी स्वतः ही

विशेष बुद्धि के हेतु हो सकते हैं। तो फिर विशेषों को द्रव्य-से अतिरिक्त पदार्थ कल्पना व्यर्थ है। और द्रव्यों से अन्यतिरिक्त विशेषों को तो, सर्व वस्तुओं को सामान्य विशेषात्मक होने से हम भी मानते हैं।

‘६ अहं समवाय—जो’अयुतसिद्ध आधार आधेय भूत पदार्थों में, ‘इह प्रत्यय का हेतु हो, उस को समवाय कहते हैं। समवाय जो है, सो नित्य अरु एक है। ऐसे वैशेषिक मानते हैं। परन्तु तिस समवाय के नित्य होने से समवायी भी नित्य होने चाहिये ? जेकर समवायी अनित्य हैं, तो समवायी भी अनित्य होना चाहिये ?’ क्योंकि समवाय का आधार समवायी है। तथा समवाय के एक होने से समवायी भी एक ही होने चाहिये। अथवा समवायियों के अनेक होने से समवाय भी अनेक होने चाहिये। तथा जो समवाय पदार्थों का स्वयं करता है, यह समवाय उन पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध अपर समवाय के योग से करता है ? किंवा आप ही अपना सम्बन्ध करता है ? जेकर कहो कि अपर समवाय से करता है, तब तो अनवस्थाद्रूपण है। तथा समवाय भी दूसरा है नहीं। जेकर कहो कि आप ही अपना सम्बन्ध करता है, तब तो गुण क्रियादिक भी द्रव्य से स्वरूप करके तथा अविष्वग्भाव सम्बन्ध करके सम्बद्ध हैं ही। फिर समवाय की कल्पना क्यों करनी ?

इस कारण से वैशेषिक मत में—भी पदार्थों का कथन

सम्यक्-आप्तोक्त नहीं है । तथा नैयायिक और वैशेषिक मत में जो मोक्ष मानी है, सो भी प्रेक्षागनों—बुद्धिमानों को मानने योग्य नहीं है । क्योंकि ये लोग जय-आत्मा ज्ञान से रहित होये, एतावता-जडरूप हो जाये, तब उन आत्मा की मोक्ष मानते हैं । ऐसी मोक्ष को कौन बुद्धिमान्, उपादेय, कहेगा ? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो सर्व सुख और ज्ञान से रहित पापाण तुल्य अपनी आत्मा को करना चाहे ? इसी वास्ते किसी ने वैशेषिकों का उपहास भी कर है—

ऽ वर'वृदावने रम्ये, क्रोष्ट्वमभिप्राञ्छितम् ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गतुमिच्छति ॥

[स्या० म०; (श्लो० ८) में सगृहति]

* याय मत में आयन्तिक दुःखस्वरूप भावमानो है । वैशेषिक मत में भी आत्मा के बुद्धि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सत्कार आदि गुणों के आयन्तिक विनाश को ही मोक्ष कहा है । इस लिये याय और वैशेषिक मत में मोक्ष को ज्ञान और आनन्द स्वरूप अंगीकार नहीं किया । किन्तु उन के सिद्धांत में यावद् दुःखों का आयन्तिक विनाश ही अपवर्ग-मोक्ष है । यथा—

“तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग” । [सा० ६०, १-१-२२]

इस से सिद्ध है, कि मोक्ष दशा में आत्मा ज्ञान से शून्य और अपने जडस्वरूप में स्थित रहता है ।

ऽ यह गौतम नाम के किसी विद्वान् विशेष की उक्ति है । यह

तात्पर्य कि, स्वर्ग के जो सुख हैं, सो सोपाधिक, साप्राधिक, परिमित आनन्द रूप हैं, अरु मोक्ष जो है, सो निरपाधिक, निरप्राधिक, अपरमित आनन्द ज्ञान सुख स्वरूप है, ऐसे विचक्षण पुरुष कहते हैं। जत्र कि यह मोक्ष पापाण के तुल्य है, तब तो ऐसी मोक्ष से कुछ भी प्रयोजन नहीं। इससे तो ससार ही अच्छा है, कि जिस में दुःख करके कलुषित सुख तो भोगने में आता है। जरा विचार तो करो, कि थोड़े सुख का भोगना अच्छा है, या सर्व सुखों का उच्छेद अच्छा है? इत्यादि विशेष चर्चा श्याद्वादमंजरी टीका [श्लो० ८] से जाननी। इस वास्ते नैयायिक मत, अरु वैशेषिक मत उपादेय नहीं है।

अथ साख्य मत का खण्डन लिखते हैं। साख्य मत का स्वरूप तो ऊपर लिखा है। सो जान लेना।

साख्य मत साख्य का मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि
का खण्डन परस्पर विरोधी और प्रकृति स्वरूप सत्त्व,

रज, और तम गुणों का गुणी के बिना एकत्र अवस्थान अथात् रहना युक्तियुक्त नहीं है। जैसे कि वृष्ण श्रेतादि गुण गुणी के बिना एकत्र नहीं रह सकते हैं। तथा महदादि विकार के उत्पन्न करने के वास्ते प्रकृति में विषमता उत्पन्न करने में कोई भी कारण नहीं है।

कहता है, कि वैशेषिक की मुक्ति की अपेक्षा तो उसे वृद्धावन के किसी रम्य प्रदेश में गौदड़ बन कर रहना अच्छा लगता है।

क्योंकि प्रकृति के बिना और कोई वस्तु तो सारथ्य मानते नहीं हैं । तथा आत्मा को अकर्त्ता—अकिंचित्कर मानते हैं । जेकर प्रकृति में स्वभाव से वैषम्य मानोगे, तब निहंतु-फता होवेगी, अर्थात् या तो पदार्थों में सत्त्व ही होगा और या असत्त्व ही रहेगा । क्योंकि जो कार्य कभी होवे, अरु कभी न होवे, वो हेतु के बिना नहीं हो सकता है, अरु जो परस्पृगादि नित्य असत् हैं, तथा आकाशादि नित्य सत् हैं, सो तो किसी हेतु से होते नहीं हैं । तथा —

नित्य सत्त्वमसत्त्व वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ।

अपेक्षातो हि भावाना, कादाचित्कत्वसम्भव ॥

[सू० क०, श्रु० १ अ० १२ की टीका में उद्धृत]

तथा स्वभाव प्रकृति से भिन्न है ? वा अभिन्न है ? भिन्न तो नहीं, क्योंकि प्रकृति बिना सारथ्यों ने अपर कोई वस्तु मानी नहीं है, जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तब तो प्रकृति ही है, “न तु स्वभाव ’—स्वभाव नहीं है ।

तथा एक और भी बात है कि महत्त्व अरु अहंकार को हम ज्ञान से भिन्न नहीं देखते, क्योंकि बुद्धि जो है सो अघ्य घसायमात्र है, अरु अहंकार जो है, सो अहं सुखी, अहं दुःखी इस स्वरूप वाला है, तब ये दोनों चिद्रूप होने से आत्मा के ही गुण विशेष हैं, किन्तु जड़ रूप प्रकृति के विकार नहीं हैं ।

तथा यह जो आप तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति मानते हैं, जैसे १ गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी, २ रस तन्मात्रा से जल, ३ रूप तन्मात्रा से अग्नि, ४ स्पर्श तन्मात्रा से वायु, और ५ शब्द तन्मात्रा से आकार। यह भी मानना युक्तियुक्त नहीं है। जेकर बाह्य भूतों की अपेक्षा से कहते हो, तो वो भी अयुक्त है। इन बाह्य पांच भूतों के सदा ही विद्यमान रहने से, इन की उत्पत्ति ही नहीं है। "न कदाचिदनीदृश जगत् इति वचनात्" अर्थात् यह जगत् प्रगाह करके अनादि काल से सदा ऐसा ही चला आता है।

जेकर कहोगे कि प्रतिरारीर की अपेक्षा हम उत्पत्ति कहते हैं। तिन में त्वचा, अस्थि लक्षण कठिन पृथिवी है। श्लेष्म, रुधिर लक्षण द्रव अप्जल है। पक्ति लक्षण अग्नि है। पानापान लक्षण वायु है। शुषिर अर्थात् पोलाइ लक्षण आकार है, सो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तिन में भी कितनेक शरीरों की उत्पत्ति पिता के शुक्र, अरु माता के रुधिर से होती है, तथा तन्मात्राओं की गन्ध भी नहीं है। अरु अदृष्ट वस्तु को कारण कल्पने में अतिप्रसंग दूषण है। तथा अण्डज, उद्भिज्ज, अकुरादिकों की उत्पत्ति अपर ही वस्तु से होती दीख पड़ती है। इस वास्ते महदहकारादिकों की उत्पत्ति जो स्वार्यों ने अपनी प्रमिया से मानी है, सो युक्ति रहित मानी है। केवल अपने मत के राग से ही यह मानना है। तथा आत्मा को अकत्ता माने हैं। तथ

तो कृतनाश अरु अकृताभ्यागम दूषण होंगे, अरु चन्द मोक्ष का भी अभाव होगा, पर निर्गुण होने से आत्मा ज्ञान शून्य हो जावेगी। इस घास्ते यह सर्व पूर्णकालप्रलापमात्र है।

अब साख्यमत के मोक्ष का विचार करते हैं, "प्रकृति-पुण्यातरपरिज्ञानात् मुक्ति" अर्थात् प्रकृति पुरुष से अन्य है, ऐसा जब ज्ञान होता है, तब मुक्ति होती है। यथा—

शुद्धचैतन्यरूपोऽय, पुरुषः पुरुषार्थतः।

प्रकृत्यतरमज्ञात्वा, मोहात्ससारमाश्रित ॥

[पद० स०, श्लो० ४३ की वृ० वृ० में समृद्धित]

भावार्थ —पुरुष जो है, सो परमार्थ से शुद्ध चैतन्यरूप है, अपने आपसे प्रकृति से एकमेक-अभिन्न समग्रता है, यही मोह है, इस मोह से ही ससार के आश्रित हो रहा है। अतः सुख दुःख स्वभावरूप प्रकृति को विवेक ज्ञान के द्वारा जब तक अपने से अलग नहीं समझेगा तब तक मुक्ति नहीं। इस घास्ते विवेक स्वरूप केवल ज्ञान के उदय होने से मुक्ति होती है। परन्तु यह भी असत् है, क्योंकि आत्मा एकात्म नित्य है, अरु सुखादि जो हैं, सो उत्पाद वयय स्वभाव वाले हैं। तब तो निरुद्ध धर्म के ससर्ग से आत्मा-से प्रकृति का भेद प्रतीत ही है। तो फिर मुक्ति क्यों नहीं? ससारी पुरुष यही तो विचार नहीं करता, इसी घास्ते उस की मुक्ति नहीं। तब तो तुमारे कहने से कदापि

मुक्ति नहीं होवेगी। क्योंकि विवेकाध्ययनाय ससारी को कदापि नहीं हो सकता। जहा लग ससारी है, तहा लग विवेक परिभाषना करके ससारी पना दूर नहीं होता है। इस घास्ते विवेकाध्ययनाय के जभाय से कदापि ससार से छूटना नहीं होगा।

एक और भी बात है, कि इन सृष्टि से पहले केवल आत्मा है, ऐसे तुम मानते हो। तब फिर आत्मा को ससार कहा से लिपट गया? जे कर कहोगे कि निर्मल आत्मा को ससार लिपट जाता है, तब तो मोक्ष होने के पीछे फिर भी ससार लिपट जायगा, तब तो मोक्ष भी क्या एक बिडबना खडी हो गई।

प्रतिपादी—सृष्टि से पहिले आत्मा को दिदृक्षा हुई, और तिस दिदृक्षा के बरा से वह प्रधान के साथ अपना एक रूप देखने लगा, तब ससारी हो गया। अब जब प्रकृति की दुष्टता उस के विचार में आई, तब प्रकृति से वैराग्य हुआ, फिर प्रकृति बिपे दिदृक्षा नहीं रही, तब ससार भी नहीं।

सिद्धाती—यह भी तुमारा कहना स्वयत्तात विरोध होने से अयुक्त है। क्योंकि दिदृक्षा—देखने की अभिलाषा का नाम है, सो अभिलाषा पूव देखे हुए पदार्थों में स्मरण से होती है। परन्तु प्रकृति तो पुरुष ने पूर्व कदापि देखी नहीं है, तब कैसे तिस बिपे स्मरण अभिलाषा होवे? जेकर कहोगे कि अनादि घासना के बरा से प्रकृति में ही स्मरण

अभिलाषा है। सो भी असत् है, क्योंकि वासना भी प्रकृति का विकार होने करके प्रकृति के पहिले नहीं थी। जेकर कहोगे कि वासना जो है, सो आत्मा का स्वरूप है, तब तो आत्मस्वरूपवत् वासना का कदापि अभाव नहीं होवेगा, अरु मोक्ष भी कदापि नहीं होवेगा। तब तो साख्य का मत भी बालकों का खेल जैसा हो जायगा।

अथ मीमांसक मत का खण्डन लिखते हैं। इस मत का स्वरूप ऊपर लिख आये हैं। अरु वेदातियों के ब्रह्म—अद्वैत का खण्डन भी ईश्वरवाद में अच्छी तरे से कर चुके हैं, इस धाम्ने यहा नहीं लिखा।

अथ जैमिनीय मत का खण्डन लिखते हैं। जैमिनीय

ऐसे कहते हैं, कि जो * “हिंसा गार्ध्यात्०”—

वेदविहित हिंसा अर्थात् इन्द्रियों के रस घास्ने अथवा कुव्यसन से कीजाय सोई हिंसा अधम का हेतु है, क्यों कि शौनिक लुब्धकादिकों की तरफ, वो प्रमाद से की जाती है। अरु घेदों में जो हिंसा कही है, सो हिंसा नहीं है, किंतु देवता, अतिथि और पितरों के प्रति प्रीतिसम्पादक होने से तथाविध पूजा उपचार की भांति धर्म का हेतु है। अरु यह प्रीतिसम्पादकत्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि पारीरी

* या हिंसा गार्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुभवेत् प्रमादसम्पादितत्वात् शौनिकलुब्धकादीनामिव, इत्यादि।

प्रभृति यज्ञों के स्वसाध्य विषे वृष्ट्यादि फलों का अव्यभिचारी पना है। सो यह करने से जो देवता तृप्त होने हैं, वो वृष्ट्यादिकों के हेतु हैं। ऐसे ही * "त्रिपुराणप्रयणितछगल" अर्थात् त्रिपुरारणव में वर्णन किये गये यकरे के मास का होम करने से परराष्ट्र का जो घरा होना है, सो भी उस मास की आहुतियों से तृप्त हुए २ देवताओं का ही अनुभाव है। अरु अतिथि की प्रीति भी "मधुसपर्कसस्कारादिस्मास्वाद्जा"—मधुपर्क से प्रत्यक्ष ही दीप्त पड़ती है, अरु पितरों के घास्ते जो श्राद्ध करते हैं, उस करके तृप्त हुए पितर, स्वस्तान की वृद्धि करते हुए प्रत्यक्ष ही दीखते हैं। अरु इस बात में आगम भी प्रमाण है, आगम में देवप्रीत्यर्थ अद्रुमेध, नरुमेध, गोमेधादिक करने कहे हैं। अरु अतिथि विषय में † "महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियायोपक्त्पयेदिति" ऐसा कहा है। अरु पितरों की प्रीति के घास्ते यह श्लोक हैं—

द्वौ मासौ मत्स्यमासेन, त्रीन् मामान् हारिणेन तु ।
 औरभ्रेणाय चतुर, शाकुनेनाथ पच वै ॥
 पण्मामान् छागमासेन, पार्षतेन च सप्त वै ।
 अष्टोणेणस्य मासेन, रौरिणेण नवैव तु ॥

* यह वाम सम्प्रदाय का मन्त्र शास्त्र है ।

† या० ध० ६५०, आचाराध्याय० १०९ ।

दशमासास्तु तृप्यति, वराहमहिषाभिपै ।
 शशकृषयोस्तु मासेन, मासानेकादशैश्च तु ॥
 संवत्सर तु गव्येन, पयसा पायसेन च ।
 वाग्नीशसस्य मासेन, वृषिर्द्वादशवार्षिकी ॥

[म० स्मृ०, अ० ३ श्लो० २६८-२७१]

भाष्य—जेकर पितरों को मत्स्य का मास देवे, तो पितर दो मास लग वृत्त रहते हैं । जेकर हरिण का मास पितरों को देवे, तो पितर तीन मास लग वृत्त रहते हैं । जेकर मूढि का मास पितरों को देवे, तब चार मास लग पितर वृत्त रहते हैं । जेकर जगली कुकड़ का मास पितरों को देवे, तो पितर पाच मास तक वृत्त रहते हैं । जेकर घग्घे का मास देवे, तो पितर छमास लग वृत्त रहते हैं । जेकर पृषत—बिंदु करके युक्त जो हरिण, उम को पार्षत कहते हैं, तिस का मास जो पितरों को देवे, तो पितर सात मास लग वृत्त रहते हैं । जेकर षण मृग का मास देवे, तो आठ मास लग पितर वृत्त रहते हैं । जेकर सूअर अरु महिष का मास देवे, तो दस मास लग पितर वृत्त रहते हैं । जेकर शय अरु षच्छु, इन दोनों का मास देवे, तो ग्यारह मास लग पितर वृत्त रहते हैं । जेकर गौ का दूध अथवा खीर देवे, तो बारह मास लग पितर वृत्त रहते हैं, तथा घार्धिण—जो अति बूढ़ा बकरा होवे, तिस का मास देवे, तो बार वर्ष लग पितर वृत्त

रहते हैं। यह मीमांसक मानते हैं।

अब इस का खण्डन लिखते हैं। हे मीमांसक ! वेदां में जो हिंसा कही है, सो धर्म का हेतु वदविहित हिंसा कदापि नहीं हो सकती है। क्योंकि हिंसा को का प्रतिवाद कहने में प्रगट ही स्वयंभन विरोध है। तथाहि, जेकर धर्म का हेतु है, तत्र तो हिंसा क्योंकर है ? अरु जेकर हिंसा है, तो धर्म का हेतु क्योंकर हो सकती है ? कहा भी है—

श्रूयता धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवान्धार्यताम् ।

आत्मन प्रतिकूलानि, परेषा न समाचरेत् ॥

इस वास्ते हिंसा को धर्म नहीं कह सकते। क्योंकि एक स्त्री माता भी है, अरु बध्या भ है, ऐसा कभी नहीं होता है।

प्रतिवादी—हिंसा कारण है, अरु धर्म तिस का कार्य है।

सिद्धाती—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जो जिस के भाय अन्यय व्यतिरेक वाला होता है, सो तिस का कार्य होता है। जैसे मूर्तिपडादि का घटादिक कार्य है। अर्थात् जिन्म प्रकार मूर्तिपड और घट इन दोनों में अन्येय व्यतिरेक का सम्यग्ध होने से घट मूर्तिपड का काय सिद्ध होता है, उस प्रकार हिंसा और धर्म का आपस में अन्यय व्यतिरेक सम्यग्ध नहीं है। अर्थात् हिंसा करने से ही धर्म होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि अहिंसारूप

तप, दान, और अध्ययन आदिक भी धर्म के कारण है।

प्रतिवादी—हम सामान्य हिंसा को धर्म नहीं कहते, किंतु विशिष्ट हिंसा को धर्म कहते हैं। सो विशिष्ट हिंसा योही है, जो वेदों में करनी कही है।

सिद्धाती—जे कर वेद की हिंसा धर्म का हेतु है, तो क्या जो जीव यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मरते नहीं हैं, इस वास्ते धर्म है? अथवा उन के आर्त्तध्यान का अभाव है, इस वास्ते धर्म है? अथवा जो यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मर के स्वर्ग को जाते हैं, इस वास्ते धर्म है? इस में आद्य पक्ष तो ठीक नहा, क्योंकि प्राण त्यागते हुए तो वो जी प्रत्यक्ष दीग पड़ते हैं। तथा दूसरा पक्ष भी असत्त है, क्योंकि दूसरे के मन का ध्यान दुर्लक्ष है, इस वास्ते आर्त्तध्यान का अभाव कहना, यह भी परमार्थ शून्य वचन मात्र है। आर्त्तध्यान का अभाव तो क्या होना था। बल्कि, हा! हम यहे दु खी हैं! हे कोई कण्ठारस भरा दयालु जो हम को इस घोर यातना से छुड़ावे! इस प्रकार अपनी भाषा में हृदय द्रावक आक्रन्दन करते हुए मूक प्राणियों के मुख की दीनता और नेत्रों की सरलता आदि के देखने से स्पष्ट उन विचारों के आर्त्तध्यान की उपलब्धि होती है।

प्रतिवादी—जैसे लोहे का गोला पानी में डूबने वाला भी है, तोभी तिस के सूक्ष्म पत्र कर दिये जाय तो जल के ऊपर तरंगे, डूबेंगे नहीं। तथा विष जो है सो मारने वाला

भी है, तो भी मन्त्रों करके सस्कार करा हुआ गुण ही कग्ना है। तथा जैसे अग्नि दाहक स्वभाव वाली भी है, तो भी सत्य शीलात्मिक के प्रभाव से दाह नहीं करती। ऐसे ही वेद मन्त्रादिकों करके सस्कार करी हुई जो हिंसा सो दोष का कारण नहीं। अरु वैदिकी हिंसा निन्दनीय भी नहीं है, क्योंकि तिस हिंसा के करने वाले याज्ञिक ब्राह्मणों को जगत में पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।

सिद्धाती—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जितने वृष्टा त तुम ने कहे है, सो सब विषम है, इस वास्ते तुमारे अभीष्ट की कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकते। लोहे का पिंड जो पत्रादि रूप होने से जल के ऊपर तरता है, सो परिणामांतर होने से तरता है। परंतु वेद मंत्रों से सस्कार करके जन्म पशु को मारते हैं, तब उस में क्या परिणामांतर होता है? क्या उस परिणामांतर से उन पशुओं को मारते समय दुःख नहीं होता? दुःख को तो वे अरराट राद से प्रकट ही करते हैं। तो फिर लोह पत्र का वृष्टान कैसे समीचीन हो सकता है?

प्रतिवादी—जो पशु यज्ञ में मारे जाते हैं, वो सर्व देवता हो जाते हैं। यह यज्ञ करने में परोपकार है।

सिद्धाती—इस बात में कौन सा प्रमाण है? प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय सबद्ध वर्त

मान घस्तु का ही ग्राहक है—“*सबद्ध वर्त्तमान च गृह्यते चश्रुवादिनेति वचनात्” । अरु अनुमान भी नहीं है, क्योंकि यद्वा पर तत्प्रतिषेद्ध लिंग [अनुमान का साध्यक हेतु] कोई भी नहीं दीयता है । अरु आगम प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि आगम तो विवादास्पद—झगड़े का घर है, जो कि आज तक सिद्ध नहीं हुआ है । तथा अर्थापत्ति अरु उपमान यह दोनों अनुमान के ही अतर्गत हैं । तो अनुमान के सण्डित से यह भी दोनों सण्डित हो गये ।

प्रतिमादी —जैसे तुम जिनमन्दिर बनाते हुये पृथिवीका यादि जीवों की हिंसाको विशेष करके जिनमन्दिर की पुण्य का हेतु फल्पते हो । ऐसे हम भी यह स्थापना में जो हिंसा करते हैं, सो पुण्य के वास्ते हैं । क्योंकि वेदोक्त विधि-विधान में भी परिणाम विशेष के होने से पुण्य ही होता है ।

सिद्धार्ता —परिणाम विशेष ये ही पुण्य का कारण होते हैं, जहा और कोई उपाय न होवे, अरु यत्न से प्रवृत्ति होवे । ऐसी प्रवृत्ति जिनमन्दिर में हो सकती है, क्योंकि श्रीभगवान् की प्रतिमा जिनमन्दिर के बिना रहती नहीं । जहा पर प्रतिमा रहेगी उसी का नाम जिनमन्दिर है । जे कर कहो कि जिन प्रतिमा के पूजने से क्या लाभ है ? तो हम तुम को पूछते हैं, कि जो पुस्तक में फकारादि अक्षर लिखते हो, इन के

लिखने से क्या लाभ है ? जे कर कहोगे कि ककारादि अक्षरों की स्थापना देखने से वस्तु का ज्ञान होता है, तो तैसे ही जिन प्रतिमा को देखने से भी थीजिनेद्वर देव के स्वरूप का ज्ञान होता है। जेकर कहो कि प्रतिमा तो कारीगर ने पाषाण की बनाई है, इस से क्या ज्ञान होता है ? तो हम पूछते हैं कि वेद, कुरान, इजील, आदि पुस्तक लिखा रियों ने स्याही और कागजों के बनाए हैं इन से क्या ज्ञान होता है ? जेकर कहोगे कि ज्ञान तो हमारी समझ से होता है, अक्षरों की स्थापना तो हमारे ज्ञान का निमित्त है। तैसे ही जिनेश्वर देव का ज्ञान तो हमारी समझ से होता है, परन्तु उस के स्वरूप का निमित्त प्रतिमा है। क्योंकि जो बुद्धिमान् पुरुष किसी का प्रथम नक़शा नहीं देखेगा, अथात् चित्र नहीं देखेगा, वो कभी उस वस्तु का स्वरूप नहीं जान सकेगा। इस वास्ते जो बुद्धिमान् है, वो स्थापना को अवश्य मानेगा। जेकर कहो कि परमेश्वर तो निराकार ज्योति स्वरूप, सर्व व्यापक है, तिसकी मूर्ति क्योंकर बन सकती है? यह तुमारा कहना बड़े उपहास्य का कारण है। क्योंकि जे तुमने परमेश्वर का रूप आकार—मूर्ति नहीं मानी, तब तो वेद, इजील, कुरान, इन को परमेश्वर का चित्रन मानना भी क्योंकर सत्य हो सरेगा ? क्योंकि विना मुरा के शब्द कदापि नहीं हो सकता है। जेकर कहोगे कि ईश्वर विना ही मुख के शब्द कर सकता है। तो इस बात के कहने में कोई

प्रमाण नहीं है। इस वास्ते जो साक्षर शब्द है, सो मुख के बिना नहीं, अरु शरीर के बिना मुख नहीं हो सकता। इस वास्ते जो कोई चाही किसी पुस्तक को ईश्वर का वचन मानेगा, वो जरूर ईश्वर का मुख और शरीर भी मानेगा। अरु जब शरीर माना, तब भगवान् की प्रतिमा भी जरूर माननी पड़ेगी। जब प्रतिमा सिद्ध हो गई, तब मन्दिर भी जरूर बनाना पड़ेगा। इस वास्ते जिन मन्दिर का बनाना जो है, सो आवश्यक है। अरु जो बनाने वाला है, सो यज्ञ पूर्णक बनाता है। अरु पृथिवी पायादिक के जो जीव हैं, सो अस्पष्ट चेतन्य वाले हैं। उन की हिंसा में अल्प पाप अरु जिन मन्दिर बनाने से बहुत निर्जरा है। तथा तुमारे पक्ष में तो श्रुति, स्मृति, पुण्य, इतिहास आदि में यम नियमादिकों के अनुष्ठान से भी स्वर्ग की प्राप्ति कही है। तो फिर वृषण, दीन, अनाथ, प्येमे पंचोद्वय जीवों का वध यज्ञ में काहे को करते हो? इस में तो यही सिद्ध होता है, कि जो तुम निरपराध, वृषण, दीन, अनाथ जीवों की यज्ञादिकों में मारते हो। उस के कारण तुम अपने संपूर्ण पुण्य का नारा करके अपश्य दुर्गति में जाओगे, और शुभपरिणाम का होना तुम को बहुत दुर्लभ है।

जेकर कहो कि जिनमन्दिर के बनाने में भी हिंसा होती है, इस वास्ते जिनमन्दिर बनाने में भी पुण्य नहीं है।

यह तुमारा कहना भी अयुक्त है । क्योंकि जिनमदिर और जिनप्रतिमा के देखने से, उनके दर्शन से भगवान् के गुणा नुराग करके कितनेक भय जीयों को बोधि का लाभ होता है । अरु पूजातिराय देखने से मन प्रसाद होता है, मन-प्रसाद से समाधि होती है । इसी प्रकार कम करके नि श्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है । तथा च भगवान् पचलिंगीकार—

* पुढवाइयाण जइविहु, होइ विणासो जिणालयाहि तो ।
तव्विसयावि सुदिट्ठिस्म, नियमओ अत्थि अणुकपा ॥१॥
एआहिंतो बुद्धा, विरया रक्खति जेण पुढवाई ।
इत्तो निव्वणगय, अवाहिया आभवमणत ॥२॥
रोगिसिरावेहो इव, सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ता ओ ।
परिणामसुन्दर चिय, चिद्धा से पाहजोगेवि ॥३॥

* छाया —

पृथिव्यादीनां यद्यपि भवत्येव विनाशो विनालयदिभ्य ।

तद्विषयापि सुदृष्टे नियमनोऽस्त्यनुकम्पा ॥१॥

एतभ्यो बुद्धा विरता रत्नन्ति येन पृथिव्यादीन् ।

अतो निषाद्यगता अवाधिता आभवमनतम् ॥२॥

रोगिशिरावेध इव सुवैद्यक्रियेव सुप्रयुक्ता तु ।

परिणामसुन्दर इव वेष्टा सा बाधायोगेऽपि ॥ ३॥

[जिनस्वरसूचित प० छि०, गा० ५८-६०]

अर्थ—१ यद्यपि जिनमन्दिर घनाने में पृथिवी आदिक जीवों की हिंसा होती है, तोभी सम्यक्द्रष्टि की निज जीवों पर निश्चय ही अनुकपा है। २ इन की हिंसा से निवृत्त होकर ह्यानी निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। कैसे निर्वाण को ? जो अज्या हत, और अनत काल तक रहने वाला है। ३ जैसे रोगी की नाडी को वैद्य घड़े यज्ञ से बाँधता है। उस वैद्य के ऐसे अच्छे परिणाम हैं, कि कदाचित् वो रोगी मर भी जावे, तो भी वैद्य को पाप नहीं। तैसे ही जिन मन्दिर के घनाने में यज्ञपूर्वक प्रवर्त्तमान पुरुषों को उन जीवों के ऊपर अनुकपा ही है। परन्तु वेद के षडे मूजब बध करने में हम किंचित् मात्र भी पुण्य नहीं देखते।

प्रतिवादी—ब्राह्मणों को पुरोडासादि [हवन के बाद का घचा हुआ द्रव्य] प्रदान करने से पुण्यानुबधी पुण्य होता है।

सिद्धान्ती—यह भी तुमारा कहना ठीक नहीं। क्योंकि पवित्र सुवर्णादि प्रदान मात्र से भी पुण्योपार्जन का सम्भव हो सकता है। फिर जो कृपण, दीन, अनाथ, पशु गण को मारना और उन के मांस का दान करना, यह तुमारी केवल निर्दयता अरु मांस लोलुपता ही का चिन्ह है।

प्रतिवादी—हम केवल प्रदान मात्र ही पशुबध क्रिया का फल नहीं कहते हैं, किन्तु भूत्यादिक, अर्थात् लक्ष्मी आदि भी प्राप्त होती है। यदाह धृति—“श्वेतवायव्यमजमालभेत भूतिकाम इत्यादि”—[श० ब्रा०] भावार्थ—भूति-पेश्वर्य

दि की इच्छा नाला, श्वेतवर्ण के जिस का वायु देवता
पामी है, बन्ने को आलभेत-हिंमेत् अर्थात् मारे ।

सिद्धाती —तुमारा यह कथन भी व्याभिचार रूप पिशाच
की मृत्यु होने से अप्राभाणिक है, क्योंकि भूति जो है, सो
न्य उपाय करके भी साध्यमान हो सकती है ।

प्रतिवादी —यज्ञ में जो छागादि मारे जाते हैं, वे मर
र देव गति को प्राप्त होते हैं । यज्ञ करने में यह जीवों
र उपकार है ।

सिद्धाती —यह भी तुमारा कहना प्रमाण के अभाव से
चन मात्र ही है, क्योंकि यज्ञमें मारे गये पशुओं में से सद्गति
लाभ होने से मुदित मन हो कर कोई भी पशु पीड़े
कर अपने स्वर्ग के सुखों का निरूपण नहीं करता ।

प्रतिवादी —हमारे इस कहने में आगम प्रमाण है ।—यथा—

ओपध्य' पशुसो वृक्षा स्तिर्यच' पक्षिणस्तथा ।

यज्ञार्थं निरन प्राप्ता', प्राप्नुमत्युच्छ्रित पुन. ॥

[म० स्मृ०, अ० ५ श्लो० ४०]

भावार्थ —ओपधियँ, भ्रजादिक पशु किंजल्कादि पक्षी,
यज्ञ में मृत्यु को प्राप्त होकर फिर उद्धित अर्थात् उच्च
गति को प्राप्त होते हैं ।

सिद्धाती —यह भी तुमारा कहना ठीक नहीं । तुमारा
आगम पौरुषेय अपौरुषेय विस्त्वों करके हम आगे खण्डन

करेंगे। तथा श्रौत विधि से पशुओं को मारने पर यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती होये, तब तो कर्माई—पटीक प्रमुख सभी स्वर्गवासी हो जायेंगे। तथा च पठति ॥ पारमर्षा —

† यूष छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।

यद्यत्र गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते ॥

[सा० का० २ की मा० वृ० में उद्धृत]

एक और भी बात है। यदि अपरिचित अस्पष्ट चैतन्य अनुपकारी पशुओं के मारने से त्रिदित्र पदवी प्राप्त होती होये, तब तो परिचित, स्पष्ट चैतन्य, परमोपकारी, माता पितादिकों के मारने से याशिकों को उस से भी अधिकतर पद की प्राप्ति होनी चाहिये।

प्रतिपादी -: "अचित्त्यो हि मणिमश्रौषधीना प्रभाव" इति

* साख्य मतानुयायी त्रिद्वान् ।

† सांख्य कारिका की मात्र श्रुति में 'यूष' के स्थान पर "वृक्षान्" पाठ है, जो कि अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह म पशुओं को बाधने के स्तम्भ का नाम यूष है। तब वृत्तिस्य पाठ के अनुसार इय - श्लोक का भावाय यह है कि—वृक्षों को काट कर, पशुओं को मार और रुधिर से काचड़ करके, यदि स्वर्ग प्राप्त होता है, तो फिर नरक के लिये कौनसा माग है? इस प्रकार के वैध हिंसा के निषेधक अनेक वचन उपनिषद् और महाभारत आदि सद्ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिन का दिग्दर्शन मात्र परिशिष्ट न० २ के रा विभाग में कराया गया है।

‡ मणि मत्र और अश्रौषधि का प्रभाव अचित्त्य है।

वचनात्—इस वास्ते वैदिक मंत्रों की अर्चित्य शक्ति होने से उन मंत्रों से संस्कार किये हुए पशु को मारने से उस को अवश्य स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

सिद्धाती—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैदिक विधि के अनुसार किये जाने वाले विवाह, गर्भाधान, जात कर्मादि संस्कारों के विषे तिन मंत्रों का व्याभिचार देखने में आता है । विवाह के अन्तर ही स्त्री विधवा हो जाती है । तथा बहुत से मनुष्य अल्पायु, और दरिद्रतादि उपद्रवों करके पीडित होते हुए देखने में आते हैं । एव घेद मंत्रों के संस्कारविना भी कितनेक विवाह करने वाले सुखी, धनी और नीरोग दीप्तते हैं । अतः वैदिक विधि से घघ किये जाने वाले पशुओं को स्वर्गप्राप्ति का कथन करना केवल कल्पना मात्र है । इस वास्ते अदृष्ट स्वर्गादि में इस के व्याभिचार का अनुमान सुलभ है ।

प्रतिवादी—जहां विवाहादि में विधवादि हो जाती हैं, तहां क्रिया की विगुणता से विसवाद—विफलता होती है ।

सिद्धाती—तुमारे इस कहने में तो यह सत्य कभी दूर ही नहीं होवेगा । कि घहा पर क्रिया का वैगुण्य विसवाद का हेतु है । किंवा वेदमंत्रों की असमर्थता विसवाद विषमता का हेतु है ?

प्रतिवादी—जैने तुमारे मत में * "आरुग्गजोहिल्लभ

* आ० चतु० स्त० या ६ । ज्ञाना—आरोग्यबोधिलाभ समाधि

“समाहिवरमुत्तम दितु” इत्यादि वचनों का कालांतर में ही फल मिलना कहा जाता है। ऐसे ही हमारे अभिमत वेद वचनों का भी इस लोक में नहीं किंतु लोकांतर में ही फल होता है। इस वास्ते विवाहादि के उपालभ का अवकाश नहीं है।

सिद्धांती—अहो वचन वैचित्री ! जैसे वर्तमान जन्म विषे विवाहादि में प्रयुक्त मंत्र, सस्कारों का फल आगामी जन्म में स्वीकार करते हैं। ऐसे ही, द्वितीय तृतीयादि जन्म में भी विवाहादि में प्रयुक्त मंत्रों का फल मानने से अनंत भवों का अनुसन्धान होवेगा। तब तो कदापि संसार की समाप्ति नहीं होवेगी। तथा किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। इस से यही सिद्ध हुआ, कि वेद ही अपर्य-वासित सखार बहुरी का मूल है। तथा आरोग्यादि की जो प्रार्थना है, सो तो असत्य अमृता भाषा के द्वारा परिणामों की वियुद्धि करने के वास्ते है, दोष के वास्ते नहीं। क्योंकि तदा भाव आरोग्यादि की ही विवक्षा है। तथा जो आरोग्य है, सो “शतुर्गतिक स्मरण, लक्षण भाव, रोग परिच्छय रूप होंने से उत्तम फल है। अतः इस विषय की जो प्रार्थना है, सो विवेकी जनों को किस प्रकार से आदरणीय नहीं? तथा ऐसे भी मत कहना कि परिणामयुद्धि से फल की प्राप्ति

रमुत्तम ददतु। अथात् हे भगवन् ! आरोग्य, बोधिलाभ-सम्यक् तथा उत्तम समाधि की प्रदान करें।

नहीं होती, क्योंकि भाग्यशुद्धि से फल प्राप्तिमें किसी का विवाद नहीं है, तथा ऐसे भी मत कहना कि वेदविहित हिंसा बुरी नहीं, क्योंकि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान सपन्न, अर्चिमाग के अनुगामी घेदातमादियों ने भी इस हिंसा की निंदा की है।

* तथा च तत्त्वदर्शिन पठति —

देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा ।

मति जतून् गतघृणा योरा ते याति दुर्गतिम् ॥

= वेदातिका अप्याह —

अधे तमासि मज्जाम', पशुभि र्ये यजामहे ।

हिंसा नाम भवेद्धर्मो, न भूतो न भविष्यति ॥

तथा —

× अग्नि यमितस्मात् हिंसाकृतादेनसो मुचतु [छादस्त-
त्वान्मोचयतु इत्यर्थः ।]

* तत्त्वदर्शी लोगों ने कहा है —

जो निर्देय पुरुष देवों की प्रमत्तता और यज्ञ के बहाने से पशुओं का वध करते हैं, व घोर दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

= वेदातियों ने भी कहा है —

- यदि हम पशुओं के द्वारा यज्ञ करें, तो घोर अधकार में पड़ेंगे ।

हिंसा न कभी धर्म हुआ, न है, और न होगा ।

× अग्नि मुझे इन हिंसाजनित पाप से छुड़ावे ।

* व्यासेनाप्युक्तम् —

ज्ञानपात्रिपरिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्यदयाभसि ।
 स्नात्प्रातिविमेल तीर्थे, पापपकापहारिणि ॥१॥
 ध्यानाग्नौ जीवकुटस्थे, दममारुतदीपिते ।
 असत्कर्मममित्क्षेपं रघिहोत्र कुर्वत्तमम् ॥२॥
 कपायपशुभिर्दुष्टं धर्मकामार्थनाग्नैः ।
 शममत्रहुतैर्यज्ञ, विवेदि विहितं युधैः ॥३॥
 प्राणिनात्तु यो धर्ममोहते मूटमानसः ।
 स वाञ्छति सुभाषुष्टिं, कृष्णादिमुग्रफोटगात् ॥४॥

* व्यास भी कहे हैं —

ज्ञान रूप चादर से आच्छादित ब्रह्मचर्य और दयामय जन से परि-
 पूर्ण, पापहय कीचड़ से दूर करने वाले, अति निमल तीर्थ में स्नान
 करके, तथा जावत्प कुण्ड में दमकय पवन में प्रदीप्त ध्यानरूप अग्नि
 में अशुभ कर्मरूप काष्ठ का प्रक्षेप करके उत्तम अग्निहोत्र को करो ॥१-२॥

धर्म, अथ और काम को नष्ट करने वाले कपायरूप दुष्ट पशुओं
 का शमादि मन्त्रा के द्वारा यज्ञ करो ॥३॥

जो मूढ पुरुष प्राणियों का घात करके धर्म को इच्छा करता
 है, वह मानो काले माँप की बाँबी से अमृत की वर्षा की इच्छा
 कर रहा है ॥४॥

अरु जो यह करने वालों की पूजनीयता के विषय में कहा है, वो भी अयुक्त है। क्योंकि अशुभ जन ही उन को पूजते हैं, विवेकी, और बुद्धिमान नहीं। अरु मूर्खों का जो पूजन है, सो प्रामाणिक नहीं, क्योंकि मूर्ख तो कुत्ते और गधे को भी पूजते हैं।

तथा जो तुमने कहा था कि देवता, अतिथि और पितृ की प्राप्ति का सपादक होने से वेदविहित हिंसा दोषग्रह नहीं। सो यह भी श्रुत है, क्योंकि देवताओं को तो उन के सकल्प मात्र से ही अनिमित आहार के रस का स्वाद प्राप्त हो जाता है। तथा देवताओं का शरीर चैक्रियरूप है। सो तुमारी जुगुप्सित पशुमांसादि की आहुति के लेने को उन की इच्छा ही नहीं हो सकती है। क्योंकि भौदारिक शरीर पाले ही इत मांसादिकों के ग्राहक हैं। जेकर देवताओं को भी करल आहारी—अग्नि में आहुति रूप से दिये हुए द्रव्य का भक्षक मानेंगे, तब तो देवताओं का शरीर जो तुमने मंत्रमय साता है तिस के साथ विरोध होवेगा। अरु अभ्युपगम की धावा होगी। देवताओं का मंत्रमय शरीर होता तुमारे मृत में सिद्ध ही है। * “चतुर्थ्यं त प्रदमेव देवता” इति जैमिनीयउचन । प्रामाण्यात् । तिस्राञ्च मृगैश्च—

* सम्प्रदान विभक्ति वाला पद ही देवता है।

† मृगैश्च नाम का विद्वान् भी कहता है, कि वेदि-देवता लोग मंत्रमय शरीर के धारक न होकर हम लोगों की भांति मृत शरीर

शब्देतरत्वे युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु ।

न सा प्रयाति सानिध्य मूर्त्तत्वादस्मदादिवत् ॥

तथा जिस यस्तु की आहुति देवताओं को देते हैं, वो तो अग्नि में भस्मीभूत हो जाती है। तो फिर देवता क्या उस भस्म अर्थात् राख को खाते हैं? इस वास्ते तुमारा यह कइता प्रलापमात्र है।

तयों ऐक और भी यात है, कि यह जो त्रेताग्नि है, सो तेतीस कोटि देवताओं का मुख है, § "अग्निमुखा ये देवा" इति श्रुते । तत्र तो उत्तम, मध्यम, अधम, सर्व प्रकार के देवता एक ही मुख से खाने वाले सिद्ध हुए, और सब आपस में जूठ खाने वाले बन गये । तत्र तो त्रे तुरकों से भी अधिक हो गए । क्योंकि तुरक भी एक पात्र में एकडे तो खाते हैं, परन्तु सब एक मुख से नहीं खाते । तथा एक और भी यात है, एक शरीर में अनेक मुख हैं, यह यात तो हम सुनते थे, परन्तु अनेक शरीरों का एक मुख, यह तो बड़ा ही आश्चर्य है ।

के धारण करने वाले हों, तो जैसे हम लोग एक समय में बहूनों से स्थानों पर नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता भी एक साथ अनेक यज्ञस्थानों में नहीं जा सकेंगे ।

* त्रेताग्नि—रक्षिण, आहवनाय और गार्हपत्य, ये तीन अग्नि ।

§ [आश्व० पृ० सू०, अ० ४ क ८ सू० ६] 'अग्निमुखा ये देवा पाणिप्रवा पितर' इति श्रावणम् ।

जब सर्व देवताओं का एक ही मुख माना, तो जब किसी पुरुष ने एक देवता की पूजादि से आराधना की, अरु अन्य देवता की निर्दादि से विराधना की। तब तो एक मुख करके युगपत् अनुग्रह और निग्रह वाक्य के उच्चारण में सक्ता का अग्रस्य प्रसंग होयेगा। तथा एक और भी बात है कि, मुख जो है सो देह का नयमा भाग है। तो जब उन देवताओं का मुख ही दाहात्मक है तब एक एक देवता का शरीर दाहात्मक होने से तीनों मवन ही भस्मीभूत हो जाने चाहिये।

तथा जो पापी यज्ञ के अनुष्ठान में वृष्टि के होने में, आहुति से प्रसन्न हुए देवता का अनुग्रह कहते हो, सो भी अनैकातिरु है। क्योंकि किसी जग पर उक्त यज्ञ के अनुष्ठान से भी वृष्टि नहीं होती। अरु जहा व्यभिचार नहीं अर्थात् वृष्टि होती भी है, तहा भी आहुति के भोजन करने से अनुग्रह नहीं, किन्तु वह देवताविशेष अतिशय क्षानी है, इम वास्ते अविधान से अपने उद्देश से किये गये पूजा क उपचार की देखकर अपने स्थान में बैठा हुआ ही पूजा करने वाले के प्रति प्रसन्न होकर उस का कार्य, अपनी इच्छा से ही कर वेता है। तथा जेकर उस का पूजा की तरफ उपयोग न हो अथवा पूजक का भाग्य भद् हो, तो जानना हुआ भी वह कार्य नहीं करता। क्योंकि द्रव्य क्षेत्र, काल, भागादि सहकारियों से कार्य का होना दीग्य पड़ता है। अरु जो पूजा उपचार है, सो केवल पशुओं के मारने ही से नहीं हो

सकता, दूसरी तरे से भी हो सकता है। तो फिर केवल पाप मात्र फल रूप इस शौनिषवृत्ति—हिंसकवृत्ति के अनुकरण करने से क्या लाभ है ?

तथा छगल अर्थात् बफरे के मास का होम करने से पर राष्ट्र को बश करने वाली सिद्धया देवी के परितोष होने का जो अनुमान है, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि कोई क्षुद्र देवता इम मे प्रसन्न भी हों, तो वे अपनी पूजा को देव अह जान कर ही राजी हो जाते हैं, परंतु मलिन—वीभत्स मास के गाने से राजी नहीं होते। जेकर होम करी हुई वस्तु को वे खाते हैं, तत्र तो ह्यमान हवन किये जाने वाले निम्न पत्र, कड़ुना तेल, आरनाल, धूमा यादि द्रव्य भी तिन का भोजन हो जायेगा। याह तुमारे देवता क्या ही सुंदर भोजन करते हैं।

अत वास्तव में द्रव्य, क्षेत्र, आदि सहकारी कारणों से युक्त उपासक की भावपूर्ण उपासना ही विजय आदि अभीष्ट फल की उत्पत्ति में कारण है, यही मानना युक्तियुक्त है। जैसे कि अचेतन होने पर भी चिन्तामणि रत्न, मनुष्यों के पुण्योदय से ही फलप्रद होता है। तथा अतिथि आदि की प्रीति भी सस्कार सपन्न पक्काआदिक से हो सकती है, फिर तिन के वास्ते महोत्सव, महाजादि की कल्पना करना निरी मूर्खता है।

तथा श्राद्धादि के करने में पितरों की तृप्ति का होना भी अनैकालिक है। क्योंकि घड़ुतों के श्राद्ध श्राद्ध का निषेध करने पर भी सत्तान नहीं होती, और कितनेक श्राद्ध नहीं भी करते, तो भी तिन के गदम, शृकर आदि की तरह सत्तान की वृद्धि देखते हैं। तिस वास्ते श्राद्धादि का विधान केवल मुग्ध जनों की विप्रतारण-ठगना मात्र ही है। जो पितर लोकातर को प्राप्त हुए हैं, वे अपने शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार वेच नरकादि गतियों में सुगम दुःख भोग रहे हैं। जय ऐसा है, तो फिर पुत्रादि के दिये हुये पिंडों को वे क्योंकि भोगने की इच्छा कर सकते हैं? तथा च / युष्मद्यूथिन पठति —

मृतानामपि जतूना, श्राद्ध चेत्तृप्तिकारणम् ।

तन्निर्वाणप्रदीपस्य, स्नेह सर्वर्क्षयेच्छिवाम् ॥

* आप के साथियों ने भी कहा है—यदि श्राद्ध मरे हुए प्राणियों की प्रसन्नता का कारण हो सकता है, तो तैल को भी बुझे हुए दीपक की शिखा—लाट के बढ़ाने का कारण मानना चाहिये। तापर्य कि, जिस प्रकार बुझे हुए दीपक को तैल नहीं जला सकता, उसी प्रकार श्राद्ध भी परलोक गत पितरों का तृप्ति नहीं कर सकता। तथा माधवाचार्य प्रणीत सर्वदशनसमूह में समूहोत्त इच्छश्लोक का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—
'गच्छत्वामिह जतूना यथ पादेयकल्पनम्'—अर्थात् मरे हुए प्राणियों को यदि श्राद्ध से तृप्ति हो, तो परदेरा में जाने वालों को साथ में खाना ल जाने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि घर में श्राद्ध करने से वे

तथा श्राद्ध करने से उत्पन्न होने वाला पुण्य परलोक गत पितरों के पास कैसे चला जाता है ? क्योंकि वो पुण्य तो औरने फरा है, तथा पुण्य जो है, सो जडरूप और गति रहित है। जे फर कहो कि उद्देश तो पितरों का है, परंतु पुण्य श्राद्ध करने वाले पुत्रादिसों को होता है। यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि पुत्रादि का इस पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् पुत्रादि के मन में यह वासना ही नहीं कि हम पुण्य करते हैं, और इस का फल हम को मिलेगा। तो बिना पुण्य की भावना से पुण्य फल होता नहीं है। इस वास्ते श्राद्ध करने का फल न तो पितरों को अरु न पुत्रादिसों को होता है, किंतु "त्रिशकु की तरह बीच में ही लटका रहता है। [अर्थात् जैसे वासिष्ठ ऋषि के शिष्यों के शाप से चंडालता को प्राप्त होने के बाद त्रिशकु नाम का राजा, विश्वामित्र के द्वारा कराये जाने वाले यज्ञ के प्रभाव से जिस समय स्वर्ग को जाने लगा, और इन्द्र ने उसे स्वर्ग में आने नहीं दिया, तो उस समय वह स्वर्ग और पृथिवी के बीच में ही लटका रह गया। वैसे ही श्राद्ध से उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल न तो पितरों को प्राप्त हो

सब तप्त हो जावेंगे। तथा यह श्लोक चाणक्य—नास्तिक मत के निरूपण में अनेक प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों में सगृहीत हुआ है, परन्तु इस के मूल का पुरुष पता नहा चला है।

तथा श्राद्धादि के करने से पितरों की वृत्ति का होना भी अनैकातिक है। क्योंकि घड़तों के श्राद्ध श्राद्ध का निषेध करने पर भी सत्तान नहीं होती, और किन्तनेक श्राद्ध नहीं भी करते, तो भी तिन के गदभ, शृकर आदि की तरह सत्तान की वृद्धि देखते हैं। तिस वास्ते श्राद्धादि का विधान केवल मुग्ध जनों को विप्र तारण-ठगना मात्र ही है। जो पितर लोकातर को प्राप्त हुए हैं, वे अपने शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार देव नरकादि गतियों में सुख दुःख भोग रहे हैं। जय ऐसा है, तो फिर पुत्रादि के दिये हुये पिंडों को वे क्योंकर भोगने की इच्छा कर सकते हैं? तथा च / युष्मद्भूधिन पठति —

मृतानामपि जतूना, श्राद्ध चेत्तृप्तिकारणम् ।

तन्निर्माणप्रदीपस्य, स्नेह सर्वर्द्धयेच्छिवाम् ॥

* आप के साधियों ने भी कहा है—यदि श्राद्ध मरे हुए प्राणियों की प्रसन्नता का कारण हो सकता है, तो तैल को भी बुझे हुए दीपक की शिगा-लाट के बढ़ाने का कारण मानना चाहिये। तात्पर्य कि, जिस प्रकार बुझे हुए दीपक को तैल नहीं जला सकता, उन्ही प्रकार श्राद्ध भी परलोक गत पितरों का तृप्ति नहीं कर सकता। तथा माधवाचार्य प्रणीत सर्वदर्शनसमूह में सप्तहोत इत्यश्लोक का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—
“गच्छतामिह जतूनां व्यथ पापेयस्त्वनम्”—मर्णात् मरे हुए प्राणियों की यदि श्राद्ध स तृप्ति हो, तो परदश में जाने वालों की साथ में खाने ल जाने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि घर में श्राद्ध करने से वे

तथा श्राद्ध करने से उत्पन्न होने वाला पुण्य परलोक गत पितरों के पास कैसे चला जाता है ? क्योंकि वो पुण्य तो औरने करा है, तथा पुण्य जो है, सो जडरूप और गति रहिन है। जे कर कहो कि उद्देश तो पितरों का है, परन्तु पुण्य श्राद्ध करने वाले पुत्रादिकों को होता है। यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि पुत्रादि का इस पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् पुत्रादि के मन में यह वासना ही नहीं कि हम पुण्य करते हैं, और इस का फल हम को मिलेगा। तो विना पुण्य की भावना से पुण्य फल होता नहीं है। इस वास्ते श्राद्ध करने का फल न तो पितरों को वरु न पुत्रादिकों को होता है, किंतु त्रिशकु की तरह बीच में ही लटका रहता है। [अर्थात् जैसे वासिष्ठ ऋषि के शिष्यों के शाप से चंडालता को प्राप्त होने के बाद त्रिशकु नाम का राजा, विश्वामित्र के द्वारा फराये जाने वाले यज्ञ के प्रभाव से जिस समय स्वर्ग को जाने लगा, और इन्द्र ने उसे स्वर्ग में आने नहा दिया, तो उस समय वह स्वर्ग और पृथिवी के बीच में ही लटका रह गया। वैसे ही श्राद्ध से उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल न तो पितरों को प्राप्त हो सकेगा। तथा यह श्लोक चार्मक—नास्तिक मन के निरूपण में अनेक प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों में मगृहीत हुआ है, परन्तु इस के मूल का कुछ पता नहीं चला है।

* त्रिशकु की कथा के लिये देखो बामी० रा० का० १ सर्ग ' ५८ ६४।

सकता है, और न ही पुत्रादि को मिल सकता है, किंतु बीच में ही लटकता रहता है, अर्थात् निरर्थक है ।]

तथा पापानुगन्धी जो पुण्य है, वो तत्त्व से पाप रूप ही है । जे कर कहो कि ब्राह्मणों को खिलाया हुआ उन को— पितरों को मिलता है । तो इस कथन में तुम को ही सत्यता प्रतीत होती होगी । वास्तव में तो ब्राह्मणों ही का उदर मोटा दिखलाई देता है । किंतु उन के पेट में प्रवेश करके खाते हुए पितर तो कदापि दिखाई नहीं देते । क्योंकि भोजना घर में ब्राह्मणों के उदर में प्रवेश करते हुए पितरों का कोई भी चिन्ह हम नहीं देखते, केवल ब्राह्मणों ही को सूत होते देखते हैं ।

तथा जो तुमने कहा था, कि हमारे पास आगम प्रमाण है, सो तुमारा आगम पौरुषेय है ? वा अपौरुषेय ? जे कर कहो कि पौरुषेय है, तो क्या सर्वज्ञ का करण हुआ है ? वा असर्वज्ञ का रचना हुआ है ? जे कर आद्य पक्ष मानोगे, तब तो तुमारे ही मत की व्याहृति होगी । क्योंकि तुमारा यह सिद्धांत है —

* अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते ।

नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वाविनिश्चय ॥

* अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात् द्रष्टा — देखने वाला इस ससार में कोई नहीं, इस लिये नित्य वेद वाक्यों से ही उन की यथार्थता का निश्चय होता है ।

दूमरे पक्ष में असर्वज्ञ-दोष युक्त के रचे हुए शास्त्र का विश्वास नहीं हो सकता। जेकर कहो कि अपौरुषेय है, तब तो समय ही नहीं हो सकता है। वचन रूप जो क्रिया है, जो पुरुष के द्वारा ही सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः जहाँ पर पुरुषजन्य व्यापार के बिना भी वचन का श्रवण हो, वहाँ पर अदृश्य वस्तु की कल्पना कर लेनी होगी। इस वास्ते सिद्ध हुआ, कि जो मात्र वचन है, सो पौरुषेय ही है, कुमारसमवादि वचनवत्। वचनात्मक ही वेद है, अतः पौरुषेय है। तथा चाहु—

* तालादिजन्मा ननु वर्णवर्गा,
वर्णात्मको वेद इति स्फुट च।
पुमश्च तालादि ततः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ॥

तथा श्रुति को अपौरुषेय अंगीकार करके भी तुमने उस के व्याख्यान को पौरुषेय ही अंगीकार करा है। अन्यथा—श्रुति के अर्थ का व्याख्यान यदि पौरुषेय न माना जाय तो †“अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गंमम” इस का किसी

* यह निश्चित है, कि वर्णों का समुदाय तालादि से उत्पन्न होता है। और वेद वर्णवर्ग है, यह भी स्फुट है। तथा तालादि स्थान पुरुष के ही होते हैं। इसलिये वेद अपौरुषेय है, यह कैसे कह सकते हैं।

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्निहोत्र यह सब धी आहुति देये,

नियामक के न होने से 'श्रमास भक्षयेत्' यह अर्थ भी क्यों न हो जाये ? इस वास्ते शास्त्र को पौरुषेय मानना ही उचित है । यदि तुमारे हठ से वेद को अपौरुषेय भी मानें तो भी तिस को प्रमाणता नहीं हो सकती । क्योंकि प्रमाणता जो है, सो आत पुर्याधीन है । जब वेद प्रमाण न हुये, तब तिन वेदों का कहा हुआ तथा वेदानुसारी स्मृति भी प्रमाण भूत नहीं । इस वास्ते हिंसात्मक याग और धाखादि विधि प्रमाण्य विधुर ही है ।

प्रतिवादी — जो तुमने कहा है कि *“न हिंस्यात् सर्वा भूतानीत्यादि” इस श्रुति करके जो हिंसा का निषेध है, सो औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य विधि है । अरु वेदविहित जो हिंसा है, सो अपवाद विधि है अर्थात् विशेष विधि है । तब अपवाद करके उत्सर्ग बाधित होने से वैदिकी हिंसा दोष का कारण

इयं श्रुतिवाक्य वा—अग्निहा आ तस्य उग्र मास—अग्निहोत्र, एसा विप्रह करने कुत्ते के मांस की आहुति देने ऐसा अर्थ किया जा सकता है । क्योंकि श्रुति के अर्थ का व्याख्याता, यदि किसी पुरुष को न माना जाय, तो उस में किसी प्रकार का नियम न रहन से अपनी इच्छा के अनुसार जैसे चाहो, वैसा अर्थ करने में कोई प्रतिबाधक नहीं हो सकता । इस से सिद्ध हुआ कि श्रुति के अर्थ की तरह श्रुति—वेद को भी पौरुषेय—पुरुष प्रणीत मानना ही युक्तिमगत है ।

* किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो ।

नहीं * "उत्सर्गापवादयोरपवादविधिर्गलीयानिति न्यायात् ।"
 और तुमारे जैनों के मत में भी हिंसा का एकांत—सर्वथा
 निषेध नहीं है, कितनेक कारणों के उपस्थित होने से
 पृथिव्यादिक जीवों की हिंसा करने की आज्ञा है । तथा
 जब कोई साधु रोग से पीड़ित होता है, "असमन्ते"
 अर्थात् असमर्थ होता है, तब ॥ बाधाकामादि आहार के
 ग्रहण करने की भी आज्ञा है । ऐसे ही हमारे मत में
 याज्ञिकी हिंसा जो है, सो देवता और जतिथि की प्राति
 के वास्ते पुष्टालयनरूप होने से अपवाद रूप है । इस वास्ते
 उस के करने में दोष नहीं ।

सिद्धांती —अन्यकार्य के वास्ते उत्सर्ग चाक्य, अथ अन्य
 कार्य के वास्ते अपवाद कहना, यह उत्सर्ग अपवाद कदापि
 नहीं हो सकता । कि तु जिस अर्थ के वास्ते शास्त्र में
 उत्सर्ग कहा है । उसी अर्थ के वास्ते अपवाद होवे, तब
 ही उत्सर्ग अपवाद हो सकता है । तथा ये दोनों उन्नत
 निम्नादि व्यवहारवत् परस्पर सापेक्ष होने से एकार्य के

* उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में अपवाद विधि बलवान्
 होती है, इस न्याय से—सर्व सम्मत विचार से ।

॥ साधु के निमित्त जो खान पानादि वस्तु तैयार की जावे, उस
 को आधाकर्मिण कहते हैं । उत्सर्गमार्ग में साधु को इस प्रकार के आहार
 को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं, परन्तु अपवाद मार्ग में रोगादि की
 अवस्था में उस के ग्रहण करने की साधु को आज्ञा है ।

साधक होसकते हैं। जैसे जैनों के यहा सयम पालने के वास्ते नवकोटि विशुद्ध आहार का ग्रहण करना उत्सर्ग है। तसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आपोत्त के समय में गत्यतर के अभाव से पचकादि यतना से अनेपणीयादि आहार का ग्रहण करना अपवाद है, सो भी सयम ही के पालने के वास्ते है। तथा ऐसे भी मत कहना कि जिस साधु को मरण ही एक शरण है, तिस को गत्यतर अभाव की अस्तिदि है। क्योंकि आगम में कहा है कि—

+ सव्यथ सजम सजमाओ अप्पाणेमेव रक्खिज्जा ।

मुच्चइ अडवायाओ, पुणो निसोही न याविरई ॥

[ओ० नि० गा० ४६]

भावार्थ —सत्र सयम का सरक्षण करना। परन्तु जेकर सयम के पालने में प्राण जाते होयें, तो सयम में दूपण लगा कर भी अपने प्राणों की रक्षा करनी। क्योंकि प्राणों के रहने से प्रायश्चित्त के द्वारा उस पाप से छूट कर शुद्ध भी हो जायेगा, अरु अविरति भी नहीं रहेगी। तथा आयुर्वेद में भी जो वस्तु किसी रोग में किसी अवस्था में अपथ्य है, सोई वस्तु उसी रोग में किसी अन्य अवस्था में पथ्य है। तथा जैसे घलवान् पुष्ट्य की जरूर में लघन पथ्य है, परन्तु क्षीण-

+ छाया—सत्र सयम सयमादात्मानमेव रक्षेत् ।

मुच्यतेऽतिपातात् पुनर्विशुद्धिं नचाविरति ॥

धातु को ज्वर में बही लघन कुपथ्य हो जाता है । इसी प्रकार किसी देश में, ज्वर के रोगी को दधि खिलाना पथ्य समझा जाता है, तथा किसी दूसरे देश में बही कुपथ्य माना गया है ।

† तथाच वैद्या —

कालाविरोपि निर्दिष्ट, ज्वरादौ लघनं हितम् ।

ऋतेऽनिलश्रमक्रोध—शोककामकृतज्वरात् ॥

जैसे प्रथम तो अपथ्य का परिहार करना, अरु तदा ही अजस्थातर में तिस का भोगना, सो दोनों ही जने रोग के दूर करने का प्रयोजन है । इस में सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही एक यस्तु विषयक है ।

परन्तु तुमारे तो उत्सर्ग और अर्थ के वास्ते है, तथा

† वैद्यों का कथन हे नि—

वायु, श्रम, क्रोध, शोक आर काम से उत्पन्न हुए ज्वर को छोड़ कर अन्य ज्वरों में काल—वसन्त, ग्रीष्मादि ऋतु के अनुसार लघन करना हितकर है । इन श्लोक से अर्थ में तो सर्वथा समानता रखता हुआ चरक संहिता चिकित्सा स्थान में यह निम्न लिखित श्लोक है । और उद्धृत श्लोक इसी की प्रतिच्छाया रूप प्रतीत होता है ।

ज्वरे लघनमेवादायुपदिष्टमते ज्वरान् ।

क्षयानिलश्रमक्रोधकामशोकधमोद्भवात् ॥

अपवाद और अर्थ के घास्ते हैं। क्योंकि तुमारे तो “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” यह जो उत्सग है, सो तो दुर्गति के निषेध के घास्ते हैं। अर जो अपवाद हिंसा है, सो द्रवता, अतिथि और पितरों की प्रीति सपादन के निमित्त है। इस घास्ते परस्पर निरपेक्ष होने से यह उत्सग अपवाद विधि नहीं हो सकती है। तब तुमारा यह हिंसा विधायक अपवाद, अहिंसा का प्रतिपादन करने वाली उत्सग विधि को किसी प्रकार भी बाध नहीं सकता।

यदि कहो कि वैदिक हिंसा की जो विधि है, सो भी स्वर्ग का हेतु होने से दुर्गति के निषेधार्थ ही है। सो यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि वैदिक हिंसा स्वर्ग का हेतु नहीं है। यह हम ऊपर अच्छी तरह से लिख आये हैं। तथा वैदिक हिंसा के बिना भी स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। और अपवाद मत्पर क अभाव में ही हो सकता है अन्यथा नहीं। यह बात हम ही नहीं कहते, किन्तु तुमारे व्यास जी भी कहते हैं।
तथाहि —

पूजया विपुल राज्यमग्निकार्येण सपदः ।

तप पापविशुद्धयर्थं, ज्ञान ध्यान च मुक्तिदम् ॥

यहा पर अग्निकार्य शब्द घाच्य यागादिविधि को उपाया तर साध्य सपदा मात्र का हेतु कहने से आचार्य ने उसे सुगति का हेतु नहीं माना। तथा “ज्ञानपाली” आदि श्लोकों

से उसी व्यास ऋषि ने भाग अग्निहोत्र—भाव यज्ञ का पहले ही प्रतिपादन कर दिया है ।

अथ चार्वाक मत का खण्डन लिखते हैं — चार्वाक कहता है, कि जब शरीर से भिन्न आत्मा ही नहीं है, चार्वाक मत व नव ये मतावलम्बी पुरुष, किस वास्ते शोर आत्मविद्धि करते हैं ? घाम्नाय में जैन, बौद्ध, साख्य, नैयायिक, वैशेषिक, जैमिनीय जो पद्द दर्शन हैं, सो केवल लोगों को भ्रम में डाल कर उन से भोग विलास वृथा ही छुड़ा देते हैं । वास्तव में तो आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । इस वास्ते हमारा मत ही सब से अच्छा है । जेकर आत्मा है, तो कैसे तिस की विद्धि है ?

सिद्धान्ती — प्रति प्राणी स्वसवेदन प्रमाण चैतन्य की धन्ययानुपपत्ति से सिद्धि है । तथाहि यह जो चैतन्य है, सो भूतों का धर्म नहीं है । जेकर भूतों का धर्म होये, तब तो पृथ्वी की कठिनता की तरे इस का सर्वत्र सर्वदा उपलभ होना चाहिये परन्तु सर्वत्र सर्वदा उपलभ होता नहीं । क्योंकि लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती ।

प्रतिवादी — लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में भी चैतन्य है । परन्तु केवल शक्ति रूप करके है, इस वास्ते उपलब्ध नहीं होता ।

सिद्धान्ती — यह तुमारा कहना अयुक्त है । वो शक्ति, क्या

चैतन्य से विलक्षण है ? अथवा चैतन्य ही है ? जे कर कहो कि विलक्षण है, तब तो शक्तिरूप करके चैतन्य है, ऐसा मत कहो, क्योंकि पट के विद्यमान होने पर पटरूप करके घट नहीं रहता । आह च प्रहाकरगुप्तोऽपि —

रूपातरेण यदि त-त्तदेवास्तीति मारटी' ।

चैतन्यादन्यरूपस्य, भावे तद्विद्यते कथम् ॥

जे कर दूसरा पक्ष मानोगे, तब तो चैतन्य ही वो शक्ति है, तो फिर क्यों नहीं उरु व होनी ? जे कर कहो कि आवृत्त होने से उपलब्ध नहीं होनी तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आवृत्ति नाम आवरण का है । सो आवरण क्या विवाहित-विशिष्ट कायाकार परिणाम का अभावरूप है ? अथवा परिणामातर है ? अथवा भूतों से अतिरिक्त और धस्तु है ? उसमें विरक्षित परिणाम का अभाव तो नहीं है । क्योंकि एतन्न तुच्छ रूप होने से विरक्षित परिणाम के अभाव में आवरण करने की शक्ति नहीं है । अथवा अतुच्छ रूप होने से वो भी भावरूप हो जायेगा । अथवा भावरूप हुआ, तब तो पृथिवी आदि में से अन्यतम हुआ । क्योंकि "पृथिव्यादीन्येव भूतानि तरुणम्" इति वचनात् । तथा पृथिवी आदिक जो भूत है, सो चैतन्य के व्यञ्जरु हैं, आवरक नहीं । तब उनको आवरकत्व कैसे सिद्ध होवे ? अथ जेकर कहो कि परिणामातर है, सो भी अयुक्त है । क्योंकि

रेणाभातर भूत स्वभाव होने से भूतों की तरे चैतन्य का ज़रूर ही हो सकता है, आवश्यक नहीं। जेकर कहो कि तों से अतिरिक्त वस्तु है, तो यह कहना बहुत ही असंगत। क्योंकि भूतों से अतिरिक्त वस्तु मानने से "चत्वार्येय ध्यादिभूतानि तरयमिति" इस कहने में तत्त्व सख्या का प्राधान हो जायेगा।

एक और भी बात है, कि यह जो चैतन्य है, सो एक एक भूत का धर्म है? वा सर्व भूत समुदाय का धर्म है? एक एक भूत का धर्म तो है नहीं। क्योंकि एक एक भूत की दीयता नहीं, और एक एक परमाणु में सचेदन की उपलब्धि नहीं होती। जेकर प्रति परमाणु में होये, तब तो मुख्य सहस्र चैतन्य वृद्ध की तरे परस्पर भिन्न स्वभाव होयेगा, परन्तु एक रूप चैतन्य नहीं होयेगा। अरु देखने में एक रूप आता है। "अहं पश्यामि" अर्थात् मैं देखता हूँ, मैं करता हूँ, ऐसे सफल शरीर का अधिष्ठाता एक उपलब्ध होता है।

जेकर समुदाय का धर्म मानोगे, सो भी प्रत्येक में अभाव होने से असत् है। क्योंकि जो प्रत्येक अवस्था में असत् है, वो समुदाय में भी असत् ही होगा, 'सत्' नहीं हो सकता है, जैसे घालु कणों में तेल की सत्ता नहीं है। जेकर कहो कि प्रत्येक मयाग में तो मद शक्ति नहीं है, परन्तु समुदाय में हो जाती है। ऐसे चैतन्य भी हो जाये, तो क्या

दोष है ? यह भी अयुक्त है, क्योंकि मद्क प्रत्येक अंग में मद्क शक्यनुयायी माधुयादि गुण दीप्तते हैं । इन्द्रस में माधुय और धातकी फुलों में थोड़ी सी विकलता उत्पादक शक्ति जैसे दीप्तती है, ऐसे सामान्य प्रकार से भूतों में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती । तब फिर भूत समुदाय कैसे चैतन्य हो सकता है ? जेकर प्रत्येक अवस्था में रहा हुआ असत् समुदाय में सत् हो जाये, तब तो सर्व समुदाय से सर्व कुछ हो जाना चाहिये ।

एक और भी बात है, कि जेकर तुमने चैतन्य को धम माना है, तब तो धर्मी भी अद्यक्ष धम के अनुरूप ही मानना चाहिये । जेकर अनुरूप न मानोगे, तब तो जल अरु कठिनता इन दोनों को भी धम धर्मी मानना चाहिये । तथा ऐसे भी मत पहना कि भूत ही धर्मी है, क्योंकि भूत चैतन्य से विलक्षण है । तथाहि, चैतन्य बोध स्वरूप, अरु अमूर्त्त है, परंतु भूत इस से विलक्षण है । तब इनका कैसे परस्पर धम धर्मी भाव हो सकता है ? तथा यह चैतन्य भूतों का कार्य भी नहीं है, क्योंकि अत्यन्त विलक्षण होने से इनका कार्य कारण भाव कदापि नहीं होता है । उक्तच —

काठिन्याशोररूपाणि, भूतान्यभ्यक्षमिद्धित' ।

चेतना च न तद्रूपा, सा कथं तत्फल भवेत् ॥

[शा० स०, स्तु० १ श्लो० ४३]

। एक और भी बात है कि, जे कर भूतों का कार्य चेतना होवे, तब तो सकल जगत् प्राणिमय ही हो जावे । जेकर कहो कि परिणति विशेष का सद्भाव न होने से सकल जगत् प्राणिमय नहीं होता है । तो वो परिणति विशेष का सद्भाव सर्वत्र किस वास्ते नहीं होता है ? क्योंकि वह परिणति भी भूतमात्र निमित्तक ही है । तब कैसे उस का किसी जगे होना और किसी जगे न होना सिद्ध होवे ? तथा वो परिणति विशेष किस स्वरूप वाली है ? जे कर कहो कि कठिनत्वादि रूप है, क्योंकि काष्ठादि में घुणादि जतु उत्पन्न होते हुये दीपते । है तिस वास्ते जहा कठिनत्वादि विशेष है, सो प्राणिमय है, शेष नहीं । परन्तु यह भी व्यभिचार देखने से असत् है । अवाशिष्ट भी कठिनत्वादि विशेष के होने पर कहीं होता है, और कहीं नहीं होता, अरू किसी जगे कठिनत्वादि विशेष बिना भी सस्वेदज घने आकाश में समूर्च्छिम उत्पन्न होने हैं ।

एक और भी बात है कि कितनेक समान योनिके जीव भी विचित्र वर्ण सस्थान वाले दीपते हैं । गोबर आदि एक योनि वाले भी कितनेक नीले शरीर वाले हैं, अपर पीत शरीर वाले हैं, अन्य विचित्र वर्ण वाले हैं, अरु सस्थान भी इन का परस्पर भिन्न है । जे कर भूत मात्र निमित्त चैतन्य होवे, तब तो एक योनिक सब एक वर्ण सस्थान वाले होने चाहिये, परन्तु सो तो होते हैं नहीं । तिस वास्ते आत्मा ही तिस तिस

कम के बरा तैसे उत्पन्न होती है, यही सिद्ध मानना चाहिये।

जैकर कहो कि आत्मा होये तो फिर जाता आता क्यों नहीं उपलब्ध होता? केवल देह के होने पर ही सवेदन उपलब्ध होता है, अरु देह के अभाव होने पर भस्म अवस्था में नहीं दीयता है। तिस वास्ते आत्मा नहीं, किंतु सवेदन मात्र ही एक है। सो सवेदन देह का कार्य है, और भीत के चित्र की भांति देह ही में नाथित है। चित्र भीत के विना नहीं रह सकता है, अरु दूसरी भीत पर उस का सममण भी नहीं होता है। किंतु भीत पर उत्पन्न हुआ है, अरु भीत के साथ ही विनाश हो जाता है। सवेदन भी ऐसे ही जान लेना। यह कहना भी असत् है। क्योंकि आत्मा स्वरूप करके अमूर्त्त है, अरु आतर शरीर भी अति सूक्ष्म है, इस वास्ते पृथिगोचर नहीं होता। तदुक्तम् —

अतराभावदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।

निष्क्रामन् प्रविशन् वात्मा, नाभावोऽनीक्षणोऽपि ॥

तिस वास्ते सूक्ष्म शरीर युक्त होने से आत्मा आता जाता हुआ भी नहीं दीयता। परन्तु लिंग से उपलब्ध होता है। तथाहि—सत्काल उत्पन्न हुआ भी कृमि जीव अपने शरीर विषे ममत्व रगता है, घातक को जान कर दौड़ जाता है। जिस का जिम विषे ममत्व है, सो पूरे ममत्व-के अभ्यास से जन्य है, तैमे ही देखने, से। अरु जितना चिर किसी वस्तुके

गुण दीप नहीं जानता, उतना चिर उस वस्तु में किसी को भी आग्रह नहीं होता है । तब तो जन्म की आदि में जो शरीर का आग्रह है, सो शरीर परिशीलन के अभ्यास पूर्वक सस्कार का कारण है । इस मास्ते आत्मा का जन्मातर से आना सिद्ध हुआ । उक्त च —

शरीराग्रहरूपस्य, चेतसः सभनो यदा ।

जन्मादौ देहिना दृष्टं किञ्च जन्मातरागति ॥

[न० सू० टीका—जीव० सि०]

जब आगति (आगमन) नहीं दी जाती है, तब कैसे चित्र का अनुमान से बोध होवे ? यह तुमारा कहना कुछ दूषण नहीं । क्योंकि अनुमेय अर्थ विषे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । परस्पर विषय का परिहार करके ही प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति बुद्धिमान् मानते हैं । तब यह तुमारा दूषण कैसे है ? आह च—

अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्ष-मिति कैत्रा दुष्टता ।

अध्यक्षस्यानुमानस्य, विषयो विषयो नहि ॥

[न० सू० टीका—जीव० सि०]

अब जो चित्र का दृष्टात तुमने कहा था, सो भी विषम होने से अयुक्त है । क्योंकि चित्र जो है सो अचेतन है, अरु गमन स्वभाव रहित है । परन्तु आत्मा जो है, सो चेतन है

करके अभ्यासपूरण देगे जाते हैं। तथाहि—गोही शास्त्र जेकर ऊहापोहादि करे वार वार पिचारिये, तब सूक्ष्म सूक्ष्मतर अध्यासबोध का उद्घास होता है, अरु स्मृति पाठ्य की अपूर्व वृद्धि होती है। ऐसे एक शास्त्रविषे अभ्यास से सूक्ष्मार्थ भेदत्व शक्ति के होने से, अरु स्मृतिपाठ्य के होने से अन्य शास्त्रों में भी सहज से ही सूक्ष्मार्थाबोध, अरु स्मृतिपाठ्य का उद्घास हो जाता है। ऐसे अभ्यास हतुक सूक्ष्मार्थ भेद त्वादिष मनोज्ञान के विशेष फाय देखे जाते हैं, अरु किसी को अभ्यास के बिना भी देखते हैं। तिस वास्ते उसमें अवश्य परलोक का अभ्यास हेतु है। क्योंकि कारण के साथ कार्य का अन्यय व्यतिरेकपना है। इस प्रतिबन्ध से अदृष्ट और उस के कारण की भी सिद्धि हो जाती है। इस वास्ते जीव का परलोक में जाना प्रमाण सिद्ध है।

तथा देह क्षयोपरम का हेतु है, इम वास्ते देह भी हम क्वचित् ज्ञान का उपकारी मानते हैं। देह के दूर होने से सप्रथा ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। जैसे अग्नि से घट की कुछ विशेषता है परन्तु अग्नि की निवृत्ति होने पर घट का मूल से उच्छेद नहीं हो जाता है, केवल कुछ विशेष दूर ही जाता है, जैसे सुयण की द्रवता। ऐसे इहा भी देह की निवृत्ति होने से कोई एक गान विशेष तत्प्रतिबन्ध ही निवृत्त होता है, परन्तु समूल गान का उच्छेद नहीं होता है। जेकर देह ही ज्ञान का निमित्त मानोगे, अरु देह की निवृत्ति से ज्ञान की

निवृत्ति वाला मानोगे। तब तो स्मशान में देह के भस्म होने पर धन न होये, परन्तु देह के विद्यमान होते हुए मृत अवस्था में जिस वास्ते धान नहीं होता ?

जेकर कहो कि प्राण, अपान भी धान के हेतु हैं, तिन के अभाव से धान नहीं होता है। यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्राणापान धान के हेतु नहीं हो सकते हैं, किन्तु धान ही में तिन की प्रवृत्ति होती है। तथाहि, जब प्राणापान का करने वाला मद इच्छा करता है, तब मद होता है। अथ जय दीर्घ की इच्छा करता है, तब दीर्घ होता है। जेकर देह मात्र नैमित्तिक प्राणापान होये, अथ प्राणापान नैमित्तिक विज्ञान होये, तब तो इच्छा के वश से प्राणापान की प्रवृत्ति न होवेगी। क्योंकि जिनका निमित्त देह है, ऐसी जो गौरना और श्यामता, वो इच्छा के वश से प्रवृत्त नहीं होती हैं। जेकर प्राणापान धान का निमित्त होये, तब तो प्राणापान के थोड़े या बहुते के होने से धान भी थोड़ा या बहुत होना चाहिये। क्योंकि जिस का कारण हीन अथवा अधिक होवेगा, उस का फाय भी हीन अथवा अधिक जरूर होवेगा। जैसे माटी का पिंड जब बड़ा किंवा छोटा होवेगा, तब घट भी बड़ा अथ छोटा होवेगा, अन्यथा वो कारण भी नहीं। तुमारे भी तो प्राणापान के न्यून अधिक होने से धान न्यून अधिक नहीं होता है, किन्तु विपर्यय होता तो दीयता है। क्योंकि मरणावस्था में प्राणापान अधिक भी होते हैं, तो भी विज्ञान घट जाता है।

जेकर कहो कि मरणावस्था में घात पित्तादि दोषों से देह के विगुणी हो जाने से प्राणापान के बढ़ने पर भी चैतन्य की वृद्धि नहीं होती है, अत एव मृतावस्था में भी देह के विगुणी होने से चेतनता नहीं रहती। यह भी अममीचीन है। जेकर ऐसेमे होवे, तब तो मरा हुआ भी जिंदा होना चाहिये। तथाहि—“मृतस्य दोषा समीभवति” अर्थात् मरण पछि घात पित्तादि दोष सम होजाते हैं। और ज्वरादि विकार के न देखने से दोषों का सम होना प्रतीत ही होता है। अरु जो दोषों का समपना है सोई आरोग्य है, “तेषां समत्वमारोग्यं, क्षयवृद्धी विपर्यये” इति वचनात्। तब तो आरोग्य लाभ से देह को फिर जिंदा होना चाहिये, अन्यथा देह कारण ही नहीं। चित्त के साथ देह का अन्यय व्यतिरेक नहीं। जेकर मरा हुआ जी उठे, तो हम देह को कारण भी मान लें।

प्रतिवादी—यह फिर जी उठने का प्रसंग तुमारा अयुक्त है। क्योंकि यद्यपि दोष देह का वैगुण्य करके निवृत्त हो गये हैं, तो भी तिन का किया हुआ वैगुण्य निवृत्त नहीं होता है। जैसे अग्नि का करा हुआ फाष्ट में विकार अग्नि के निवृत्त होने से भी निवृत्त नहीं होना है।

सिद्धान्ती—यह तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि विकार भी दो प्रकार का है। एक *अनिवर्त्य होता है और दूसरा

* जो नर न किया जा सके, वह ‘अनिवर्त्य’ और जो दृग्या जा सके, वह ‘निवर्त्य’ है।

निवर्त्य होता है। अनिवर्त्य विकार जैसे काष्ठ में जग्नि की करी हुई श्यामता मात्र, अरु निवर्त्य विकार जैसे अग्निरुत सुवर्ण में द्रवता। वायु आदिक जो दोष हैं, सो निवर्त्य विकार के जनक हैं, क्योंकि उन की चिकित्सा देयी जाती है। जेकर वायु आदिदोष से भी अनिवर्त्य विकार होयें, तब तो चिकित्सा प्रिकल होजायेगी। ऐसे भी मत कहना कि मरने से पहिले दोष निवर्त्य विकार के आरम्भक हैं, अरु मरण कात में अनिवर्त्य विकार के आरम्भक हैं। क्योंकि एक ही एक जगे दो विरोधी विकारों का जनक नहीं हो सकता।

प्रतिवादी—व्याधि दो प्रकार की लोकमें प्रसिद्ध है, एक साध्य, दूसरी असाध्य। उसमें साध्य जो है, सो चिकित्सा से दूर हो सकती है, अरु दूसरी असाध्य जो दूर नहीं होती है। और व्याधि दोषों की विषमता से होती है। तो फिर दोष उक्त दो प्रकार के विकारों के आरम्भक—जनक क्यों नहीं ?

सिद्धान्ती—यह भी असत् है, क्योंकि तुमारे मत में असाध्य व्याधि ही नहीं हो सकती है, तथाहि—व्याधि का जो असाध्यपना है, सो आयु के क्षय होने से होता है। क्योंकि तिसी व्याधि में समान औषध वैद्य के योग से भी कोई मर जाता है, कोई नहीं मरता है। अरु जो प्रतिकूल कर्मों के उदय करके दिनप्रादि व्याधि है, वो हजार औषध से भी साधी नहीं जाती है। यह दोनों प्रकार की व्याधि परमेश्वर के वचनों के जानने वालों के मत में ही

सिद्ध होती है, परन्तु तुमारे भूतमात्र तत्र। घादियों के मत में नहीं हो सकती है। कोई एक असाध्य व्याधि इस वास्ते हो जाती है, कि दोषहत विकार के दूर करने में समर्थ औषधि अथ योग्य वैद्य नहीं मिलता। तब औषधि अथ वैद्य के अभाव से व्याधि वृद्धिमान् होकर सकल आयु को उपक्रम करती है, अर्थात् क्षय कर देती है। तथा कोई एक दोषों के उपशम होने से अकस्मात् मर जाता है। अथ कोई एक अति दुष्ट दोषों के होने से भी नहीं मरना है। यह बात तुमारे मत में नहीं हो सकती है। आह च —

दोषस्योपशमेऽप्यस्ति, मरण कस्यचित्पुनः ।

जीवन दोषदुष्टत्वेऽप्येतन्न स्याद्भवन्मते ॥

[न० सू० टीका—जी० सि०]

हमारे मत में तो जहा लगी आयु है, तहा लगी दोषों के करके पीडित भी जीता रहता है, अथ जब आयु क्षय हो जाता है, तब दोषों के विकार बिना भी मर जाता है। इस वास्ते देह ज्ञान का निमित्त नहीं है।

एक और भी बात है, कि देह जो तुम ज्ञान का कारण मानते हो, सो सहकारी कारण मानते हो ? वा उपादान कारण मानते हो ? जेकर सहकारी कारण मानते हो, तब तो हम भी देह को क्षयोपशम का हेतु होने से कथचित् विज्ञान का हेतु मानते हैं। जेकर उपादान कारण मानो, तब

तो ज्युक है। उपादान घो होता है, कि जिस के विकारी होने से कार्य भी विकारी होवे, जैसे मृत्तिका घट का कारण है। परन्तु देह के विकार से सवेदन विकारी नहीं होता, अरु देह विकार के विना भी भय शोकादिकों करके सवेदन को विकारी देखते हैं। इस वास्ते देह सवेदन का उपादान कारण नहीं। उक्त च —

अविकृत्य हि यद्वस्तु, यः पदार्थो विकार्यते ।

उपादान न तत्तस्य, युक्त गोग्रयादिवत् ॥

[न० सू० टीका—जीव० सि०]

इस कहने से जो यह कहते हैं, कि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान कारण है, सो भी स्पण्डित हो गया। तदा माता पिता के विकारी होने से पुत्र विकारी नहीं होता है। अरु जो जिसका उपादन होता है, सो अपने कार्य से अभिन्न होता है, जैसे माटी और घट। यदि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान होवे, तो माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य के साथ अभेद रूप होगा। तत्र तो पुत्र का चैतन्य भी माता पिता के चैतन्य से अभिन्न होना चाहिये। इसी वास्ते तुमारा कहना किसी काम का नहीं है। इस हेतु से भूतों का वर्म वा भूतों का कार्य चैतन्य नहीं है। इस वास्ते आत्मा सिद्ध है। विशेष करके चार्वाक मत का स्पण्डन देखना होवे, तो सम्प्रतिनर्क, स्याद्वाद्-

रत्नाकरादि शास्त्र देग लेने । इस परिच्छेद में जो षुगुरु के लक्षण कहे हैं, वे लक्षण चाहे जैन के साधु में हों, चाहे अन्य मत के साधु में हों, उन सब को षुगुरु कहना चाहिये ।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि
 आनदविजय—आत्मारामाविरचिते जैनतत्त्वादशे
 चतुर्थे परिच्छेदे सपूर्ण



पचम परिच्छेद ।

अत्र पचम परिच्छेद में धर्मतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं—
 धर्म उस को कहते हैं, जो दुर्गति में जाते हुए आत्मा
 को धार रखवे, एतावता दुर्गति में न जाने
 धर्म तत्त्व का देवे । तिस धर्म के तीन भेद हैं—१ सम्यक्
 स्वरूप ज्ञान, २ सम्यक् दर्शन, ३ सम्यक् चारित्र्य ।
 इन तीनों में से प्रथम ज्ञान का स्वरूप
 सत्त्व से लिखते हैं —

यथावस्थिततत्त्वानां, सक्षेपाद्विस्तरेण वा ।

योऽप्रबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञान मनीषिणः ॥

[या शा०, प्र० १ श्लो० १६]

अर्थ—यथावस्थित—नय प्रमाणों फरके प्रतिष्ठित है स्वरूप
 जिन का, ऐसे जो जीव, अजीव, आश्रय, सत्त्व, निर्जरा, बध,
 मोक्ष रूप भक्त तत्त्व, तथा प्रकारांतर में पुण्य पाप के अधिक
 होने से नय तत्त्व होते हैं; इन का जो अबोध अर्थात्
 ज्ञान, सो सम्यक् ज्ञान जानना । वह ज्ञान त्रयोपशम के विरोध
 से किसी जीव को सत्त्व से अरु किसी जीव को विस्तार
 से होता है । इन नय तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व जो जीव है,
 तिस को आत्मा भी कहते हैं । अर्थात् जीव कहो अथवा
 आत्मा कहो, दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं ।

प्रश्न — जैन मत में आत्मा का क्या लक्षण है ?

उत्तर — चैतन्य लक्षण है ।

प्रश्न — जैन मत में जीव प्राणी आत्मा किस को कहते हैं ?

य' कर्त्ता कर्मभेदाना, भोक्ता कर्मफलस्य च ।

मसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षण ॥

[शा० स०, स्त० १ श्लो० १०]

उत्तर — इस श्लोक में जान लेना । इस का भावार्थ कहते

हैं—जो मिथ्यात्वादि करके कद्रुपित अर्थात्

जाव तत्त्व का मैला हो कर वेदनीयादिक कर्मों का कर्त्ता

स्वरूप करने वाला, अरु तिन अपने करे हुये कर्मों

का जो फल—सुख दुःखादिक, तिन को भोगने

वाला, तथा कम विपाक के उद्वय में नारकादि भवों में भ्रमण

करने वाला, अरु सम्यक् दशनादि तीन रत्नों के उत्कृष्ट अभ्यास

में संपूर्ण कर्मों को दूर करके निर्माण रूप होने वाला ही

आत्मा है, योही प्राण धारण करने से प्राणी और जीव है । * यह

* यो मिथ्यात्वादिक्लृपिततया वेदनीयादिकमणामभिनिर्वर्त्तवस्त

त्फलस्य च सुखदुःखादरूपभोक्ता नारकादिभरेषु च यथाकमविपाकोदय

ससर्त्ता सम्यग्दशनादिरत्नत्रयाभ्यासप्रकपवचाशेषकमाज्ञापगत परिनि

वाता स प्राणान् धारयति स एव चा-मेत्यभिधीयते ।

नोट — विशद के लिए देखो श्री मन्वयगिरिसूरी कृत वृत्ति में से जीवसत्तामिद्धि का प्रकरण ।

नदी सूत्र में लिखा है। आत्माकी सिद्धि चार्वाक मतके घण्डन में लिख थाये हैं। जे कर आत्मा की सिद्धि विगेव करके देवनी होये, तो गधहस्ती महामाप्य देव लेना। तथा यह आत्मा सर्व व्यापी भी नहीं, और एकात नित्य, तथा कूटस्थ भी नहीं है। पर एकात अनित्य-क्षणिक भी नहीं है। किंतु शरीर मात्र व्यापी कथंचित् नित्यानित्य रूप है। इन का अधिक घण्डन मण्डन देवना हो, तो स्याद्वादरत्ना कर, स्याद्वादरत्नाकराप्रतारिना और अनेकातजयपताका आदि शार्यों से दय लेना। मैंने इस घास्ते नहीं लिखा है, कि ग्रन्थ बड़ा मारी हो जायेगा, अरु पढ़ने वाले आलस करेंगे।

तहाँ जीव जो हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक मुक्त रूप, दूसरे ससारी, यह दोनों ही प्रकार के जीव स्वरूप से अनादि अनत हैं, अरु ज्ञान दर्शन इन का लक्षण है। तथा जो मुक्त स्वरूप आत्मा है, वो सर्व एक स्वभाव है। अर्थात् जन्मादि क्लेशों करके धजित, अनत दर्शन, अनतवीर्य, और अनत ध्यानदमय स्वरूप में स्थित, निर्णिकार निरजन और ज्योति स्वरूप है।

अरु जो ससारी जीव हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक स्थावर, दूसरे प्रस। उस में स्थावर के पाच भेद हैं—१ पृथिवीकाय, २ अप्काय, ३ तेज काय, ४ वायुकाय, ५ पन स्पतिकाय। तथा प्रस जीव के चार भेद हैं—१ दो इन्द्रिय, २ तीन इन्द्रिय, ३ चार इन्द्रिय, ४ पाच इन्द्रिय। तथा

स्थावर जो है, सो सर्व एक ही—स्पर्शद्रिय वाले हैं । वृषि, गडोभा, जोक, सुडी, इत्यादि जीव एक स्पर्शन अर्थात् शरीर इन्द्रिय, दूसरी रसनेंद्रिय अर्थात् मुख, इन दो इन्द्रिय वाले हैं । कीड़ी, जू, सुसरी, ढोर, इत्यादि जीव दो पूर्वोक्त अरु एक नासिका, यह तीन इन्द्रिय वाले हैं । माखी, भ्रमर, सहत की माखी, भिड, धमोडी, बिन्डू, इत्यादि जीव तीन पूर्वोक्त अरु चौथा नेत्र, इन चार इन्द्रिय वाले हैं । नारक, तियच, मनुष्य, अरु देवता, ये पंचद्रिय जीव हैं । अर्थात् ये सब स्पर्शन, रसना घ्राण, नेत्र और कान, इन पांच इन्द्रिय वाले हैं । स्थावर जीव भी दो तरे के हैं, एक सूक्ष्म नाम कम के उदय वाले सूक्ष्म दूसरे घादर नाम कर्म के उदय वाले घादर । यह स्थावर अरु तस जीव समुच्चय रूप से छे पर्याप्ति वाले हैं । इन छे पर्याप्तियों के नाम यह हैं — १ आहार पर्याप्ति, २ शरीर पर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति, ६ मन पर्याप्ति ।

अथ पर्याप्ति का स्वरूप लिखते हैं । आहार—भोजन, तिस के ग्रहण करने की जो शक्ति, तिस का नाम आहार पर्याप्ति कहते हैं । शरीर रचने की जो शक्ति, तिस का नाम शरीर पर्याप्ति है । इन्द्रिय रचने की शक्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति है । ऐसे ही सत्र जान लेना । जिस जीव की पूर्वोक्त छे पर्याप्तियाँ अधूरी हैं, उस को अपर्याप्ति कहते हैं । स्थावर जीवों में आदि की चार पर्याप्ति हैं । अरु दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौरिन्द्रिय,

इन जीवों में एक मन के बिना पाच पर्याप्ति है । पंचेन्द्रिय जीवों में छे ही पर्याप्ति हैं । पृथिवीकाय, जलमाय, तेज-काय, वायुकाय, इन चारों में असख्य जीव हैं । तथा वनस्पतिमाय में जो प्रत्येक वनस्पति है, उस में तो असख्य जीव हैं, परन्तु साधारण वनस्पति में अनन्त जीव हैं । इन स्यावर अथ उन्नम जीवों के जघन्य तो चौदह भेद हैं, मध्यम ५६३ भेद हैं, अथ उच्छृष्ट-अनन्त भेद हैं । तिन में मध्यम चौदह भेद नरक वासियों के हैं । अटनालीस भेद तिर्यच गति वालों के हैं, और तीन सौ तीन भेद मनुष्य गति वालों के हैं, १९८ भेद देवगति वालों के हैं, यह सब मध्यम भेद ५६३ हैं । इन का पूरा विचार देयता होये, तो प्रज्ञापना सिद्धांत तथा जीव समास प्रकरणादि शास्त्रों से देख लेना ।

प्रश्न — हे जैन ! दो इन्द्रियादिक जीव तो जीव लक्षण सयुक्त होने से जीव सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु पृथिवी आदि पाच स्यावरों में जीव हम कैसे मान लें ? क्योंकि पृथिवी आदि में जीव का कोई भी चिन्ह उपलब्ध नहीं होता है ।

उत्तर — यद्यपि पृथिवी आदि में जीव के होने का प्रकट

चिन्ह नहीं दीयता, तो भी इन में अत्यन्त स्यावर जीव रूप से जीव के चिह्न दिखलाई देने से जीव की सिद्धि सिद्ध होता है । जैसे घट्टरे तथा मदिरा के नशे करके मूर्च्छित हुये जीवों में व्यक्त लिंग के अभाव होने से जीवपना है । जैसे ही पृथिवी आदि

को भी सजीव मानना चाहिये ।

प्रश्न — मदिरा की मूर्च्छा में उग्रान्नादि के देगने से अव्यक्त रूप में भी चेतना लिंग है । परन्तु पृथिवी आदिकों में चेतनता का तैसा लिंग कोई भी नहीं, फिर तिन को कैसे चेतन माना जाये ?

उत्तर — जो तुमने कहा है, सो ठीक नहीं । क्योंकि पृथिवी काय में प्रथम स्व स्व आकार में रहे हुये लक्षण विद्रुम, पापागादिकों में, अर्श मास अक्षुर की तरे समान जानीय अक्षुर उत्पन्न करने की योग्यता है । यह वनस्पति की तरे चैतन्यपने का चिह्न है । इस वास्ते अयत्त उपयोगादि लक्षण के होने से पृथिवी सचेतन है, यह सिद्ध हुआ ।

प्रश्न — विद्रुम पापाणादि पृथिवी कठिन रूप है तो फिर कठिन रूप होने से पृथिवी सचेतन कैसे हो सकती है ?

उत्तर — जैसे शरीर में जो अस्थि अर्थात् हाड अनुगत है, सो कठिन है, तो भी सचेतन है, ऐसे जीवानुगत पृथिवी का शरीर सचेतन है । अथवा पृथिवी, जप्, तेज वायु वास्पति, इन का शरीर जीव सहित है छेद्य, भेद्य, उत्क्षेप्य, भोग्य घेय, रसनीय, स्पृश्य द्रव्य होने से, साम्ना विपाणादि सघातवत् । इस अनुमान से इन में जीव सिद्ध है । और पृथिवी आदिकों में जो छेद्यत्वादि दिग्गते हैं, तिन को कोई भी छिपा नहीं सकता है । तथा यह भी मत कहना कि पृथिवी आदि को जीव का शरीर सिद्ध करना है सो अनिष्ट

है। क्योंकि हम सर्व पुद्गल द्रव्य को द्रव्य शरीर मानते हैं। उस में जीव सहित तथा जीव रहित जो विशेषण है, सो ऐसे है—शस्त्र करके अनुपहत जो पृथिवी आदि हैं, सो हाथ पग के सघातवत् सघात न होने से वे कदाचित् सचेतन हैं, ऐसे ही कदाचित् शस्त्रोपहत होने से हाथादिकों की तरफ अचेतन भी हैं।

प्रश्न—प्रथमणवत् जथात् सूत्र की तरफ जीव का लक्षण न होने से जल जीव नहीं है।

उत्तर—तुमारा यह हेतु अस्मिद्ध होने से ठीक नहीं है। तथाहि—हाथी के शरीर में कल्प अवस्था में द्रवपना असं सचेतन पना वेगते हैं, ऐसे ही जल में भी चेतनता जाननी। तथा अंडे में रस मात्र है जयय कोई उपपन्न हुआ नहीं, और व्यक्त—हाथ पग आदिक भी नहीं, तो भी वह सचेतन है। इसी प्रकार जल भी सचेतन है। यह इस में प्रयोग है—शस्त्र करके अनुपहत हुआ जल सचेतन है, द्रवरूप होने से, हस्तिशरीर के उपादान भूत फलत्वत्। इस हेतु में विशेषण के उपादान से अर्थात् ग्रहण से प्रथमण और दुग्ध आदि में व्यभिचार नहीं। तथा अनुपहत द्रव होने से अण्डे में रहे फलत्वत् सात्मक जल है। तथा हिमादि किसी एक अवस्था में अप्काय होने से इतर उदकवत् सचेतन है। तथा किसी जगें भूमि खनने से मँडक की भांति स्वाभाविक समग्र—उत्पन्न होने से जल सचेतन है, अथवा

आकाश म यादल आत्कि विकार मे उत्पन्न हुआ जल स्वत ही अथात् आप ही उत्पन्न होकर पडने से मत्स्यप्र सचे मन है । तथा शीतकाल में बहुत शीत के पडते हुए नदी आत्कि में अल्प जल के हुए जल्प रू बहुतके हुए बहुत उष्मा भेवत है, सो उष्मा मनीय हेतुक ही है । अल्प या बहुत प्रमाण में मित्रि मनुष्यों के शरीरों में जैसे अल्प या बहुत उष्मा उत्पन्न होती है । जल में शीत स्पर्श ही है ऐसे वेगेषिक कइत है । तथा शीतकाल में शीत के बहुत पडने से प्रात काल में तलागादिक के पदिचम दिशा में खडे होकर जत्र तलागात्कि को नेगिये, तो तिम के जल से वाष्प का समूह निकलता हुआ दीप्यता है सो भी जीय हेतुय ही है । इस का प्रयोग ऐसे है—शीतकाल में जो वाष्प है, सो उष्ण स्पर्श वाली वस्तु से उत्पन्न होता है, वाष्प होने से, शीत काल में शीत जल करके सचे हुए मनुष्य शरीर के वाष्पयत् । जर जो कुडे कचरे में मे धूजा-वाष्प निकलता है, तहा भी हम पृथ्वीकाय के जीय मानत है । इन मत्र हेतुजो से जल सजीय सिद्ध होता है ।

प्रश्न—तेज काय में जीव किस तरे सिद्ध होता है ?

उत्तर—जमे रात्रि में गद्योत या शरीर जीव शक्ति मे बना हुआ प्रकाशमाला है ऐसे अगारादिक भी प्रकाशमान होने से मचेतन हैं । तथा जसे ज्वर की उष्मा जीव के प्रयोग विना नहीं होती, ऐसे ही अग्नि में भी गरमी जीवों के

प्रिना नहीं है; क्योंकि मृतक के शरीर में ज्वर कदापि नहीं होता है। इस प्रकार अन्यत्र व्यतिरेक करके अग्नि मच्चित्त जाननी। यहा यह प्रयोग है—अगार आदि का प्रकाश आत्मा के मयोग से प्रगट हुआ है, प्रकाश परिणाम शरीरस्थ होने से, गद्योन नेट के परिणामरत्। तथा आत्मा के मयोग पूर्णक शरीरस्थ होने से ज्वरोग्मरत् अगारादिमें मं उष्णता है। तथा ऐसे भी मत कहना कि सूर्य की उष्मा के साथ यह हेतु बाँका तिरु है, क्योंकि सूर्यादिकों में जो उष्मा है, उस को भी आत्ममयोग पूर्णक ही हम मानते हैं। तथा अग्नि मचेतन है, क्योंकि यथायोग्य आहार के करने से पुष्टय के शरीर की तरह उस में वृद्धि आदि विकार की उपलब्धि होती है। इत्यादि लक्षणों करके अग्नि की मचेतनता है।

प्रश्न—वायुकाय—पवन में मचेतनता की निदि किंम करीने ?

उत्तर—जैसे देवता का शरीर शक्ति के प्रभाव करके, अरु मनुष्यों का शरीर अजनादि विद्या मथ के प्रभाव करके अदृश्य हो जाने पर नेत्रों से नहीं दीगता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। ऐसे ही सूक्ष्म परिणाम होने से परमाणु की तरे वायुकाय भी नेत्रों से नहीं दीगता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। अग्नि करके दग्ध पाषाण खण्डगत अग्नि की भाति यह स्पष्ट उपलब्ध नहीं होता। प्रयोग यह है—कि वायु चेतनावान् है, दूसरों की प्रेरणा के बिना नियम

करके नियमगति होने से, मयाश्वादिमत् । तिर्यग्गति का नियम करने से, परमाणु के माय व्यभिचार नहीं । इन प्रकार शस्त्र करके अनुपहत वायु मचेतन है ।

अथ वास्पति मं तो प्रत्यक्ष प्रमाण से जीव निश्च ही है । इस वास्ते यहा विस्तार मे नहीं लिया । तथा सर्ग का कथन करा हुआ आगम भी पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन अथ वनस्पति मे जीव का होना कहता है । कोई २ पुरुष इंद्रिय, भौद्रिय, चतुरिन्द्रिय अथ पंचेन्द्रिय में भी जीव नहीं मानते, परन्तु तिन के न मानने से कुछ हानि नहीं । यह संक्षेप से जीवों का स्वरूप लिया है । जब विस्तार से दखना होये, तब जैनमत के सिद्धांत-आगम प्रथम दृग् लेन ।

अथ दृमरा अजीव तरय लिखते हैं । अजीव उस को कहते हैं, कि जो जीव के लक्षणों से विपरीत अजीव तत्त्व होये—जो ज्ञान से रहित होये, और जो रूप का स्वरूप रस, गंध, अरु स्पर्शमाला होये, नर अमरादि भय में न जाये, अरु ज्ञानावरणीयादिक कर्म का कत्ता न होये, अरु तिनों क फल का भोगने वाला न होये, जडस्वरूप होये । सो अजीव द्रव्य पाच प्रकार के हैं—
१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय
४ पुद्गलास्तिकाय, ५ काल ।

तिन म पहला जो धर्मास्तिकाय है, सो लोभ्यापी है, नित्य है, अवस्थित है, अरूपी है, असत्य प्रदेशी है, जीव अरु

पुद्गल की गति में उपप्रभरू-सहायरू है । यद्यपि जीव अरु पुद्गल स्वशक्ति से चलते हैं, तो भी चलने में धर्मास्तिकाय अपेक्षित कारण है । जैसे मच्छी जल में तरनी तो अपनी शक्ति से है, परन्तु अपेक्षित कारण जल है । ऐसे ही जीव अरु पुद्गल की गति में सहायरू धर्मास्तिकाय है । जहा लगे यह धर्मास्तिकाय है, तहा लगे लोक की मर्यादा है । जेकर धर्मास्तिकाय न मानिये, तो लोकालोक की मर्यादा न रहेगी । अरु जहा लगे धर्मास्तिकाय है, तहा लगे जीव पुद्गल गति करने हैं । इस का पूरा स्वरूप जैनमत के ग्रन्थ पढे बिना नहीं जाना जा सकता ।

दूमग अधर्मास्तिकाय द्रव्य है । इस का सर्व स्वरूप धर्मास्तिकाय की तरे जानना । परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य, जीव पुद्गल की स्थिति में सहायरू है । जैसे पथिक जन जत्र चलता चलता थक जाता है, तब किसी वृक्षादिक की छाया में बैठता है, सो बैठता तो वो आप ही है, परन्तु आश्रय बिना नहीं बैठ सकता है । ऐसे ही जीव, पुद्गल स्थित तो आप ही होते हैं, परन्तु अपेक्षित कारण अधर्मास्तिकाय है ।

तीसरा आकाशास्तिकाय द्रव्य है, इस का स्वरूप भी धर्मास्तिकायवत् जानना । परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य लोकालोक सर्व-यापी है, अरु अचगाह दान लक्षण है— जीव पुद्गल के रहने में अचगाह दाता है । यह तीनों द्रव्य

आपन्न में मिले हुए हैं। जहां लगि आकार में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय है, तहां लगि लोक है। अरु जहां केवल एकटा आकार ही है, और कोई वस्तु नहीं, तिस का नाम अलोफ है।

चौथा पुद्गलास्तिकाय द्रव्य है, पुद्गल नाम परमाणुओं का भी है, अरु परमाणुओं के जो घट पटादि काय हैं, उन को भी पुद्गल ही कहते हैं। एक परमाणु में एक वर्ण है, एक रस है, एक गंध है दो स्पर्श है। कार्य ही इन का लिंग-गमक है। ये वर्ण से वर्णोत्तर, रस से रसात्तर, गंध से गंधात्तर स्पर्श से स्पर्शात्तर हो जाते हैं। यह परमाणु पदार्थ द्रव्यरूप करने अनादि अनन्त है, पर्यायस्वरूप करके सादि सात है। इन परमाणुओं का जो काय है, उस में कोई तो प्रवाह से अनादि अनन्त है, अरु कोई सादि सात भी है। जो कुछ यह जड जगत् दीजता है, सो सब इन परमाणुओं का ही कार्य है। सूर्यो हुइ सच वनस्पति अरु अग्नि आदिक शस्त्रों करके परिणामात्तर को प्राप्त हुए पृथिव्यादिक सर्व पुद्गल हैं। समुच्चय पुद्गल द्रव्य में पाच वर्ण, पाच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, पाच सस्थान हैं। उस में काला, नीला, रक्त, पीत और शुद्ध, यह पाच तो वर्ण है। तीक्ष्ण, कडुभा, कषाय, सट्टा, मीठा, यह पाच रस है। सुगंध, दुर्गंध, यह दो प्रकार की गंध है। सरपरा अर्थात् कठोर, सुकोमल, हलका, भारी, शीत, उष्ण, चिकना, रूखा यह आठ स्पर्श

हैं। इन में अधिक जो वर्णादि हैं, सो सब इन ही के मिलने में हो जाते हैं। इन पुद्गलों में अनंत शक्तिया, अनंत स्वभाव हैं। इन के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि निमित्तों के मिलने में विचित्र परिणाम हो जाते हैं।

पाचमा कालद्रव्य है, सो प्रसिद्ध है। यह पाच द्रव्य अनीत्र है। निमित्त पाच है, ये जेनद्वेताग्रचार्य श्रीमिद्ध सेन द्वाराकृत सम्मतिनर्क ग्रंथ में लिखे हैं *। १ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ पूर्वकृत कर्म, ५ पुरुषकार। इन पाचों में से मात्र एक को मानना तो मिथ्याज्ञान अरु मिथ्यात्व है, तथा इन पाचों के समुदाय को मानना सम्यक्ज्ञान अरु सम्यक्त्व है। इन पाच निमित्तों में से काल, स्वभाव, नियति, इन तीनों निमित्तों का स्वरूप क्रियावादी के मन के निरूपण में लिख आए हैं। अरु चौथे पूर्वकृत कर्म, का स्वरूप आगे कर्मों के स्वरूप में लिखेंगे। अरु पाचमा पुरुषकार, सो जीव के उद्यम का नाम है। इन पाचों निमित्तों में जगत् की प्रवृत्ति और निवृत्ति हो रही है। इन निमित्तों ही

* काला सहाव गियद् पूर्वकृत्य पुरिसकारणेगता ।

मिन्दत ते चेवा (व) समासत्रो ह्योनि मम्मर्त्तं ॥

काल-स्वभाव-नियति-पूर्वकृत-पुरुषकारणत्वा 'एका'ता' सर्वेऽपि एका मिथ्यात्वम् त एव 'समुदिता' पास्याऽऽजद्वैतय, सम्यक्त्व-रूपता प्रतिपद्यत इति तापर्यार्थः ।

मे नरकादि गतियों में जीव जाते हैं, अरु सुख दुःख का फल भोगते हैं। इन निमित्तों के बिना फल का दाता अन्य ईश्वर दिग्ग मोई भी नहीं। जेकर कोई चाही इन पाचों निमित्तों क समजाय को ईश्वर माने, तत्र तो हम भा उस ईश्वर को कत्ता मान लेंगे। क्योंकि जैनमत की तत्त्वगीता में लिखा है, कि अनादि द्रव्य में जो द्रव्यत्व शक्ति है, सोई सर्व पदार्थों को उत्पन्न करती है और लय भी करती है। सो शक्ति चैतन्याऽचैतन्यादि अनन्त स्वभाव वाली है, तिस को कर्त्ता-ईश्वर मानते से जैनमत की कुछ भी हानि नहीं है।

३ अथ पुण्यतत्त्व लिखते हैं-प्रथम तो पुण्य उपाजन करने के नव कारण हैं उक्त च स्थानागसूत्रे —

अन्नपुण्ये पाण्यपुण्ये वस्त्रपुण्ये लेण्यपुण्ये सयणपुण्ये
मग्नपुण्ये धयपुण्ये कायपुण्ये नमोक्कारपुण्ये। [टा०६ सू० ६७६]

व्याख्या — १ पात्र के प्रति अन्न का दान करने से तीर्थकर नामादि पुण्य प्रकृति का जो घट पुण्य तत्त्व होवे है तिस का नाम अन्न पुण्य है। ऐसे ही का स्वरूप २ पीने का जल देवे, ३ यत्र देवे, ४ रहने को स्थान देवे, ५ सोने बैठने को आसन देवे, ६ गुणिजन को देख कर मन में हर्ष करे, ७ वचन करके गुणिजनों की प्रशंसा करे, ८ काया करके पर्युपासन अर्थात् सेवा करे और ९ गुणिजन को नमस्कार करे। तथा

यह जो पुण्य की रात कही है, सो कुछ जनियों को ही दान देने के वास्ते नहीं। किन्तु किसी मत वाला भी क्यों न हो, जो कोई भी अनुरूपा करके किसी को दान देगा, वो पुण्य का उपाजन करेगा। परन्तु इतना विशेष है, कि पात्र को जो दान देना है, सो तो पुण्य अरु मोक्ष दोनों का ही हेतु है। तथा जो अनुरूपा करके सर्वजनों को देगा सो केवल पुण्य का ही उपाजन करेगा। जैनमत के किसी शास्त्र में पुण्य करने का निषेध नहीं। जैनमत के ऋषभदेवादि चौबीस तीर्थंकर भये हैं, उन्होंने दीक्षा लेने से पहिले एक करोड़ आठ लाख सोनेये दिन दिन प्रति एक वर्ष तक दिये हैं। इसी कारण से जैनमत में प्रथम स्थान दान धर्म का है। तथा जैनमत के शास्त्रों में और भी कई तरे से पुण्य का उपाजन करना लिखा है।

अथ पुण्य का फल 'वैतालिस' प्रकार करके भोगने में आता है। सो वैतालिस प्रकार लिखते हैं—१ जिस ४२ प्रकार के उदय से जीव साता-सुख भोगता है, सो सातादेवनीय। २ जिस के उदय से जीव क्षत्रियादि उच्च कुल में उत्पन्न होता है, सो उच्च गोत्र। ३ जिस के उदय से जीव मनुष्य गति में उत्पन्न होता है, सो मनुष्य गति। ४ जिस के उदय से जीव देव गति में उत्पन्न होता है, सो देवगति। ५ जिस के उदय से जीव अपातराल गति में नियत देश—अनुश्रेणी

गमन करता है, अर्थात् नियत मर्यादा पूजक अर्गों का प्रियास, अर्थात् स्थापन करने वाली नाम कर्म की प्रवृत्ति को *आनुपूर्वी कहते हैं उसमें जो मनुष्य गति आने वाली, जीव के उदय में है, सो मनुष्यानुपूर्वी। ऐसे ही ६ भेद्यानुपूर्वी। ७ जिसके उदय में जीव पंचेंद्रियता को पाता है, सो पंचेंद्रिय ज्ञाति। अथ पाच शरीर कहते हैं। ८ जिसके उदय में जीव औदारिक वगणा के पुद्गलों को ग्रहण करके औदारिक शरीर की रचना करता है अर्थात् औदारिक शरीर के रूप में परिणमन करता है, सो औदारिक शरीर नाम कर्म की प्रवृत्ति है। ऐसे ही ९ वैक्रियक, १० आहारक, ११ नैजस, १२ कामण, इन पाचों शरीरों की प्रवृत्तियों का अर्थ कर लेना। तथा अगोपाग तीन हैं, उसमें अग—शिर प्रमुख उपाग—अगुली प्रमुख हैं, शेष अगोपाग हैं। यथा शिर छाती, पेट पीठ दो राहु, दो साथला, यह आठ

* जीव की स्वाभाविक गति श्रेणी के अनुसार होती है। आकाश प्रकाश की पक्ति को श्रेणी कहते हैं। एक शरीर को छोड़ दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव समश्रेणी से अपन उत्पत्ति स्थान व प्रति जान लगता है, तब आनुपूर्वीनामकर्म, उमे उम के विधना-पतित उत्पत्ति-स्थान पर पहुंचा जाता है। जीव का उत्पत्ति स्थान यदि सम श्रेणी में है, तो आनुपूर्वीनामकर्म का उदय नहीं होता। तापय यह है कि वक्र गति में आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है अजुगति में नहीं। [कर्म० १ (हि०) पृ० ८९]

अग हैं। तथा अगुत्यादि उपाग है। शेष नखादि अगोपाग हैं। जिस के उदय से जीव को आदि के तीन शरीरों में अगोपाग की उत्पत्ति होये, तिस का नाम तिन शरीर के अगोपाग है। सो यह है—१३ औदारिक अगोपाग, १४ वाकिय अगोपाग, १५ आहारक अगोपाग। १६ जिस के उदय से जीव आदि का सहनन—वज्ररूपभनाराच पाता है, सो वज्ररूपभनाराचसहनन नामकर्म। तहा वज्र नाम कीलिका, अरु रूपभ नाम परिवेष्टन-पट्ट अर्थात् ऊपर लपेटने का हाड, तथा नाराच-मर्कटवध है। इन तीनों रूपों करके जो उपलक्षित हैं, तिस को वज्ररूपभनाराचसहनन कहते हैं। हाड के सचय सामर्थ्य का नाम सहनन है। यह सहनन औदारिक शरीर वालों में ही होता है। १७ जिस के उदय से जीव को आदि के समचतुरस्र सस्थान की प्राप्ति होवे। सो समचतुरस्र सस्थाननामकर्म की प्रकृति जाननी। तहा सम हैं चारों अक्ष जिस के अर्थात् तुल्य शरीर लक्षण युक्त प्रमाण सहित, ऐसा आद्य सस्थान सुन्दराकार मनोहर होवे। अथ वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, यह चारों कहते हैं। तिन में जिस के उदय से १८ वर्ण-रूपणादिक, १९ रस-तिकादिक २० गंध-सुरभ्यादिक, २१ स्पर्श-मृदु आदिक, यह चारों शुभ होवे, सो वर्णादि चार प्रकृति जाननी। २२ जिस कर्म प्रकृति के उदय से जीव का शरीर न तो भारी होये—जिस को जीव उठा न सके, अरु न तो हल्का होये—जो

पत्रन करके उड़ जावे, तिस का नाम अगुरु लघु है, तिस की प्राप्ति होवे, सो अगुरुलघु नाम कर्म । २३ जिस के उदय से प्राणी परको हन, अरु शरीर की आरुति पेसी होवे, कि जिस क देपने से दूसरों का अभिमत्र होवे, सो पराघात नामकर्म । २४ जिस क उदय से उच्छ्वासन लधि अयात् उच्छ्वास लेने की शक्ति, आत्मा को होती है, सो उच्छ्वास नामकर्म । २५ जिस के उदय से जीव प्रकार अरु आतप शरीर को पाव, तिस का नाम आतप नामकर्म । २६ जिस के उदय से जीव, उष्ण प्रकार रूप उद्योत घाला शरीर पाता है, सो उद्योत नामकर्म । २७ जिस कर्म के उदय से जीव-को विहायोगति [विहाय नाम आकाश का है; तिस में जो गति सो विहायोगति] पतायना राजहस सरीखी गति होवे, सो सुविहायोगति नामकर्म । २८ जिस के उदय से जीव के शरीर के अगोपागादिकों अर्थात् नसा, जाल, माथे की लोपड़ी के हाड़, आय, कान के पड़दे, केश, नखादि सब शरीर के अवयवों की व्यवस्था होवे, सो निर्माणनामकर्म, यह सूत्रधार के समान है । २९ जिस के उदय से जीवों को प्रस रूप की प्राप्ति होवे, अर्थात् उष्णादि करके तप्त हुए विवक्षित स्थान से छायादिक में जाना और दो इन्द्रिया दिक पर्याय का फल भोगना, आदि प्राप्त करे सो प्रस नाम कर्म । ३० जिस के उदय से जीव यादर अर्थात् स्थूल शरीर घाला होता है, सो यादर नामकर्म । ३१ जिस कर्म क उदय

से जीव पीछे कही हुई छे पर्याप्ति पूर्ण करता है, सो पर्याप्ति नामकर्म । ३२ जिस के उदय से प्रत्येक-एक एक जीव के एक एक शरीर होता है, सो प्रत्येक नामकर्म । ३३ जिस के उदय से जीव के हाड़ आदि अवयव स्थिर निश्चल होते हैं, सो स्थिर नामकर्म । ३४ जिस के उदय से जीव के शिर प्रमुख अवयव शुभ होते हैं, सो शुभ नामकर्म । ३५ जिस के उदय से जीव सौभाग्यवान् होता है, सो सुमग नामकर्म । ३६ जिस के उदय से जीव का स्वर कोकिलावत् रमणीक होवे, सो सुस्वर नामकर्म । ३७ जिस के उदय से जीव का उपादेय वचन होवे—जो कुछ कहे, सो हो जाये, सो आवेय नामकर्म । ३८ जिस के उदय से जीव की विशिष्ट कीर्ति यश जगत् में विस्तरे-फैले, सो यशोनामकर्म । ३९ जिस के उदय से जीव की चौंसठ इन्द्र पूजा करते हैं, अरु उप देश द्वारा धर्म तीर्थ का कर्त्ता होवे, सो तीर्थकर नामकर्म । ४० त्रियचों का आयु । ४१ मनुष्यायु । ४२ देवायु । आयु उस को कहते हैं, कि जिन्म के उदय से जीव त्रियंचादि भय में जाता है । जिस से यह पूर्वोक्त तीन आयु की जीव को प्राप्ति होती है, सो तीन आयु की प्रकृति जाननी । यह त्रैतालीन प्रकार करके पुण्य का फल भोगने में आता है ।

४ अथ चौथा पापतत्त्व लिखते हैं । पाप उस को कहते हैं, कि जो आत्मा के आनन्द रम को पीचे, अर्थात् नाश करे । यह पाप जो है, सो पुण्य से विपरीत, नरकादि फल का

प्रयत्नक होने से अनुभव है, आत्मा के साथ सबद्वय कम पुण्य रूप है।

यद्यपि स्वतन्त्र के अन्तर्भूत ही पुण्य पाप है, तो भी न्यारे जो कहे हैं, सो पुण्य पाप के त्रिपे नानाविध परमत भेद के निरासार्य है। सा परमत यह है। कोई एक मत वालों का यह कहना है, कि एक पुण्य ही है, पाप नहीं। तथा कोई एक मत वाले कहते हैं, कि एक पाप ही है, पुण्य नहीं। तथा कोई एक कहते हैं कि पाप पुण्य दोनों आपस में अनुबिद्ध स्वरूप हैं, मेचक मणि सरीसृप, मिथ्य सुख दुःख फल कहतु है। इस वास्ते साधारण रूप से पुण्य पाप एक ही वस्तु है। कोई एक ऐसे कहते हैं कि मूल से कर्म नहीं है, सब जगत् में स्वभाव में ही विचित्रता सिद्ध है। यह सब पूर्वोक्त मत मिथ्या है, क्योंकि सुख दुःख दोनों न्यारे न्यारे अनुभव में आते हैं। तिस वास्ते तिन के कारणभूत पुण्य पाप भी स्वतन्त्र ही अमीकार करने योग्य है, अकेला पाप वा अकेला पुण्य वा मिश्रित मानने ठीक नहीं।

तथा जो कर्माभाववादी नास्तिक अथ वेदातिक कहते हैं, कि पुण्य पाप जो हैं, सो आकाश क फल सदृश असत् जानने, सत् नहीं। तो फिर पुण्य पाप के फल भोगने के स्थान—नरक स्वर्ग क्योंकर माने जायें ?

पुण्य पाप के अभाव से सुख दुःख निर्हेतुक उपभोग होने चाहियें, सो तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। सोई

पुण्य और पाप दिखाते हैं। मर में मनुष्यपना सदृश है, तो की मिट्टि भी कोई स्वामी है, कोड दाम है, कोई अपना ही नहीं किन्तु औरों का भी उदर भरते हैं, कोई अपना ही उदर नहीं भर सकते हैं। कोई देवता की तरे निरन्तर सुख भोग रहे हैं। इस वास्ते अनुभूयमान सुख दुखों के निवृत्त-कारण भूत पुण्य पाप जरूर मानने चाहिये। जय पुण्य पाप माने, तब तियों के उत्कृष्ट फल भोगने के स्थान जो नरक स्वर्ग हैं, सो भी माने गये। जेकर न मानोगे, तब अर्द्ध जर्तीय न्याय का प्रसंग होवेगा—आधा शरीर बूढ़ा, आधा जुवान। इस में यह प्रयोग अर्थात् अनुमान भी है—सुख दुख कारणपूर्वक है, अदुरत्त कार्य होने से। ये पुण्य पाप सुख दुख के कारण हैं, इस वास्ते मानने चाहिये। जैसे अदुर का बीज कारण है।

प्रतिवादी —नीलादिक जी मूर्त पदार्थ हैं, ये नीलादिक जैसे स्वप्रतिभासी अमूर्त ज्ञान के कारण हैं। ऐसे ही अन्न, फूल, माला, चन्दन स्त्री आदिक मूर्त-दृश्यमान ही अमूर्त सुख के कारण होवेंगे, तथा सप, विष और कडे आदिक दुख के कारण हैं। तो फिर अदृष्ट पुण्य पाप की कल्पना काहे को करते हो ?

सिद्धाती —यह तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि इस कहने में व्यभिचार है। तथाहि—दो पुरुषा के पास तुल्य साधन भी हैं, तो भी फल में बड़ा भेद दिखता है। तुल्य

देह है, सो पुण्य का कार्य है, अरु जो अशुभ देह है, सो पाप का कार्य है, यह कायानुमान है। और सबके वचन प्रमाण से तो पुण्य पाप की सत्ता सिद्ध ही है। विशेषार्थ के वास्ते विशेषाग्र्यक की टीका देख लेनी।

पाप अठारह प्रकार से बघाता है, और ब्यासी प्रकार से भोगने में आता है। यथा—पाच ज्ञानावरण, पाच अत राय, नव दशनावरण, मोहनीय कर्म की छद्दीस प्रवृत्ति, नामकर्म की चौतीस प्रवृत्ति, एक अमातावेदनीय, एक नरकायु एक नीचगोत्र, यह सब मिळ कर ब्यासी भेद होते हैं। अब इन का विवरण लिखते हैं—

ज्ञानावरण कर्म की पाच प्रवृत्ति—प्रथम * ज्ञान पाच

* मतिभ्रशावधिमनपयायकेवलानि ज्ञानम् ।

[तत्त्वा० अ० १ सू० ९]

१ जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मन से होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

२ जो ज्ञान मतिपूर्वक है, और जिस में शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना रहती है, वह ध्रुतज्ञान कहलाता है।

इन दोनों ज्ञानों की समानता इस अर्थ में है, कि वे अपनी उत्पत्ति में इन्द्रिय तथा मन को अपेक्षा रखते हैं। परन्तु इन का भेद यह है कि मतिज्ञान शब्दोल्लेख रहित और ध्रुतज्ञान शब्दोल्लेख सहित होता है। इन के सूक्ष्म विवेचन के लिये देग्वी प मुखलाल जी की बनाई हुई तत्त्वार्थ सूत्र की गुजराती व्याख्या।

प्रकार का है। उसमें मतिज्ञान और श्रुत-
 पच ज्ञानावरण ज्ञान, ए दोनों अभिलाष-प्रावितार्थ-ग्रहणरूप
 ज्ञान हैं। तीसरा इन्द्रियों की अपेक्षा के बिना
 ज्ञान को साक्षात् अर्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान, अवधि
 ज्ञान चौथा मन में चिन्तित अर्थ का साक्षात् करने वाला
 ज्ञान, मन पर्यवज्ञान, तथा पाचमा केवल-संपूर्ण निष्कलक
 जो ज्ञान, सो केवल ज्ञान है। इन पाचों ज्ञानों का जो आच-
 रण सो ज्ञानाचरण है। यथा—मतिज्ञानाचरण, श्रुतज्ञानाचरण,
 अवधिज्ञानाचरण, मन पर्यवज्ञानाचरण, केवलज्ञानाचरण ।
 १ जिसके उदय से जीव निमित्त निष्पत्तिम होता है, सो
 मतिज्ञानाचरण, २ जिसके उदय से पठन करते भी जीव को
 कुछ न आवे, सो श्रुतज्ञानाचरण, ३ जिम्मे के उदय से अवधि
 ज्ञान न होवे, सो अवधिज्ञानाचरण, ४ जिसके उदय से
 मन पर्यवज्ञान न होवे, सो मन पर्यवज्ञानाचरण, ५ जिसके
 उदय से केवलज्ञान न होवे सो केवलज्ञानाचरण। यह पाच
 प्रवृत्ति पापरूप हैं।

३ इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये बिना, मयादा पूर्वक जिसने
 रूपी द्रव्य का ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४ इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये बिना, मयादा पूर्वक जो मझी
 जीवों के मनोगत भावों को जानता है, वह मन पर्याय (पर्यव) ज्ञान है।

५ जिसके द्वारा मसार के त्रिकालवर्त्ती सभी पदार्थ सर्वथा एक
 साथ जाने जाते हैं, वह केवलज्ञान होता है।

अथ अन्तराय कर्म की पांच प्रकृति कहते हैं । १ जिसके उदय में, देने वाली वस्तु भी है, गुणवान् पञ्च अन्तराय पात्र भी है, दान का फल भी क्षात है परन्तु दान नहीं दे सकता, सो दानान्तराय । २ जिसके उदय में, देने योग्य वस्तु भी है, अरु दाता भी बहुत प्रसिद्ध है तथा मागने वाला भी मागने में यड़ा कुराट है, तो भी मागने वाले को कुछ भी न मिले, सो लभान्तराय । ३ जिसके उदय में, एक बार भोगने योग्य वस्तु जो आहारान्तराय सो विद्यमान भी है तो भी भोग नहीं सकता, सो भोगान्तराय । ४ जिसके उदय में, बारबार भोगने योग्य वस्तु जो शयन अगनादि सो विद्यमान भी है तो भी भोग नहीं सकता, सो उपभोगान्तराय । ५ जिसके उदय में अनुपहन पुष्टागमाला भी शक्ति विकल हो जाता है, सो धीर्यान्तराय । यह पांच प्रकृति भी पापरूप हैं ।

अथ दर्शनावरण कर्म की नव प्रकृति लिखते हैं । जो सामान्य बोध है तिसका नाम दशन है, नव दशनावरण अरु जो विशेष बोध है सो ज्ञान है । सहा ज्ञान का जो आवरण, सो ज्ञानावरण । सो पूर्य लिख जाये हैं । अरु जो दशन का आवरण है, सो दर्शनावरण । इसके नव भेद हैं । तिनमें जो आदि के चार भेद हैं, सो मूट में ही दशनलब्धियों के आवरण होने में आवरण शब्द करके कहे जाते हैं । जैसे १ चक्षुदशनावरण, २ अक्षशुद्ध

दर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण ४ केवल दर्शनावरण । अरु निद्रा आदि जो पाच हैं, सो दर्शनावरण के क्षयोपशम करके लब्धात्मलाम दर्शन लब्धियों का आवरणक है । इस का भावार्थ यह है, कि चक्षु करके सामान्यग्राही जो बोध, सो चक्षुर्दर्शन, सो जिस के उदय करके तिस की लब्धि का विघ्न होये, सो चक्षुर्दर्शनावरण । ऐसे ही अचक्षु करके-चक्षु को धज के शेष चार इन्द्रिय तथा पाचमा मन, इन करके जो दर्शन, सो अचक्षुर्दर्शन, तिस का जो आवरण, सो अचक्षुर्दर्शनावरण । तथा रूपी पदार्थों का जो मर्यादा पूर्वक वेगना-सामान्यार्थका ग्रहण करना, सो अवधिदर्शन, तिस का जो आवरण, सो अवधिदर्शनावरण । तथा घर-ग्रधान क्षायक होने से केवल, अनत क्षेयके होने से जो अनत दर्शन, सो केवलदर्शन, तिस का जो आवरण, सो केवल दर्शनावरण । अरु जो चेतन्य का मरु ओर से अति पुत्सित-पना करे, सो निद्रा । अर्थात् दर्शन उपयोग-सामान्य ग्रहण रूप, तिस का विघ्न करने वाली, सो निद्रा जाननी । तिस निद्रा के पाच भेद हैं । १ निद्रा, २ निद्रा निद्रा, ३ प्रचला, ४ प्रचलाप्रचला, ५ स्त्यानर्द्धि । तथा १ निद्रा उम को कहते हैं, कि जो चपटी-चुटकी यजाने से जाग उठे, सो सुप्तप्रतिबोध निद्रा । जिस के उदय से ऐसी निद्रा आवे तिस का नाम निद्रा है । तथा २ अतिशय करके जो निद्रा होये, उस का नाम निद्रानिद्रा है, जैसे कि बहुत हलाने से,

जागे, कपडे रेंचने से जागे। जिस के उदय से ऐसी निद्रा आवे, तिस कर्म प्रकृति का नाम निद्रानिद्रा है। तथा ३ घंटे को, खड़े को जो निद्रा आवे, तिस का नाम प्रचला है। जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आवे, तिस कर्म का नाम प्रचला है। तथा ४ जो चलते को निद्रा आवे, तिस का नाम प्रचलाप्रचला है। जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आवे, तिस कर्म की प्रकृति का नाम भी प्रचलाप्रचला है। तथा ५ स्त्यान नाम है पिंडीभूत का। सो पिंडीभूत है ऋद्धि-आत्मा की शक्ति जिस निद्रा में सो स्त्यानर्द्धि। तिस नींद में वासुदेव के बल से आधा बल होता है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे तिस का नाम स्त्यानर्द्धिकर्म है। इस निद्रा में कितनेक कार्य भी कर लेता है। परन्तु उस को कुछ खर नर्ही रहती है।

अथ मोहकर्म की प्रकृति लिखत है। मोहे-तत्त्वार्थ अर्थज्ञानको विपरीत करे सो मोहनीय है। मोहकर्म की २६ उस में मिथ्यात्वरूप जो मोह, सो मिथ्यात्व पाप प्रकृति मोहनीय कहिये। मोहकर्म की उत्तर प्रकृति मिथ्यात्व है। यद्यपि यह मिथ्यात्व अभिप्रदिक अनभिप्रदिक साशयिक, अभिनिवेशिक और अनाभोगादि अनेक प्रकार से है, तो भी यथावस्थित घस्तुत्व के अर्थज्ञान से सर्व भेदों को एक ही मिथ्यात्व रूप में गिना जाता है। यह प्रथम मिथ्यात्व मोह कर्म की प्रकृति है।

अरु कपायमोहनीय के सोला भेद हैं । क्योंकि यह क्रोधादिक भी तत्त्वश्रद्धान से भ्रष्ट कर देते हैं । सो सोला भेद इस प्रकार से हैं । १ अनतानुबधी क्रोध, २ अनतानुबधी मान, ३ अनतानुबधी माया, ४ अनतानुबधी लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ । ऐसे ही प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ । ऐसे ही सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । यह सर्व सोलह भेद कपायमोहनीय के हैं ।

ये क्रोधादिक अनत सत्कार के मूल कारण हैं । अनतानुबधी क्रोध का स्वभाव ऐसा है, किं जैसी पत्थर की रेखा । तात्पर्य कि जिस के साथ क्लेश हो जावे, फिर जहा लगी जीरे, तहा लगी रोप न छोडे, सो अनतानुबधी क्रोध है । तथा मान पत्थर के स्तम्भ सरिजा, कदापि नमे नहीं । तथा माया यास की जड समान—कदापि सरल न होवे । तथा लोभ, कृमि के रग के समान—कदापि दूर न होवे । इस प्रकार क्रोध, मान, माया, अरु लोभ करके युक्त जो परिणाम है तिस का नाम अनतानुबधी क्रोधादिक कर्म प्रकृति है । तथा अप्रत्याख्यान यहा नम् अल्पार्थ का सूचक है, सो थोड़ा भी प्रत्याख्यान, जिस के उदय होने से नहीं होता है, उस को अप्रत्याख्यान कहते हैं । अत्र इस का स्वरूप कहते हैं । क्रोध पृथिवी की रेखा समान, मान हाड के स्तम्भ समान, माया मेघ के सींग समान, लोभ कर्दम के दाग

समान है, और एक वर्ष तक रहता है। तथा जिस के उदय से जीव को सर्व विरतिपना न आवे, सो प्रत्याख्यानारण कषाय है। उस में क्रोध रेणु की रेखा समान, मान काष्ठ के स्तम्भ समान, माया गौ के मूत्र के समान, लोभ सज्जन के रंग समान है। इसकी चार मास तक रहने की स्थिति है। सज्वलन रूप जो चार कषाय हैं उन में क्रोध, पानी की छकीर के समान, मान तिनिसलता के स्तम्भ समान, माया वास की छिह्र के समान, लोभ हरिद्रा के रंग के समान है। यह चारों एक पक्ष की स्थिति वाले हैं। यह सोला कषाय का स्वरूप लिखा। अथ नव नोकषाय कहते हैं —

स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, यह नव नोकषाय मोह नव नोकषाय नीय की प्रकृति है। नी शब्द सहकारी अर्थ में है। कषायों के सहचारी जो हों, उन को नोकषाय कहते हैं। अथ इन नव प्रकृति का स्वरूप लिखते हैं—१ जिस के उदय से स्त्री पुरुष की अभिलाषा करती है, सो स्त्रीवेद, जैसे पित्त के उदय से मीठी वस्तु की अभिलाषा होती है। फुफक अग्नि के समान स्त्रीवेद का उदय है। जैसे फुफक अग्नि फीलने से वृद्धिमान् होती है, ऐसे ही स्त्री के मन वृत्तादि के स्पश करने से स्त्रीवेद का प्रबल उदय होता है। २ तथा जिस के उदय से पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है, सो पुरुषवेद जानना। जैसे कफ

अथ नामरुमं की चौतीस प्रकृति पाप रूप है । उन का नाम कहते हैं । नरक गति, तिर्यंचगति, नर नामरुम की ३४ कानुपूर्वा, तिर्यंचानुपूर्वा, एकेंद्रिय जाति, पाप प्रकृति द्वाद्विय जाति, त्रींद्रियजाति, चतुरिंद्रिय जाति पाच सहनन, पाच मस्यान, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्तगव अप्रशस्त रस, अप्रशस्त स्पर्श, उपघात, कुम्भियायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अगुम, अमुभग, दुःस्वर, अनादेय अयश कीर्ति ।

इन का स्वरूप इस प्रकार है — १ नरकगति उस को कहते हैं कि जिस के उदय मे नारकी नाम पड़े, अरु जो नरक गति में ले जावे । २ ऐसे ही तिर्यंचगति भी जान लेनी । तथा ३ जिस के उदय से नरकगति में जाते हुये जीव जो दो समयादि विग्रहगति करे अनुश्रेणी में नियत गमन परिणति होवे, सो नरकगति के सहचारी होने से नरकानु पूरा कहिये । ४ ऐसे ही तिर्यंचानुपूर्वा भी जान लेनी । तथा ५ जिस के उदय से एकेंद्रिय जो पृथिवी जल, अग्नि पवन, वनस्पति, इन में जीव उत्पन्न होता है, सो एकेंद्रिय जाति । ६ ऐसे ही द्वींद्रिय जाति ७ त्रींद्रिय जाति, ८ चतुरिंद्रिय जाति जान लेनी ।

तथा आद्य महनन को वज्र के शेष ऋषभनाराच, नाराच, अरुनाराच, कीलिका, सेवार्त्त, यह पाचों सहननों के नाम हैं । इन का स्वरूप ऐसा है, कि “ऋषभ”—परिवेष्टनपट्ट, नाराच

उभयतो मर्कटवध " दोनों हाडों को दोनों पाने मर्कटवध से वाध के पट्टे की आकृति के समान हाड की पट्टी पर जिस का घेष्टन है, सो दूसरा रूपमनाराच सहनन है । तथा वज्र रूपम करके हीन दोनों पासे मर्कटवध युक्त तीसरा नाराच नामक सहनन है । तथा एक पासे मर्कटवध अरु दूसरे पाने कीलिका करके बाँधा हुआ हाड, यह चौथा अर्धनाराचनामा सहनन है । तथा रूपम अरु नाराच, इन करके वर्जित, मात्र कीलिका करके बाँधे हुये दोनों हाड, ऐसा जो हाड का सचय, सो चौथा कीलिका नामा सहनन है । दोनों हाडों का स्पर्श पर्यंत लक्षण है जिस में तथा मूठी चापी कराने में आर्त्त—पीडिन, सो सेवार्त्त नामा सहनन है ।

तथा आद्य सस्थान को वर्ज के १ न्यग्रोधपरिमण्डल, २ सादि ३ वामनध कुञ्ज, ५ हुडक, यह पाच सस्थान हैं । इन का स्वरूप नीचे लिखते हैं, तदा १ न्यग्रोधपरिमण्डल-वृद्ध की तरफ परिमण्डल, न्यग्रोधपरिमण्डल है, जैसे वृद्ध ऊपर से सम्पूर्ण अग्रयणवाला होता है, तैसे नीचे नहीं होता है । ऐसे ही यह सस्थान नाभि के ऊपर तो विस्तार थाहुल्य, सपूर्ण लक्षणवाला होता है, अरु नाभि के नीचे सम्पूर्ण लक्षण नहीं, सो न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान है । २ सादि, जिस में नाभि से नीचे का देह का विभाग तो लक्षणों करके पूर्ण अरु नाभि से ऊपर का भाग लक्षण में विसवादी होवे, तिम का नाम सादिसस्थान है । ३ हाथ, पग शिर,

प्रीया यथोक्त लक्षणादि युक्त हों, अरु शेष उदरादिरु। कोष्ठ शरीरमध्य लक्षणादि रहित हो सो घामननामा सस्थान है। ४ उर-उदर आदि तो लक्षण युक्त हों, अरु हाथ पग आदि लक्षणों से रहित हों, सो कुञ्जसस्थान है। ५ जिस के शरीर का एक अवयव भी सुन्दर न होये, सो हुडसस्थान जान लेना यह पाच सस्थान हैं।

२२ जिस के उदय से घर्णादि चारों अप्रशस्त होये हैं, सो कहते हैं। जो अति बीभत्स दर्शन, वृष्णादि घर्ण घाला प्राणी होता है, सो अप्रशस्त घर्णनाम। सो घर्ण वृष्णादि भेदों करके पाच प्रकार का है। ऐसे ही जिस के उदय से प्राणियों के शरीर में कुथित मृतमूपकादिवत् दुर्गंधता होवे, सो अप्रशस्तगधनाम। तथा जिस के उदय से प्राणियों की देह में रसनेन्द्रिय का दुःखदायी और कँडी तोरी की तरे तिक कहुयादि असार रस होवे, सो अप्रशस्तरसनाम। तथा जिस के घरा से स्पर्शेन्द्रिय को उपताप का हेतु, पेना ककरादि स्पर्शविरोध, जीवों के देह में होवे, सो अप्रशस्त स्पर्शनाम।

२३ तथा जिस के उदय से अपने ही शरीर के अवयवों करके प्रतिजिह्वा, गल, वृद, लंबक, और चोर दात आदिक शरीर के अदर घर्द्धमान हो कर शरीर ही को पीड़ा देते हैं, सो उपघातनाम है। तथा २४ जिस के उदय से जीवों का खर ऊट आदिक की तरें चलना अप्रशस्त होये, सो कुवि-

हायोगतिनाम । तथा २५ जिस के उदय से पृथिवी आदिक पकेंद्रिय स्थावरकाय में प्राणी उत्पन्न होता है, अरु स्थावर नाम से कहा जाता है, सो स्थावर नाम । २६ जिस के प्रभाव से लोकन्यायी सूक्ष्म पृथ्वी आदि जीवों में जीव उत्पन्न होता है, सो सूक्ष्म नाम । २७ जिसके उदय से आहार पर्याप्ति आदिक पूर्वोक्त पर्याप्तियें पूरी न होयें, सो अपर्याप्त नाम । २८ जिस के उदय से अनन्त जीवों का साधारण-एक शरीर होये, सो साधारण नाम । २९ जिसके उदय से जिह्वादि अवयव, शरीर में अस्थिर होयें, सो अस्थिर नाम । ३० जिस के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होयें, सो अशुभ नाम । उन्म का किसी को हाथ लग जाये, तो वह रोप नहीं करता, परन्तु पग लगने से क्रोध करता है, इस वास्ते अशुभनाम है । ३१ जिस के उदय से जीव को जो २ देखे, तिस २ को वो जीव अनिष्ट लगे-उद्वेगकारी होवे, सो अमु भगनाम । ३२ जिस के उदय से फठोर, भिन्न, हीन, दीन स्वर वाला जीव होये, सो दु स्वर नाम । ३३ जिस के उदय से चाहे युक्ति युक्त भी बोले, तो भी तिस का कहना कोई न माने, सो अनादेय नाम । ३४ जिस के उदय से जीव, ज्ञान विज्ञान दानादिक गुण युक्त भी है, तो भी जगत् में उस की यश-कीर्ति नहीं होती बल्कि उलटी निंदा होती है, सो अयश कीर्ति नाम । यह नाम कर्म की चौतीस पाप प्रकृति कही हैं ।

जिस के उदय से जात्यादि करके बिकल जीव होता है, सो नीचगोत्र जानना । नीचगोत्र उस को कहते हैं, कि जो अधम कैयत्त, चाडालादि शब्दों से उपलक्षित हो । तथाहि —

कुल गूयते सशुद्ध्यतेऽनेन हीनोऽयमजातिरित्यादि
शब्दैरिति गोत्र कुल नीचमिति विशेषणाऽन्यधानुपपत्त्या
नीचैर्गोत्रमित्यर्थः ।

प्रश्न — यह जो तुम नीच गोत्र के उदय से नीच कुल कहते हो, तीनों के साथ खान पान नहीं ऊँच नीच करते हो, तीनों की छुन मानते हो, अरु निंदा की समीचा जुगुप्सा भी करते हो, यह तुमारी बड़ी अज्ञानता है । क्योंकि मानुषत्व धर्म करके सर्व समान हैं, एक सरीखे हाथ पैर आदि अवयव हैं, तो फिर एक को ऊँच मानना, तथा एक को नीच मानना, यह केवल ब्राह्मण और जैनियों ने ही घुरी रसम भारत धर्म में जारी कर रखी है । इस बात में क्या मुक्ति का अंग है ? कितनेक भारतवर्षियों को बज के और सर्व द्वीप द्वीपांतर में तथा भारत धर्म में भी सर्व विलायतादिक में कोई भी ऊँच नीच नहीं गिनते हैं । निचाले प्याले में सब एक हैं । यह केवल तुमारी मूढता अर्थात् अंध परंपरा है, वास्तव में ऊँच नीच कोई भी नहीं ।

उत्तर — यह तुमारा कहना बहुत बड़े समझी का है,

क्योंकि तुम हमारे कहे का अभिप्राय नहीं जानते । हमारा अभिप्राय तो यह है, कि जो कुछ भी इस जगत् में होता है, सो निमित्त के बिना नहीं होता है, यह जो भिल्ल, कोल, धागड, धाणक, गधीले, चडाल, थोरी, घाघरी, साम्नी, कजर प्रमुख असभ्य जाति के लोग हैं, सो गामों के बाहिर जगलों में रहते हैं । अनेक प्रकार के झेरा सहते हैं । काले, दुर्गंध वाले, रूप में घुरे कुत्सित शरीर वाले होने हैं । सुंदर खाने को नहीं मिलता । यह सब इन को किन्ही निमित्त से प्राप्त है ? अथवा निमित्त के बिना ? जेकर कहो कि बिना ही निमित्त है, तब तो तुम नास्तिक मति हो । इस नास्तिक मत का खण्डन हम पूरे लिख आये हैं । जे कर कहो कि सनिमित्तक है, तब तो ऐसे असभ्य जाति के कुल में उत्पन्न होने का कारण भी जरूर होना चाहिये, कि जिस के उदय से ऐमे कुल में उत्पन्न होता है । तिस का ही नाम नीच गोत्र है । इन नीच गोत्र के प्रभाव से और भी बहुत पाप प्रकृतियों का उदय होता है जिस से वे दुःखादि हर पाते हैं । तथा च बुद्धिहीनता जाल्म स्वभाव, निर्दयता, कुत्सित आहार, पशुओं की तरे जगलों में वान, धर्म कर्म से पराङ्मुख, सत्सग रहित, गम्यागम्य के विप्रेक रहित, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय विचार शून्यता, इन सब का मुख्य कारण नीच गोत्र है । जैसे धनवान् और निर्धन दोनों एक सरीखे नहीं हो सकते हैं, तैसे ही नीच

गोत्र वाले ऊच गोत्र वालों के सदृश नहीं हो सकते हैं ।

जे कर कही कि विलायत में सब एक सरीखे हैं, तो इस यात में क्या आश्चर्य है ? जहा ऊच नीच पना नहीं, तहा सब जीवों ने एक सरीखा गोत्र कर्म का ग्रह करा है, इस वास्ते ही सर्व सरीखे हुये हैं । परंतु जहा ऊच नीचपना माना जायगा, तहा अवश्यमेव ऊच नीच गोत्र का व्यवहार होयेगा । अरु जो हीन जातियों को बुरे जानते हैं, सो बुद्धि मान् नहीं, क्योंकि बुराई तो छोटे कर्मों के करने से होती है । जेकर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य हो कर छोटे कर्म—जीव हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, परनिंदा विश्वासघात, व्रतघ्नता, मासभक्षण, मदिरापान, इत्यादिक कुकर्म करेगा, हम उन को जरूर बुरा मानेंगे । अरु जो नीच जातिवाला है सो भी जे कर सुकर्म करेगा—दया, सत्य चोरी का त्याग, परस्त्री का त्याग, इत्यादिक करेगा, तो हम अवश्य उस को अच्छा कहेंगे । तो फिर हमारी समझ किस रीति से बुरी है ? अरु जो उम के साथ खाते नहीं हैं यह कुल रूढि है । अरु जो नीच जाति वालों की निंदा—जुगुप्सा करते हैं, वे अज्ञानी हैं । निंदा जुगुप्सा तो किसी की भी न करनी चाहिये । अरु जो तिन की छत्र मानते हैं, वो भी कुल रूढि है । जँमे माता बहिन, बेटा भार्या, यह सब स्त्रीत्व रूप करके समान हैं, तो भी इन में जैसे गम्य और अगम्य का विभाग है, तैमे ही जो मनुष्यत्व धम करके समान हैं, उन में भी ऊच नीच

का भी विभाग है । यह व्यवहार ब्राह्मण अरु जैनों ने ही नहीं बनाया, किंतु यह अच्छे पुरे कर्मों के उदय से है । यह परस्पर जाति का आहार न खाने का व्यवहार मिश्रदेश में भी था । इस वास्ते ऊच नीच जाति होती है ।

तथा आयु कर्म में से नरकायु की प्रकृति पाप में गिनी जाती है, नरक शब्द की व्युत्पत्ति ऐमे है —

नरान् प्रकृष्टपापफलभोगाय गुरुपापकारिणः प्राणि-
नो नरानित्युपलक्षणत्वात् कायति शब्दयतीति नरका-
स्तेष्वायुस्तद्भ्रमप्रायोऽयमकलकर्मप्रकृतिविपाकानुभवाकारण
प्राणवारण यत्तन्नरकायुष्क तद्विपाकप्रेयकर्मप्रकृतिरपि
नरकायुष्कमिति ।

तथा वेदनीय कर्म की अमानावेदनीय पाप प्रकृति में गिनी जाती है । अमाना नाम दुःख का है, जिस के उदय से जीव दुःख भोगता है, तिस का नाम अमाना-वेदनीय है ।

यह धानावरणीय पाच, अतराय पाच, दर्शनावर्णीय नव, मोठनीय छत्रीस, नाम कर्म की चौतीस, नाचि गोत्र एक, तथा अमानावेदनीय एक, सब मिल कर व्यासी प्रकार से पाप फल भोगने में आता है ।

अथ धाध्रतत्तत्र लिखते हैं । मिथ्यात्वादि आध्र के हेतु

हैं। असत् द्वेष, असत् गुण, असत् धर्म, इन
 व्याख्य तत्त्व का के विषये मत द्वेष, सत् गुरु, अरु सत् धर्म
 स्वरूप ऐसी जो रुचि, तिस का नाम मिथ्यात्व है।

तथा हिंसादिक मे निवृत्त न होना, तिस
 का नाम अप्रिरति है। तथा प्रमाद—मथादि, कषाय—क्रोधादि
 अरु योग—मन वचन काया का व्यापार, ये मिथ्यात्व
 अप्रिरति, प्रमाद, कषाय अरु योगरूप पांच पुनर्बंधक जीव के
 क्षानावरणीयादिक कर्मों के बंध के हेतु है। इस को जैन मत में
 आश्रय कहते हैं। जिन से कर्मों का आश्रयण—आगमन
 होवे, सो आश्रय, तात्पर्य कि मिथ्यात्वादि विषयक मन,
 वचन, काया का व्यापार ही शुभाशुभ कर्मबंध का हेतु
 होने मे आश्रय है।

प्रश्न—बंध के अभाव में आश्रय की उत्पत्ति कैसे
 होगी? जेकर कहे कि आश्रय से पहिला बन्ध है,
 तब तो जो बंध भी आश्रय हेतु के बिना नहीं हो सकता,
 क्योंकि जो जिन का हेतु है, सो तिस के अभाव में नहीं हो
 सकता। जेकर होवेगा, तब तो अतिप्रसंग दूषण आजावेगा
 अथात् कारण के बिना कार्य उत्पत्ति का प्रसंग होगा।

उत्तर—यह कहना असत् है, क्योंकि आश्रय को पूर्व
 बंधापक्षया कार्यपना है, और उत्तरबन्धापेक्षया कारणत्व है,
 ऐसे ही बंध की भी पूर्वोत्तर आश्रय की अपेक्षा करके बीजा
 कुर की तरे कार्यत्व और कारणत्व जानना। अतः बंध आश्रय

दोनों में परम्पर कार्य कारण भाव का नियम है । इस वास्ते यह पर इतरेतर दूषण नहीं है, प्रवाह की अपेक्षा करके यह अनादि है ।

यह आश्रय पुण्य और पाप धर्म का हेतु होने में दो प्रकार का है । यह दोनों भेदों के मिथ्यात्वादि उत्तर भेदों के उत्कर्षापरकर्म, अर्थात् अधिक न्यून होने से अनेक प्रकार है । इस शुभाशुभ मन वचन कार्य के व्यापार रूप आश्रय की सिद्धि अपनी आत्मा में स्वसंवेदनादि प्रत्यक्ष से है । दूसरों में वचन के व्यापार की प्रत्यक्ष में सिद्धि है, और शेष की तिस के कार्यप्रमथ अनुमान तथा आतप्रणीत आगम में जाननी ।

आश्रय के उत्तर भेद बँतालीस हैं, सो लिखते हैं । पाच इन्द्रिय, चार कषाय, पाच अन्नत, पञ्चोत्तम क्रिया, तीन योग, यह बँतालीस भेद हैं ।

जीव रूप मलय में कर्म रूप पाणी जिस करके आये, सो आश्रय है । तथा इन्द्रिय पाच हैं, तिनका स्वरूप आश्रय के इस प्रकार है—१ स्पर्श क्रिया जाये म्यत्रिपय—
४२ भेद स्पर्श लक्षण जिस करके, सो स्पर्शनद्रिय, २
“रस्यते आस्वाद्यते रसोऽनयेति” आस्वा
दित करे—रस लेवे निस करके, सो रसना ‘जिह्वा’ इन्द्रिय ।
३ सूघा जाये गंध जिस करके, सो घ्राणेंद्रिय—नासिकेंद्रिय
४ चक्षु—लोचन । ५ श्रुता जाये शब्द जिस करके, सो श्रोत्र

द्विय । यह पाच इन्द्रिय मूल भेद की अपेक्षा से आश्रय के पाच कारण हैं ।

‘ क्रुद्धयति कुप्यति येन ’—सचेतन अचेतन वस्तु में जिस करके प्राणी स्निग्ध, निर्निग्ध क्रोध करे, सो क्रोधवेदनीय कर्म है । तिस का उदय भी उपचार से क्रोध है । ऐसे ही मान माया, अरु लोभ में भी समझ लेना । इस में मानमद आठ प्रकार का है १ जातिमद, २ कुलमद, ३ चलमद, ४ रूपमद, ५ ज्ञानमद, ६ लाभमद, ७ तपोमद ८ ऐश्वर्यमद । १ जातिमद उस को कहते हैं कि अपनी माता के पक्ष का अभिमान करे जैसे कि मेरी माता ऐसे बड़े घर की बेटी है, इस तरफ अपने आप को ऊंचा माने, अरु दूसरों को निंदे इस का नाम जातिमद है । २ कुलमद है, कि जो अपने पिता के पक्ष का अभिमान करे, जैसे कि मेरे पिता का बड़ा ऊंचा कुल है, इस तरफ अपने आप को बड़ा माने, औरों को निंदे, तिस का नाम कुलमद है । ३ जो अपने चल का अभिमान करे, अरु दूसरों के चल को निंदे सो चल मद । ४ जो अपने रूप का अभिमान करे दूसरों के रूप को निंदे, सो रूपमद । ५ जो अपने आप को बड़ा ज्ञानी जाने, अरु दूसरों को तुच्छ मति जाने सो ज्ञानमद । ६ जो अपने आप को बड़ा नसीबे वाला समझे, अरु दूसरों को हीन पुण्य वाला समझे, सो लाभमद । ७ जो तप करके अभिमान कर कि मेरे समान तपस्वी कोई नहीं, सो तपोमद । ८ जो अपने ऐश्वर्य का

अभिमान करे और दूसरों को तुच्छ समझे, सो ऐश्वर्यमद । इस प्रकार से मान के आठ भेद हैं । तथा तीसरी माया, सो “मयति गच्छति” अर्थात् जिसके प्रभाव से जीव परवचना के निमित्त विकार को प्राप्त होये, उस को माया—कपट कहते हैं । तथा जिस करके परधन में गृद्धि होये, तिस को लोभ कहते हैं । इन चारों को रूपाय कहते हैं ।

अत्र पाच अग्रत कहते हैं । तथा पाच इन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल उद्योगनिष्पास, आयु, यह दस प्राण हैं । इन दस प्राणों के योग से जीव को भी प्राण कहते हैं । तिन प्राणों का जो घट—हनना अर्थात् मारना, सो प्रथम प्राणघ अग्रत जानना । १ झूठ गोलने का नाम मृशामद है । २ दूसरों की वस्तु चुरा लेने का नाम अदत्तादान है । ३ स्त्री पुरुष का जो जोड़ा, तिस का नाम मिथुन है, इन दोनों के मिलने का जो कर्म, सो मैथुन—अब्रह्म सेवन । तथा ५ “परिगृह्यते” मंत्र ओर से अगीकार किये जाय चार गति के निश्चय कर्म जिस करके, सो परिग्रह । इन पाचों के चार चार भेद हैं, सो कहते हैं ।

१ एक द्रव्य से हिंसा है, परन्तु भाव से नहीं, २ एक द्रव्य से हिंसा नहीं, परन्तु भाव से है, ३ एक हिंसा आदि अग्रत द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा के चार २ हैं, ४ एक द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं । यह प्रथम अग्रत के चार भेद हैं । तिन में प्रथम भग—भेद का

स्वरूप ऐसे है। प्रतिलेगना—साधु की समाचारी करने से, मार्ग में विहार करने से, नदी आदिक के लघने से, नात्र में बैठ कर नदी पार उतरने से, नदी में गिरी हुई साधु आदि को काढ़ने से, वर्षा वषते हुए शौच जाने से, ग्लान—रोगी की लघुशका को मेघ वषते में गेरने से, गुरु के शरीर में वायु तथा धकेवा दूर करने के निमित्त मूठी चापी करने से जो हिंसा होती है, सो सर्व द्रव्यहिंसा है। तथा ध्यायक की जिनमदिर घनाने से, जिनपूजा करने से, सधर्मिवत्सल करने से, तीर्थयात्रा में जाने से, रथोत्सव, अट्टुई महोत्सव, प्रतिष्ठा अथ अजनशागका करने से, तथा भगवान् के सम्मुख जाने से, गुरु के सम्मुख जाने से, इत्यादि कर्त्तव्य से जो हिंसा होये सो सर्व द्रव्य हिंसा है, भाव हिंसा नहीं। इस का फल अल्प पाप, अथ बहुत निजरा है। यह भगवती सूत्र में लिखा है। यह हिंसा साधु आदिक करते हैं, परन्तु उन का परिणाम उस अवसर में रोटा नहीं है, इस वास्ते द्रव्य हिंसा है।

यज्ञादि में जो जीव मारे जाते हैं, वह भी द्रव्य हिंसा क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर मीमांसक मत खण्डन में लिया आये हैं, सो देख लेना। यह प्रथम भग।

दूसरे भग में द्रव्य हिंसा नहीं। परन्तु भाव हिंसा है। तिस का स्वरूप कहने हैं। जो पुरुष ऊपर से तो शातरूप बना हुआ है, परन्तु उस का परिणाम—अन्तःकरण रोटा

है । वो चाहता है कि मेरे शत्रु के घर में आग लग जाये, मरी पड़ जाये, नदी में डूब जावे, चोरी हो जाये, चदीखाने में पड़े, तथा वेप बदल के भलामानस बन के ठगयाजी करे, तथा अगले का घुरा करने के वास्ते अनेक प्रकार से उस को विश्वास में लावे, तथा फकीरी का वेप करके लोगों से धन एकठा करे, इत्यादि । तथा साधु के गुण तो उस में नहीं हैं, परन्तु लोगों में अपने आपको गुणी प्रकट करे, इत्यादिक कामों में द्रव्य हिंसा तो नहीं करता, परन्तु भाव से तो वो पुरुषहिंसक है, इस का फल अनन्त ससार में भ्रमण करने के सिवाय और कुछ नहीं । यह दूसरा भग ।

तीसरे भग में प्रकट रूप से इन्द्रियों के विषय में गृह्य हो कर जीव हिंसा करनी, जैसे कि कसाई, खटिक, घागुरी, अहेडी—शिकारी करते हैं । तथा विश्वासघात करना अरु मन में आनंद मानना, इत्यादि का समावेय है । इस का फल दुर्गति है । यह द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा है । यह तीसरा भग ।

चौथा भग द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं । उस को अहिंसा कहना यह भग शून्य है, इस भाग वाला कोई भी जीव नहीं ।

ऐसे ही शूठ के भी चार भेद हैं । तिन का स्वरूप कहते हैं । साधु रास्ते में चला जाता है, तिस के आगे हो कर एक जगली गौओं का तथा मृगादि जानवरों का टोला

निकल जाये, तिस के पीछे शिकारी रदूक प्रमुख रात्र लिये चला जाता है, उन को मारने के वास्ते वो शिकारी साधु को पूछे कि तुमने अमुक जीव जाते देते हैं ? तब साधु मौन कर जाये। जे कर मौन करने पर भी पीछा न छोडे, और साधु को मारे तब साधु कह देवे, कि मैंने नहीं देगे। यद्यपि यह द्रव्य से झूठ है, परन्तु भाव से झूठ नहीं, क्योंकि जो कोई इन्द्रियों की विषय वृत्ति के वास्ते तथा अपने लोभ के वास्ते झूठ बोलने तब भावन झूठ होये। परन्तु यह तो जीवों की दया के वास्ते झूठ बोला है। अतः वास्तव में यह झूठ नहीं है। इसी तरे आर जगे भी समझ लेना। यह प्रथम भग।

तथा दूसरा भग कोई पुरुष मुख से तो कुछ नहीं बोलता परन्तु दूसरों के डगने के वास्ते मन में अनेक विचल्प करता है, यह दूसरा भग। तथा तीसरे भग में तो द्रव्य से भी झूठ बोलता है, अरु भाव से भी झूठ बोलता है। तिस का अभिप्राय भी महा छल कपट करने का है। क्योंकि मुख से भी झूठ बोलता है, अरु चित्त में भी दुष्टता है, यह तीसरा भग, तथा चौथा भग तो पूर्ववत् शून्य है।

अथ चोरी के यही चार भग कहते हैं। तथा प्रथम भग में जैसे कोई स्त्री शील्यती है, और कोई दुष्ट राजा उस का शील भग करना चाहता है, तब कोई धमझ आदि पुरुष रात्रि में अथवा दिन में उस स्त्री के शील की रक्षा के

वास्ते उम को राज मे थाहिर ले जाये । तो व्यवहार में उस राजा की उमने आत्रा भग रूप चोरी करी है, परन्तु वास्त्व में वो चोर नहीं । इसी तरे और जगा में भी जान लेना । यह प्रथम भग । दूसरे भग में चोरी तो नहीं करता, परन्तु चोरी करने का मन उम का है, तथा जो भगवान् वीतराग सर्वज्ञ की आत्रा भग करने वाला है, सो भी भाव चोर है, यह दूसरा भद्र । तथा तीसरे भद्र में चोरी भी करता है, अरु मन में भी चोरी करने का भाव है, यह तीसरा भद्र है । अरु चौथा भद्र तो पूर्णतः शून्य है ।

ऐसे ही मैथुन के चार भद्र कहते हैं । जो माधु जल में डूबती माधुकीको देव फर काढ़ने के वास्ते पकड़े, तथा वर्मा गृहस्थ छत से गिरती अपनी बहिन घेटी को पकड़े, तथा वायरी होकर दौड़ती हुई को पकड़े । यह द्रव्य से मैथुन है, परन्तु भाव से नहीं, यह प्रथम भद्र । तथा द्रव्य से तो मैथुन सेवता नहीं है, परन्तु मैथुन सेवने की अभिगया रडी करता है, सो भाव से मैथुन है, यह दूसरा भद्र । तथा तीसरे भद्र में तो द्रव्य अरु भाव दोनों से मैथुन सेवता है । चौथा भद्र पूवत् शून्य है ।

ऐसे ही परिग्रह के चार भद्र कहते हैं । जैसे कोई मुनि कायोत्सर्ग कर रहा है, उस के गले में कोई हागदिक आभूषण गेर—डाल देये वो द्रव्य से तो परिग्रह दीयता है, परन्तु भाव से वह परिग्रह नहीं है, यह प्रथम भद्र । तथा

दूसरा—द्रव्य से तो उस के पान कौड़ी एक भी नहीं है, परन्तु मन में धन की उड़ी अभिलाषा रहना है, सो भाग परिग्रह है। तथा तीसरे में धन भी पास है, अरु अभिलाषा है, सो द्रव्यभाव करके परिग्रह है। चौथा भद्र पूर्ववत् शून्य है। इन सब भद्रों में दूसरा अरु तीसरा भद्र निश्चय करके अधिरति रूप है। यह पांच प्रकार की अधिरति।

अरु पञ्चम प्रकार की क्रिया का नाम अरु स्वरूप कहते हैं। १ काया करके जो की जाये, पञ्चम क्रियाएँ सो कायिकी क्रिया। २ आत्मा को नरकादि में जाने का जो अधिकारी बनाने, परोपघात करने से वागुरादि गल कृत्पाश करके नरकादि रूप अधिकरण को उत्पन्न करे, सो आधिकरणिकी क्रिया। ३ अधिक जो दोष सो प्रदोष—क्रोधादिक, तिन में जो उत्पन्न होवे, सो प्रादोषिकी क्रिया। ४ जीव को परिताप देने से जो उत्पन्न होवे, सो पारितापनिकी क्रिया। ५ प्राणियों के विनाश करने की जो क्रिया सो प्राणातिपातिकी क्रिया। ६ पृथिवी आदि काया का उपगत करना है लक्षण चिन्म का, पेसी जो शुष्क तृणादिच्छेद, लेगनादि क्रिया, सो आरमिकी क्रिया। ७ विविध उपायों करके धन उपाजन तथा धन रक्षण करने में जो मूर्च्छा के परिणाम, उस का गाम परिग्रह, तिन में जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो पारिग्रहिकी क्रिया। ८ माया ही है हेतु—प्रत्यय जिस का, मोक्ष के साधनों में

माया प्रधान प्रवृत्ति, सो मायाप्रात्ययिकी क्रिया । ६ मिथ्या
 त्य ही है प्रत्यय-कारण जिसका सो मिथ्यादर्शनप्रात्ययिकी
 क्रिया १० समय के विघातक कपायों के उदय से प्रत्याख्यान
 का न करना, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया । ११ रागादि क्लुपित
 भाव से जो जीव अज्ञान को देगना सो दर्शन क्रिया । १२
 राग, द्वेष, और मोह युक्त चिन्तने जो स्त्री आदिकों के शरीर का
 स्पर्श करना, सो स्पर्शन क्रिया । १३ प्रथम अर्गीकार करे हुये
 पापोंपादान कारण अधिकरण की अपेक्षा से जो क्रिया उत्पन्न
 होये, सो प्रातीत्यकी क्रिया । १४ समतात्—सर्व ओर
 से उपनिपात—आगमन होये, स्त्री आदिक जीवों का
 जिस स्थान में (भोजनादिक में) सो समतोपनिपात, तथा
 जो क्रिया उत्पन्न होये, सो सामतोपनिपातिकी क्रिया । १५
 जो परोपदेशित पाप में चिरकाल प्रवृत्त रहें, उस पाप की जो
 भाव में अनुमोदना करे, सो नैसृष्टिकी क्रिया । १६ अपने
 हाथ करके जो करे, जैसे कि कोई पुरुष बड़े अभिमान से
 प्रोहित हो कर जो काम उस के नौकर कर सकते हैं, उस
 काम को अपने हाथ से करे, सो स्वाहस्तिकी क्रिया ।
 १७ भगवत् अर्हन् की आज्ञा का उल्लंघन करके अपनी बुद्धि से
 जीवाजीवादि पदार्थों के प्ररूपण द्वारा जो क्रिया, सो आज्ञा-
 पनिकी क्रिया । १८ दूसरों के अन होये छोटे आचरण का
 प्रकाश करना, उन की पूजा का नाश करना, तिस से जो
 उत्पन्न होये, सो वैदारणिकी क्रिया । १९ आभोग नाम

हैं उपयोग का तिस में जो विपरीत होने, सो अनाभोग है, तिस करके उपलभित जो क्रिया सो अनाभोगिकी क्रिया । अर्थात् बिना देखे, बिना पूजे दश अर्थात् भीत भूम्यादिक में दारीरादिक का निक्षेप करना, सो अनाभोगिकी क्रिया । २० अपर्णा धार पर की जो अपेक्षा करनी, तिस का नाम अनवकाक्षा है, इस में जा विपरीत तिस का नाम, अनवकाक्षा है, सोई है कारण जिस का सो अनवकाक्षप्रात्ययिकी क्रिया । तात्पर्य कि जिनोक्त कर्तव्य विधियों में न जो विधि अपने को तथा और जीवों को हितकारी है, तिस विधि का प्रमाद क वश हो कर बादर न करना, सो अनवकाक्षा प्रात्ययिकी क्रिया है । २१ प्रयोग—झूटना चलना आदि काया का व्यापार, अरु हिंसाकारी, कठोर, झुठ धोल्ना आदि घञन का व्यापार, पराभिद्रोह, ईर्ष्या अभिमानादि मनोव्यापार इन तीनों की जो प्रवृत्ति, सो प्रायोगिकी क्रिया । २२ जिस करके विषय का ग्रहण किया जावे सो समादान-इन्द्रिय, तिसकी जो क्रिया-देय तथा सय उपघातरूप व्यापार, सो समादान क्रिया । २३ प्रेम (राग) नाम है माया अरु लीमका, तिन करक जो होवे, सो प्रेमप्रात्ययिकी क्रिया । २४ द्वेष नाम है क्रोध अरु मान का तिन करक जो होवे, सो द्वेषप्रात्ययिकी क्रिया । २५ चलने से जो क्रिया होय सो ईर्यापायिकी क्रिया । यह क्रिया धीनराग को होती है ।

अब इन पच्चीस क्रिया का व्याख्यान करते हैं । १ प्रथम

कायिकी क्रिया दो प्रकार की है, एक अनुपरत कायिकी क्रिया, दूसरी अनुपयुक्त कायिकी क्रिया । उस में दुष्ट मिथ्यादृष्टि जीव के मन वचन की अपेक्षा से रहित पर जीवों को पीडाकारी, ऐसा जो काया का उद्यम सो प्रथम भेद है । तथा प्रमत्त सयत का जो बिना उपयोग के अनेक कर्त्तव्य रूप काया का व्यापार, सो दूसरा भेद । २ दूसरी आधिकारिणी क्रिया दो प्रकार से है । एक सयोजना, दूसरी निवर्त्तना । उन्म में विष, गरुड, फासी धनु, यत्र, तलवार आदि शस्त्रों का जीवों के मारने वास्ते जो सयोजन अर्थात् मिलाप करना, जैसे धनुष अरु तीर का मिलाप करना, इसी तरें सर्व जानना, यह प्रथम भेद । तथा तलवार, तोमर, शक्ति, तोप, चट्टक, इन का जो नये सिरे से धनाना, यह दूसरा भेद । ३ जिन निमित्तों से श्रेय उत्पन्न होवे, सो निमित्त जीव अजीव भेद से दो प्रकार के हैं । उस में जीव तो प्राणी, अरु अजीव सूत्रा, काटा, पत्थर फकर आदि, इन के ऊपर द्वेष करे । ४ तथा अपने हाथों करके, अरु पर के हाथों करके, जीव को ताडना-पीडा देनी सो परितापना । इस परितापना के दो भेद हैं एक तो स्व-अपने आप को पीडा देनी, जैसे पुत्र कल्गादि के वियोग से दुःखी होकर अपने हाथों से छाती और सिर का कूटना, यह प्रथम भेद । तथा पुत्र शिष्यादि को ताडना-पीटना, यह दूसरा भेद । ५ पाचमी प्राणातिपातिकी क्रिया के दो भेद हैं, एक तो अपने आप का घात करना जैसे कि

हे उपयोग का तिम मे जो विपरीत होये, सो अनामोग है, तिम करक उपलक्षित जो क्रिया, सो अनामोगिकी क्रिया । अथात् बिना वेद्य, बिना पूजे वश अर्थात् भीत भूम्यादिक मं शरीरादिक का निषेध करना, सो अनामोगिकी क्रिया । २० अपनी और पर की जो अपेक्षा करनी, तिस का नाम अवकाक्षा है इस म जा विपरीत तिस का नाम, अनवकाक्षा है सांड है कारण जिस का सो अनवकाक्षप्रात्ययिकी क्रिया । तात्पर्य कि जिनोक्त कर्तव्य विधियों मे म जो विधि भयन की तथा और जीवों को हिनकारी है, तिस विधि का प्रमाद के वश हो कर आदर न करना, सो अनवकाक्षा प्रात्ययिकी क्रिया है । २१ प्रयोग—दौड़ना चलना आदि काया का व्यापार, अरु हिंसाकारी, कठोर, झूठ घोलना आदि वचन का व्यापार, पराभिद्रोह, ईर्ष्या, अभिमानादि मनोव्यापार इन तीना की जो प्रवृत्ति, सो प्रायोगिकी क्रिया । २२ जिस करके विषय का ग्रहण किया जावे सो समादान-इन्द्रिय, तिसकी जो क्रिया—दृश तथा मय उपधातरूप व्यापार, सो समादान क्रिया । २३ प्रेम (राग) नाम है माया अरु लोभका, तिन करके जो होये, सो प्रेमप्रात्ययिकी क्रिया । २४ द्वेष नाम है मोघ अरु मान का तिन करक जो होये, सो द्वेषप्रात्ययिकी क्रिया । २५ चलने मे जो क्रिया होये, सो ईयापायिकी क्रिया । यह क्रिया चीतराग की होती है ।

अब इन पच्चीस क्रिया का व्याख्यान करते हैं । १ प्रथम

कायिकी क्रिया दो प्रकार की है, एक अनुपरत कायिकी क्रिया, दूसरी अनुपयुक्त कायिकी क्रिया । उस में दुष्ट मिथ्यादृष्टि जीव के मन वचन की अपेक्षा से रहित पर जीवों को पीडाकारी, ऐना जो काया का उद्यम, सो प्रथम भेद है । तथा प्रमत्त सयन का जो बिना उपयोग के अनेक कर्त्तव्य रूप काया का व्यापार, सो दूसरा भेद । २ दूसरी आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार से है । एक सयोजना, दूसरी निवर्त्तना । उस में विष, गरुड, फासी, धनु, यत्र, तलवार आदि शस्त्रों का जीवों के मारने वास्ते जो सयोजन अर्थात् मिलाप करना, जैसे धनुष अरु तीर का मिलाप करना, इसी तरे सर्व जानना, यह प्रथम भेद । तथा तलवार, तोमर, शक्ति, तोप, चट्टक, इन का जो नये सिरे से बनाना, यह दूसरा भेद । ३ जिन निमित्तों से श्लोथ उत्पन्न होते, सो निमित्त जीव अजीव भेद से दो प्रकार के हैं । उस में जीव तो प्राणी, अरु अजीव मृदा, काटा, पत्थर फकर आदि, इन के ऊपर द्वेष करे । ४ तथा अपने हाथों करके, अरु पर के हाथों करके, जीव को ताडना-पीडा देने सो परितापना । इस परितापना के दो भेद हैं, एक तो स्व-अपने आप को पीडा देने, जैसे पुत्र कलत्रादि के वियोग से दुःखी होकर अपने हाथों से छाती और सिर का कूटना, यह प्रथम भेद । तथा पुत्र शिष्यादि को ताडना-पीडना, यह दूसरा भेद । ५ पाचमी प्राणातिपातिकी क्रिया के दो भेद हैं, एक तो अपने आप का घात करना जैसे कि

जान घूझ कर पर्वत में गिर कर मर जाना, भर्त्ता के साथ
 मृती होने के वास्ते अग्नि में जल मरना, पानी में डूब के
 मरना, विष खा के मरना, शस्त्र में मरना, इत्यादि म्यप्राणा
 तिपात महापाप रूप क्रिया यह प्रथम भेद । तथा दूसरी
 मोह, लोभ, भ्रोव क वश होकर पर जीव को म्व अथवा पर
 के हाथ से मारना । ६ जीव अजीव का आरम्भ करना,
 सो आरम्भिकी क्रिया । ७ जीव अजीव का परिग्रह करना,
 सो पारिग्रहिकी क्रिया ८ माया करनी, सो मायाप्रात्यायेकी
 क्रिया । ९ विपरीत वस्तु का श्रद्धान है निमित्त जिस का
 सो मिथ्यात्वदर्शन प्रात्ययिकी क्रिया । १० जीव के हनने का
 तथा अजीव—मद्य मासादि पीने खाने का जिस क त्याग नहीं,
 ऐसा जो असयती जीव तिस की क्रिया अप्रत्याप्त्यानिकी
 क्रिया । ११ घोड़ा, रथ प्रमुख जीव तथा अजीवों के देखने के
 वास्ते जाना, सो दर्शन क्रिया । १२ जीव, अजीव, स्त्री,
 पुतली आदि का राग पूर्वक स्पर्श करना सो स्पर्शन क्रिया ।
 १३ जीव अजीव की अपेक्षा जो कर्म का बध होवे, सो
 प्रातीत्यकी क्रिया । १४ जीव—पुत्र, भाइ, शिष्यादिक,
 अजीव—भूषण, घर हट्टादि, इन को जय सर्व दिशाओं से
 लोग देखने को आवें, देख कर प्रशंसा करें, तब तिन वस्तुओं
 का स्वामी हपित होवे, सो सामतोपनिपातिकी क्रिया । १५
 जीव—मनुष्यादि अरु अजीव—ईंट का टुकड़ा आदि, इन को
 फेंके, सो नैखण्टिकी क्रिया । १६ अपने हाथों करी जीव को

तथा अजीव जो—प्रतिमादि को ताडे, रंधे, सो स्वाहस्तिनी क्रिया, १७ जीव अजीव की मिथ्या प्ररूपणा करनी, तथा जीव अजीव को मत्र से भगवाना, सो आज्ञापनी क्रिया । १८ जीव और अजीव को विदारणा, सो वैदारणिकी क्रिया । १९ बिना उपयोग से जो वस्तु लेने तथा भूमिकादि पर छोडे, सो अनाभोगिकी क्रिया । २० इस लोकमें और परलोक में विरुद्ध ऐसा जो चोरी परदारागमनादिक है, उनको लेने, मन में डरे नहीं, सो अनपकाना प्रात्ययिकी क्रिया । २१ मन, वचन, काया का जो सायय पापसहित व्यापार, सो प्रायोगिकी क्रिया । २२ अष्टविध कर्म परमाणुओं का जो ग्रहण करना, सो समादान क्रिया । २३ राग जनक वीणादि का जो शब्दादि व्यापार, सो प्रेमप्रात्ययिकी क्रिया, २४ अपने ऊपर तथा पर के ऊपर जो द्वेष करना, सो द्वेषप्रात्ययिकी क्रिया । २५ केवल योग से जो क्रिया, सो केवली की ईर्यापथिकी क्रिया । यह पच्चीस क्रिया का स्वरूप सक्षेप मात्र लिखा है । यद्यपि इन क्रियाओं में कितनीक क्रिया आपस में एक सरीखी दीखती हैं, तो भी एक सरीखी नहीं हैं । इन का अच्छी तरें स्वरूप देयना होवे, तो गधहस्तीभाष्य देख लेना ।

अथ योग तीन हैं, सो लिखते हैं । १ मन का व्यापार, सो मनोयोग, २ वचन का व्यापार, सो वचनयोग, ३ काया का व्यापार, सो काययोग ।

यह सर्व मिल कर घैतालीस भेद आश्रयतत्त्व के होने

हैं। इन धैतालीस भेदों में जीय को शुभाशुभ काम की आमदनी होती है।

अथ सवरतत्त्व लिखते हैं। पूर्वोक्त आधय का जो रोकने वाला सो सवर है। तिस सवर के सत्तायन सवर तत्त्व का भेद है, सो कहते हैं। पाच समिति, तीन स्वरूप गुप्ति, दश प्रकार का यतिधर्म बारह भावना बावीस परिपह, पाच चरित्र, यह सब मिल कर सत्तायन भेद होते हैं। इनमें से पाच समिति, तीन गुप्ति दशविध यतिधर्म, बारह भावना का स्वरूप गुरु तत्त्वमें लिख आये हैं, यहा से जान लेना।

बावीस परिपह का स्वरूप लिखत हैं। १ शुधापरिपह, शुधा नाम भूष का है, अन्य वेदनाओं से बावीस परिपह अधिक भूष की वेदना है, जस जुधा लगे, तस अपनी प्रतिज्ञा से न चले अरु आत्तध्यान भी न करे, सम्यक् परिणामों से जुधा को सह सो चुत्परिपह। २ ऐमे ही पिषाम्ना जो तृषा, तिस का परिपह भी जान लेना। ३ शीतपरिपह जस थड़ा भारी शीत पड, तस भी अकल्पित धस्त्र की घाछा न करे। जैसे भी जीण धस्त्र होवें, उनों ही से शीत को सह, अरु अग्नि भी न तापे, इस रीति से सम्यक् शीत परिपह को सह। ४ ऐमे ही उष्णपरिपह भी सह। ५ दंशमराकपरिपह सा दश मराक जय काट, तस उस स्थान से चले जाने की इच्छा न करे, तथा दंश मराक

को दूर करने के रास्ते धूमादि का यत्न भी न करे, तथा
 तिन के निगारण के रास्ते पत्ता भी न करे, इस प्रकार से दश-
 मसक परिग्रह को सहे । ६ अचेलपरिग्रह, चेल नाम वस्त्र का
 है, सो शीर्ण अर्थात् फटे हुए और जीर्ण भी होये, तो भी अक-
 लिप्त वस्त्र न लेये, सो अचेल परिग्रह । सर्वथा उस्त्रों के
 अभाव का नाम अचेल परिग्रह नहीं । क्योंकि आगम में जो
 वस्त्रादिक रखने का जो प्रमाण कहा है, उन्म प्रमाण में
 रखना परिग्रह नहीं है । परिग्रह उसको कहते हैं, कि जो
 मूर्च्छा रखे । उक्त च —

* जपि वत्थ व पाय वा कण्ठ पायपुच्छण ।

तपि मजमन्नज्जट्ठा, धारति परिहरति य ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेगा ताडणा ।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्त महेमिणा ॥

* छाया—यद्यपि वस्त्र च पात्र च, कम्बल पात्रपुच्छनम् ।

तदपि सयम लज्जार्थं धारयन्ति परिहितं च ॥

न य परिग्रह उतो ज्ञानपुत्रेण प्रायिणा ।

मूर्च्छा परिग्रह उक्त इत्युक्त महर्षिणा ॥

भावार्थ—यद्यपि वस्त्र, पात्र, कबल, रजोहरणादि उपकरण साधु
 ग्रहण करते एवं उपभोग करते हैं, तथापि वे सब गयम की रक्षा के लिये
 है । अतः भगवान् महावीर स्वामी ने उन्हें परिग्रह नहीं कहा, अपितु
 मूर्च्छा-ममत्त्व की ही परिग्रह कहा है । ऐसा गणधर देव का कथन है ।

७ अरतिपरिपह, सयम पालने में जो अरति उत्पन्न होये, तिसको सहे । इसके सहने का उपाय दशवैकालिक की प्रथम श्रुतिका में अठारह घन्टु का चित्तन रूप है । अर्थात् उमके करने से अरति दूर हो जाती है । ८ स्त्री परिपह, स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, सम्भान सुरति, हसना, मनोहरता आर विभ्र मादि चेष्टाओं का मन में चित्तवा न करे, तथा स्त्रियों को मोक्ष भाग में अगलसमान जान कर उनको कामकी युद्धि करके नेत्रों से न देखे । ९ चर्या नाम चलने का है, चलना अर्थात् घर से रहित ग्राम नगरादि में ममत्व रहित मास कल्पादि कर्मा, सो चर्यापरिपह है । १० निपद्यापरिपह, निपद्या रहने के स्थान का नाम है, सो जो स्थान स्त्री, पडक विवर्जित होये, तिस स्थान में रहते हुए को यदि इष्टानिष्ट उपसर्ग होये, तो भी अपने चित्त में चलायमान न होये, सो निपद्यापरिपह ११ 'शरते-शयन करिये जिसमें, सो शय्या-सम्भारक सोने का आसन,सो कोमल,कठिन,ऊचा नीचा या धूल,जूड़ा, ककरवाली जगह में होये तथा घो स्थान शीत गर्मी घाला होये, तो भी मन में उद्वेग न करे कि तु दुःख सहन करे, सो शय्यापरिपह । १२ आयोग परिपह यदि कोई अनिष्ट वचन फहे, तब ऐसे विचारे, कि जेकर वह पुरुष सच्ची यात के धारते अनिष्ट वचन कहता है, तो मुझको कोप करना ठीक नहीं, क्योंकि यह पुरुष मुझ सिद्धा देता है । और जे कर इस पुरुष का मेरे पर झूठा आरोप है, तो भी मुझको कोप

करना युक्त नहीं, क्योंकि इसका फल यह स्वयं भोगेगा। ऐसे चिन्तन करके आनोयररिपह का सहे। १३ वधपरिपह, हाथ आदि करके नाडना करना-मारना, तिसका सहन करना वध परिपह है। सो इस रीति से कि यह जो मेरा शरीर है, सो अथग्य विध्वंस होयेगा, तथा इस शरीर के सम्यन्ध मे मेरे को जो दुःख होता है, सो मेरे करे हुए कर्म का फल है। इस युद्धि से वध परिपह को सहे। १४ याचना नाम मागने का है, तथा सर्वही वस्त्र अन्नादिक साधुओं को मागने से ही मिलता है। इस युद्धि से याचना परिपह को सहे। १५ साधु को किमी वस्तु की इच्छा है, अरु वो वस्तु गृहस्थ के घर में भी बहुत है, साधु मागने को गया, परन्तु गृहस्थ देता नहीं, तत्र साधु मन में त्रिपाट न करे, अरु देने वाले का गुरा भी न चिन्तये, दुयेचन भी न बोले, समता करे, आज नहीं मिला, तो फलको मिल जायगा, इस तरह अलामपरिपह को सहे। १६ रोग-ज्वर अनिमारादि जत्र हो जाये, तत्र गच्छ के गहर जो साधु होये, सो तो कोई भी औषधि न खाये, अरु जो गच्छगामी साधु होये, सो गुरु लाघवता का विचार करके रोग परिपह को सहे। तथा जो रीति शास्त्र मे औषध ग्रहण करनेकी कही है, तिस रीति से करे। १७ वृणस्पर्श परिपह, दर्मादिक कठोर वृण का स्पर्श सहे। १८ मलपरिपह, साधु के शरीर में पसीना आने से रजका पुत्र शरीर में लगने से फटिन मैट लग जाता है, अरु उष्ण

बाल की तस से यदि दुर्गंध तथा उठग उत्पन्न हो, तो भी स्नानादि से शरीर की विभूषा साधु न करे । यह मल परिपह है । १९ सत्कारपरिपह, भक्त लोगों ने घरघर पानादि करके साधु का बहुत सत्कार भी किया हो, तो भी मन में अभिमान नहीं करना, तथा और २ साधुओं की भक्त लोग पूजा भक्ति करते हैं, परन्तु जनमत के साधु की कोई बात भी नहीं पूछना, ऐसे विचार कर भी मन में विषाद न करे । यह सत्कारपरिपह है । २० प्रज्ञापरिपह, बहुत बुद्धि पाकर अभिमान न करे, तथा अल्पबुद्धि होये तो 'मैं महा मूर्ख हूँ, सर्व के परमेश का स्याम हूँ' ऐसे सनाप दीनता मन में नहीं लाये, सो प्रज्ञापरिपह [ज्ञानपरिपह] २१ अज्ञानपरिपह चौदहपूर्वपाठी, पचादशागपाठी, तथा उपाग, छेद, प्रकरण, शास्त्रों का पाठी, ज्ञान का समुद्र मैं हूँ ऐसा गर्व न करे । अथवा मैं आगम के ज्ञान से रहित हूँ, धिक्कार हूँ मुझ निरक्षर बुद्धिभर को । ऐसी दीनता भा न कर । किन्तु ऐसे विचारे कि केवल ज्ञानावरण के क्षयोपरम के उदय से मेरा यह स्वरूप है, स्वष्टकर्म का फल है, या तो यह भोगने से दूर होयेगा, या तपोनुष्ठान से दूर होयेगा । ऐसे विचार कर अज्ञान परिपह को सहे । २२ शास्त्रों में देवता अरु इन्द्र सुनते हैं, परन्तु सान्निध्य कोई भी नहीं करता इस, वास्ते क्या जाने देवता, इन्द्र हैं ? या नहीं ? तथा मतांतर की शक्ति श्रद्धि को देख कर जिनोक्त तत्त्व में समोह करना, इस प्रकार

की विकलता को मत में न लाना, सो दर्शनपरिपह है। यह वाईस परिपह जो साधु जीते, सो सजरी—सजरवाला कहा जाता है, इन परिपहों का विस्तार देखना होये, तो श्रीशांति-सूरिकृत उत्तराध्ययन सूत्र की वृद्धवृत्ति, तथा तत्पार्थ सूत्र की भाष्यवृत्ति देख लेनी।

अथ पाच प्रकार का चारित्र लिखते हैं। १ सामायिक चारित्र, २ छेदोपस्थापनिका चारित्र, ३ परिहारविशुद्धि चारित्र, ४ सूक्ष्मसंपराय चारित्र, ५ यथाख्यात चारित्र, यह पाच प्रकार का चारित्र है। इन पाचों के धारक साधु भी जैनमत में पाच प्रकार के हैं। इस काल में प्रथम के दो प्रकार के चारित्र के धारक साधु है। अरु तीन चारित्र व्यवच्छेद हो गए हैं। इन पाचों का विस्तार देखना होये तो श्रीदेवाचार्यकृत नवतत्त्व प्रकरण की टीका तथा भगवती अरु पद्मप्रणालसूत्र की वृत्ति देख लेनी। यह सर्व मिल कर सत्ताम्र भेद आश्रय के रोकने वाले है।

अथ निर्जरा तत्त्व लिखते हैं। निर्जरा उस को कहते हैं, जो बाधे हुये कर्मों को खेर करे—खेरे अर्थात् निर्जरा तत्त्व आत्मा मे अलग करे, जिस मे निर्जरा होती है, तिस का नाम तप है। सो तप बारह प्रकार का है, उस का स्वरूप गुहनत्त्व के निरूपण में संक्षेप से लिख आये हैं, वहा से जान लेना। अरु जेकर विस्तार देखना होये, तो नवतत्त्वप्रकरणवृत्ति तथा श्रीवर्द्धमानसूरिकृत

आचारदिनकर शास्त्र तथा धीरत्तशेखरसूरिद्वारा आचारप्रदीप तथा भगवतीसूत्र अरु उपवाइ शास्त्र में देख लेना ।

अथ यद्यत्तत्र लिखते हैं । यद्य चार प्रकार का होना है—

१ प्रवृत्तिबंध, २ स्थितिबंध, ३ अनुभाग-
बंध तत्र यद्य, और ४ प्रदेशयद्य । जीव के प्रदेश तथा
का स्वरूप धम्मपुद्गल, ये दोनों दूध और पानी की तर्रों
परस्पर मिल जायें, उस को यद्य कहते हैं ।

अथवा यद्य नाम वदीशान का है, जैसे यधुआ कैद में स्थित
नहीं रहता, ऐसे आत्मा भी ज्ञानावच्छेदिकादि धर्मों के बंध
होना हुआ स्थित नहीं रहना है । इस कर्म के यद्य में छे
विकल्प हैं, सो कहते हैं ।

प्रथम विकल्प—फोई घादी कहना है, कि आत्मा प्रथम तो
निर्मल था—पुण्य पाप के बंध से रहित था यह पुण्य पाप का
यद्य उस को पीछे से हुआ है । परन्तु यह विकल्प मिथ्या है,
क्योंकि निर्मल जीव कर्म का यद्य नहीं कर सकता, और
कर्म के बिना ससार में उत्पन्न भी नहीं हो सकता है । जेकर
निमल जीव कर्म का यद्य करे, तब तो मोक्षस्थ जीव भी
कर्म का यद्य कर लेवेगा । जब मोक्षस्थ जीव को कर्मबंध हुआ,
तब तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा । जब मोक्ष नहीं,
तब तो मोक्षोपयोगी शास्त्र अरु शास्त्रों के धनाने घाले सब
मिथ्यावादी हो जावेंगे, और सभी तब तो नास्तिवमती धन
जायगे । तथा निमल आत्मा ससार में शरीर के अभाव से कम

मी माहे से करेगा ? इस वास्ते यह प्रथम विकल्प मिथ्या है ।

दूसरा विकल्प—कर्म पहले थे अरु जीव पीछे से बना है, यह भी मिथ्या है । क्योंकि जीवों के बिना जो कर्म किसने करे ? कारण कि कर्त्तक बिना कर्म कदापि हो नहीं सकते । तथा प्रथम के कर्मों का फल भी इस जीव को नहीं होना चाहिये, क्योंकि वो कर्म जीव के करे हुए नहीं है । जेकर कर्म के करे बिना भी कर्म फल होये, तब तो अतिप्रसंग दूषण होवेगा । तब तो बिना कर्म करे ईश्वर भी कर्म फल भोगने के वास्ते नरककुंड में जा गिरेगा । तथा जीव भी पीछे काहे से बनेगा ? क्योंकि जीव का उपादान कारण कोई नहीं है । जे कर कहो कि ईश्वर जीव का उपादान कारण है, तब तो कारण के समान कार्य भी होना चाहिये । जैसा ईश्वर निर्मल, निष्पाप, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, तैसा ही जीव होवेगा, परन्तु ऐसा है नहीं । एव यदि ईश्वर जीवों का उपादान कारण होये, तब तो ईश्वर ही जीव बन कर नाना हेतु—जन्म मरण गर्भावसादि दुःखों का भोगने वाला हुआ । परन्तु ईश्वर ने यह अपने पग में बाप कुहाड़ा क्यों मारा ? जो कि पूर्णानन्द पद की छोड़ कर समाज की पिडबनामें क्यों फरसा ? फिर अपने आपको निष्पाप करने के वास्ते वेदादि शास्त्रों द्वारा कई तरे का तप जपादिक ज्ञेश करना थताया ? इस वास्ते यह दूसरा विकल्प भी मिथ्या है ।

तीसरा विकल्प यह है कि—जीव और कर्म दोनों एव

साय उत्पन्न हुये हैं। यह भी मिथ्या है। क्योंकि जो वस्तु समकाल में उत्पन्न होती है, सो अप्यम में कारण काय रूप नहीं हानी। और जब कम जीव के करे सिद्ध न हुये, तब तो कर्म का फल भी जीव नहीं भोगेगा, यह प्रत्यक्ष विरोध है। क्योंकि जीवों को कर्म का फल भोगने हुए स्पष्ट देखते हैं, परन्तु कम तथा जीव का उपादान कारण कोई नहीं। इस घास्ते यह तीसरा विकल्प भी मिथ्या है।

चौथा विकल्प—जीव तो है, पणु जीव के कर्म नहीं। यह भी मिथ्या है, क्योंकि जब जीव के कर्म नहीं तो जीव बुद्ध सुख कैसे भोगता है? कर्म के बिना ममार की विचित्रता कदापि न होवेगी। इस घास्ते यह चौथा विकल्प भी मिथ्या है।

पाचमा विकल्प—जीव अरु कम यह दोनों ही नहीं। यह भी मिथ्या है, क्योंकि जब जीव ही नहीं तब यह कौन कहना है कि जीव अरु कम नहीं है। ऐसा कहने वाला जीव है? कि दूसरा कोई है? यह तो स्वयंचन विरोध है, इस घास्ते यह पाचमा विकल्प भी मिथ्या है। यह पाचों मिथ्यात्व रूप हैं अरु सत्य रूप तो छठा विकल्प है।

छठा विकल्प—जीव अरु कम, यह दोनों भनादि—अर्प भानुपूर्णी हैं।

प्रश्न —जब जीव अरु कम यह दोनों भनादि हैं, तब तो जीव की तरे कर्म का नाश कदापि न होना चादिये?

कहाता है सो गोत्र कर्म । ८ अंतर पहिले घिचाले-मध्य में लामादि के जो हो जाये, एनायता जीव में दान लामादि के होते को भी न होने देवे, सो अन्तराय । यह आठ स्वभावरूप कर्म जो जीव के साथ क्षीर नीर की तरें मिथ्यात्वादि हेतुओं से बंध जाये, तिस का नाम प्रकृतियन्ध है । २ इनहीं आठ प्रकृतियों की म्यिति अथात् काल मर्यादा, जैसे कि यह प्रकृति इतना काल तब आत्मा के साथ रहेगी, जिस करके ऐसी स्थिति होये, सो म्यिति बंध । ३ इनहीं-आठ प्रकृतियों में रस का तीव्र, मंद होना अनुभागरंध । ४ बंध प्रदेश का जो प्रमाण, यथा-इतने परमाणु इस प्रकृति में हैं । उन परमाणुओं का जो आत्मा के साथ बंध सो प्रवेशबंध ।

इस तरे यह चार प्रकार कर्मबंध के बंधे हैं, अथ भव्य जीवों के बोध के घास्त इस चार प्रकार के बंध में दिया गया लड्डु की दृष्टान लिखन हैं । औषधियों से बना हुआ एक लड्डु है तिसका स्वभाव घात के हरने का वा पित्त के हरने का अथवा कफ हरने का होता है । ऐसे ही कर्मों की प्रकृतियों में किसी प्रकृति का ज्ञान को धारण करने का स्वभाव, किसी प्रकृति का दर्शन को धारण करने का स्वभाव होता है, सो पहला प्रकृतियंध है । २ कोई लड्डु एक दिन रह के बिगड़ जाता है कोई दो दिन, चार दिन तथा कोई एक पक्ष या एक मास तक रहकर पीछे से बिगड़ जाता है । ऐसे ही कर्म की स्थिति भी एक घड़ी, पहर, दिन, पक्ष, मास, यावत् सत्तर फोटा

कोटी सागरोपम तक रहकर फल दे करके चली जाती है । यह दूसरा स्थितिग्रह । ३ जैसे किसी लड्डु में फसला रस, किसी में फडुवा और किसी में मीठा, ऐसे ही कर्मों में रस है अर्थात् किसी में दुःख रूप और किसी में सुख रूप है । जो जो अवस्था जीव की सत्कार में होती है, सो सर्व कर्म के अनुभाग से होती है । यह तीसरा अनुभाग ग्रह । ४ जैसे लड्डु के तोल, मान में, कोई लड्डु एक तोला और कोई छटाकादि का होता है, ऐसे ही कर्म प्रदेशों की गिनती भी किसी कर्म में थोड़ी, किसी में अधिक होती है, यह चौथा प्रदेश ग्रह है । यह वृष्टात कर्म ग्रह मे है । *

अथ ग्रह के हेतु लिखते हैं । १ मिथ्यात्व—तत्त्वार्थ में ध्यान रहित होना । २ अतिरतिपना—पापों से ग्रह के हेतु निवृत्त होने के परिणाम से रहित होना । ३ कपाय—कप नाम है सत्कार का तथा कर्म का, तिस का जो आय—लाम सो कपाय—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप । ४ योग-मन, वचन, काया का व्यापार । यह चारों ग्रह के मूलहेतु हैं । उत्तर हेतु सत्तावन हैं, सो लिखते हैं । उस में प्रथम मिथ्यात्व, पाच प्रकार का है—१ अमिग्रह मिथ्यात्व २ अनमिग्रह मिथ्यात्व, ३ अमि-नियेय मिथ्यात्व, ४ सण्यमिथ्यात्व, ५ अनाभोग मिथ्यात्व ।

१ अभिप्रह मिथ्यात्व—जो जीव ऐसा जानता है, कि जो कुछ मैंने समझा है सो सत्य है, औरों की मिथ्यात्व के समझ ठीक नहीं है। तथा सच झूठ की भेद प्रभेद परीक्षा करने का भी उस का मन नहीं है, सच झूठ का विचार भी नहीं करता, यह अभिप्रह मिथ्यात्व। यह मिथ्यात्व, दोषित शाक्यादि-अयमन ममत्व धारियों को होता है। जो अपने मन में ऐसे जानते हैं कि जो मत हमने अंगीकार किया है, वो सत्य है, और सर्व मत झूठ हैं।

२ अनभिप्रह मिथ्यात्व—सर्व मतों को अज्ञा मानना, सब मतों से मोक्ष है, ऐसा जानकर किसी को तुरा न कहना, सब को नमस्कार करना। यह मिथ्यात्व जिनों ने किसी भी दशन को ग्रहण नहीं करा ऐसे जो गोपाल बालकादि, उन में है, क्योंकि यह अमृत अरु विष को एक सरसा जानने वाले हैं।

३ अभिनिवेश मिथ्यात्व—सो जान बूझ कर झूठ बोलना और उस के वास्ते आग्रह करना है। जैसे कोई पुरुष प्रथम तो अज्ञान से किसी शास्त्र के अर्थ को भूल गया, पीछे जब कोई विद्वान् फहे कि तुम इस बात में भूलते हो, तब झूठे मत का कदाग्रह ग्रहण करे और ज्ञात्यादि के अभिमान से कहना न माने, उलटा स्वकपोलकल्पित कुयुक्तियों से अपने मनमाने मत को सिद्ध करे, चाद' में हार जाये, तो भी न

माने । ऐसा जीव प्रतिशयो अरु यदुल सलारी होता है । यह मिथ्यात्व प्रायः जो जैन-जैनमत को विपरीत कथन करता है उसमें होता है । जैसे गोष्ठमाहितादिक हुए हैं । यह बात श्री अभय देवसूरि नपागीवृत्तिकार नयनरप्रकरण के भाष्य में बहुत है —

* गोष्ठामाहिनमाईण, ज अभिनिविसि तु तपं ॥

आदि शब्द से शब्दिक विवभूति में आभिनिवेशिक मिथ्यात्व जानना ।

४ सरय मिथ्यात्व—जो जिनोक्त तत्र में रखा करनी । क्या यह जीव असंख्य प्रदेयी है ? या नहीं है ? इस तरे सरय पदार्थों में शक्य करनी, तिसमें जो उत्पन्न होये, सो संस्रयिक मिथ्यात्व है । † तदाह "भाष्यटत्—नाशयिक मिथ्यात्व तदिति शेष । शक्य-सदहो जिनोक्त तत्रयेप्रिति ' सरय मिथ्यात्व के होन के कारण थीजिनभद्रगणितमाधमण ध्यान-रतन में लिखते हैं, कि एक तो जैनमत स्याद्वाद्दरुप अनन-नयारमक है, इस वास्ते समझना कठिन है । तथा सतभगी के मकलादेयी, विकलादेयी भगी का स्वरूप, अष्टपत्त, सात

* गेया का पृथक् इग प्रचार है —

आदिमाहिय किम दिविरथाय अयिगिगदिय गु इभराज ।

† यह गद-तत्वभाष्य टीका का पाठ है टीका कर्ता यगोदक उपाध्याय है ।

१ अभिप्रह मिथ्यात्व—जो जीव ऐसा जानता है, कि जो कुछ मैंने समझा है, सा सत्य है, औरों की मिथ्यात्व के समझ ठीक नहीं है । तथा सब भूट की भेद प्रभेद परीक्षा करने का भी उस का मन नहीं है, सब भूट का विचार भी नहीं करता, यह अभिप्रह मिथ्यात्व । यह मिथ्यात्व, दोषित शास्त्रादि-अयमन ममत्व धारियों को होता है । जो अपने मन में ऐसे जाते हैं, कि जो मत हमने अंगीकार किया है, वो सत्य है, और सर्व मत भूटे हैं ।

२ अनभिप्रह मिथ्यात्व—सर्व मतों को अच्छा मानना, सर्व मतों से मोक्ष है, ऐसा जानकर किसी को धुरा न कहना, सर्व को नमस्कार करना । यह मिथ्यात्व जिनों ने किसी भी दर्शन को ग्रहण नहीं करा, ऐसे जो गोपाल धालकादि, उन में है, क्योंकि यह अमृत अरु विष को एक सरला जानने वाले हैं ।

३ अभिनिवेश मिथ्यात्व—सो जान बूझ कर भूट खोलना और उस के घास्ते आप्रह करना है । जैसे कोई पुराण प्रथम तो अज्ञान में किसी शास्त्र के अर्थ को भूल गया, पीछे जब कोई विद्वान् यह कि तुम इस बात में भूलते हो, तब भूटे मत का अप्रह प्रहण करे और जात्यादि के अभिमान में रहना न माने, उलटा स्वयंपोलकत्पित धुसुकियों से अपने मनमाने मत को सिद्ध करे, पाद में हार जाये, तो भी न

माने । ऐसा जीव अतिपापी अथवा यदुन ससारी होता है । यह मिथ्यात्व प्रायः जो जैन-जैनमत को विपरीत कथन करता है उस में होता है । जैसे गोष्ठमाहिलादिक^१ छुप है । यह बात श्री अभय देवसूरी नयागीवृत्तिकार नजररप्रकरण के भाष्य में कहते हैं—

* गोष्ठामाहिलमार्ण, ज अभिनिविसि तु तयं ॥

आदि शब्द से घोटिक विवभूति में अभिनिवेशिक मिथ्यात्व जानना ।

४ संशय मिथ्यात्व-सो जिनोक्त मर्य में शका करनी । क्या यह जीव असत्य प्रदेयी है ? या नहीं है ? इस तरे सर्व पदार्थों में शंका करनी, तिस में जो उत्पन्न होये, सो संशय यिक मिथ्यात्व है । † तदाह "भाष्यकृत—संशयिक मिथ्यात्व तदिति शेष" । शका-संदेहो जिजोक्तत्त्वेप्यिति" संशय मिथ्यात्व के होने के कारण श्रीजिनभद्रगणित्तमाश्रमण ध्यान-शनक में लिखते हैं, कि एक तो जैनमत स्याद्वादरूप अनैत-नयारमक है, इस घास्ते समझना कठिन है । तथा सतभंगी के सकलादेयी, यिकलादेयी भगों का स्वरूप, अष्टपक्ष, सात

* भाषा का पुराण इयं प्रचार है—

अभिगाहिय किम शिक्खियाण अथभिगाहियं तु इयगण ।

† यह मर-तन्वभाष्य टीका का पाठ है टीका कर्ता यथोदय उपाध्याय है ।

सौ नव, चार निक्षेप—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तथा १ उत्सर्ग, २ अपवाद, ३ उत्सर्गापवाद, ४ अपवादोत्सर्ग, ५ उत्सर्गोत्सर्ग, ६ अपवादापवाद, यह पद्मद्वयी तथा विधिव्याद, चार्त्त्रानुवाद, यथास्थितवाद, इत्यादि अनन्त-नयों की अपेक्षा से जैन मन के शास्त्रों का कथन है। अतः जब तक जिस अपेक्षा से शास्त्रों में कथन है वो अपेक्षा न समझे, तब तक जैन शास्त्रों का यथार्थ अर्थ समझना कठिन है। इन के समझने के धास्ते बड़ी निमल बुद्धि चाहिये। सो तो बहुत थोड़े जीवों को होती है। मया शास्त्र के अर्थ-अभिप्राय को बताने वाला गुरु भी पूरा चाहिये, परन्तु सो भी नहीं है। इत्यादि निमित्तों से सद्य मिथ्यात्व होता है।

५ अनामोग मिथ्यात्व—जिन जीवों को उपयोग नहीं ऐसे जो विकलेंद्रियादि जीव, तिन को अनामोग मिथ्यात्व होता है। उपयोग के अभाव से वे जीव यह नहीं जान सकते कि धर्माधर्म क्या वस्तु है। यह मिथ्यात्व के पाच भेद हैं। इस पाच प्रकार के मिथ्यात्व के और भी अनेक भेद हैं, जो कि इन पाचों के ही अन्तर्भूत हैं, सो भेद इस प्रकार से हैं—१ प्ररूपणा मिथ्यात्व—जिनवाणी रूप जो सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण, टीका, इन से विपरीत प्ररूपणा करनी। २ प्रवक्षणा मिथ्यात्व—जो काम मिथ्यादृष्टि जीव धर्म जान कर करते हैं उन की छेला देखी धाप भी जैसे

ही करने लगना । ३ परिणाम मिथ्यात्व—मन में विपरीत परिणाम—कदाग्रह रहे, शुद्ध शास्त्रार्थ को माने नहीं । ४ प्रदेशमिथ्यात्व—मिथ्यात्व के पुद्गल जो सत्ता में हैं, उन का नाम प्रदेश मिथ्यात्व है । इन चारों भेदों के भी अनेक भेद हैं, उस में कितनेक यहाँ पर लिखते हैं ।

१ जो धर्म वीतराग सर्वज्ञ ने कहा है, तिस को अधर्म माने । २ अरु जो हिंसा प्रवृत्ति प्रमुख आश्रयमय अशुद्ध अधर्म है, उस को धर्म माने । ३ जो सत्य मार्ग है, उस को मिथ्या कहे । ४ जो विपयी जन का मार्ग है, उस को सत् मार्ग कहे । ५ जो साधु सत्तावीस गुणों फरी विराजमान है, उस को असाधु कहे । ६ जो आरम्भ परिग्रह विषय कपाय करके भरा हुआ है, अरु उपदेश ऐसा देता है, कि जिस के सुनने से लोगों को कुत्सासना, कुबुद्धि उत्पन्न होये, ऐसा गुरु पत्पर की नौका समान है । ऐसे जो अन्यालिंगी कुलिंगी तिन को साधु कहे । ७ पट्टकाया के जीवों को अजीव माने । ८ काष्ठ, सोना आदि जो अजीव है, उन को जीव माने । ९ मूर्त्त पदार्थों को अमूर्त्त माने । १० अमूर्त्त पदार्थों को मूर्त्त माने, यह दश भेद मिथ्यात्व के हैं ।

तथा दूसरे छे भेद मिथ्यात्व के हैं, सो कहते हैं । १ लौकिक देव, २ लौकिक गुरु, ३ लौकिक पर्य, ४ लोकोत्तर देव, ५ लोकोत्तर गुरु, ६ लोकोत्तर पर्य ।

१ लौकिक देवगत मिथ्यात्व—जो देव राग द्वेष करके

भरा हुआ है, एक के ऊपर सेहवान होता है, और एक का विनाश करता है स्त्री के भोग विलास में मग्न है, अरु अनेक प्रकार के शत्रु जिस के हाथ में हैं। अपनी ठकुराई का अभिमानी है; जाप क घास्ने हाथ में माला है। सावध भोग-पचेंद्रिय का वध चाहता है। ऐसे शत्रु को जो पुरुष परमेश्वर माने, अथवा परमेश्वर का अथ रूप अथवा माने और पूजे; तिस के कहे हुए पाप के अनुसार हिंसाकारी यथादि करे अनेक तरे के पाप कार्यों से धमक नाम से प्रवृत्ति करे। इस लौकिक क्षेत्र के अनेक भेद हैं। सां सय मिथ्यात्र सत्तरी प्रमुख ग्रन्थों से जान लेने।

२ लौकिक गुरुगन मिथ्यात्व—जा अटारह पापों का सेवन करे; नर प्रकार का परिग्रह रक्षण, गृहस्थाधम का, उपभोग करे, स्त्री पुत्र पुत्री के पन्धवार धारा होवे, तथा कुंजिगी-भन कटिपत, तथा नरा वेष धरा कर स्वकपोल कटिपत मत् चलाये, अरु आडम्बरी होवे; शाश्व परिग्रहता त्याग दिया है, परंतु अन्धनर प्रिय छोड़ो नहीं; गुरु नाम धराये, मडली से विचरे जिस की अनादि भूख मिटी नहीं; और जिस को शुद्ध साध्य की पिछान नहीं; तिस को गुरु माने, तिस की बहुमान करे; तिस को मोक्ष का हेतु जान कर दान देवे, तथा उस को परम पात्र जाने।

३ लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व—१ अज्ञापइवा, २ प्रेतदूज, ३ गुरुनीज ४ गणेश चौध, ५ नागपचमी, ६ भोजना

छठ, ७ सीयलसातम, ८ बुधाष्टमी, ९ नीली नवमी, १० विजय दशमी, ११ व्रत षष्ठादशी, १२ घत्स छादशी, १३ धनतेरस, १४ अनंत चौदश, १५ अमावास्या, १६ सोमवती अमावास्या, १७ रक्षाबन्धन, १८ होला, १९ होई, २० दसहरा, २१ सोमप्रदोष, २२ लोड़ी, २३ आदित्यवार, २४ उत्तरायण, २५ सकाति, २६ ग्रहण, २७ नवरात्र, २८ श्राद्ध, २९ पीपल को पानी देना, ३० गधे को माता का घोड़ा मान के पूजना, ३१ गौश्राद्धी, ३२ अन्न कुट, ३३ अनेक श्रमण, कुरों का मेला, इत्यादि ।

४ लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व—देव श्रीअरिहत, धर्म का धारक, त्रिशोपकार का सागर परम पूज्य, परमेश्वर, सबल दोष रहित शुद्ध, निरजन, तिस की स्थापनारूप जो प्रतिमा, तिस के आगे इस लोक के पौद्गलिक सुख की आशा से मन में कल्पना करे कि जे कर मेरा यह काम हो जायेगा, तो मैं बड़ी भारी पूजा करूंगा, छत्र चढ़ाऊंगा, दीपमाला की रोशनी करूंगा, रात्रि जागरण करूंगा, ऐसे भावों से वीतराग को माने, यह मिथ्यात्व है । क्योंकि जो पुरुष चिन्तामणि के दाता से काच का टुकड़ा मागे सो बुद्धिमान् नहीं है । जिनको अपने कमोद्दय का स्वरूप मालूम नहीं है, वही जीव ऐसा होता है ।

५ लोकोत्तरगुरुगत मिथ्यात्व—सो जो साधु का वेप रक्षे अथवा आप निर्गुणी होवे, जिन राणी का उत्पापक

होये, अपने मन कटिपत का उपवेश देये, सूत्र का सच्चा अर्थ तोड़े, ऐसे लिंगी, उत्सूत्र के प्ररूपक को गुरु जान कर मान, सम्मान करे। तथा जो गुणी, तपस्वी, आचारी और श्रिया वन सारथु हैं, जिसकी इस लौकिक इच्छा करके सेवा करे, बहुत मान करे मन में ऐसे जाने, कि यदि मैं इनकी सेवा करूंगा, तो इनकी महारथानगी से धन, बुद्धि, स्त्री, पुत्रादि मुझको अधिक प्रमाण में मिलेंगे।

६ लोकोत्तरपर्वगत मिथ्यात्व—सो प्रभु क पाच कल्याण की तिथि तथा दूसरे पर्व के दिन इन दिनों में धनादि ३ वास्तु जप, तप, आदि धर्म करनी करे, सो लोकोत्तरपर्वगत मिथ्यात्व है। इत्यादि मिथ्यात्व क अनेक विकल्प है, परन्तु जो सब पूर्वोक्त अभिग्रहादि मिथ्यात्व क भेदों में ही मानभूत हो जाते हैं। यह बन्ध का प्रथम हेतु है।

अथ बारह प्रकार की अविरति कहने हैं—पाच इन्द्रिय छटा मन, अरु छ कपाय, यह बारह प्रकार है। तिनका स्वरूप इस तरह से है। पाचों इन्द्रियों को अपने २ विषय में प्रवृत्त करे, सो पाच अवगत अरु छटा किसी पाप प्रवृत्ति से मन का निरोध न करना सो छटा अवगत है। तथा पड़ विध जीव निकाय की हिंसा में प्रवृत्त होये। यह बारह प्रकार अविरति के है। यह दुस्तरा बन्ध हेतु है।

तीसरा बन्ध का हेतु कपाय है। उसके सोळा कपाय, नव नोकपाय कुल मिलकर पञ्चम भेद हैं। अननानुबन्धो

क्रोध, मात, माया, अरु लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार, तथा प्रत्याख्यात क्रोधादि चार, अरु सज्जन मन क्रोधादि चार, एव सोलह कषाय हैं । इनके सहचारी नव नोकषाय हैं । यथा—१ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगुप्सा, ७ स्त्री वेद, ८ पुरुष वेद, ९ नपुंसकवेद । इन सबका व्याख्यान पीछे कर आये हैं । इन से कर्म का बन्ध होता है, और यही ससार स्थिति के मूल कारण है । यह तीसरा बन्ध हेतु कहा है ।

चौथा योगनामा बन्ध का हेतु है । सा योग मन, वचन, अरु काया भेद से तीन प्रकार का है । इन तीनों के पन्द्रा भेद हैं । महा प्रथम मनोयोग चार प्रकार का है, और वचन योग भी चार प्रकार का है अरु काययोग सात प्रकार का है, ये सब मिलकर पन्द्रा भेद है ।

मन नाम अन्त करण का है । उसके चार प्रकार यह हैं । १ सत्यमनोयोग, २ असत्यमनोयोग, ३ मिश्रमनोयोग, ४ व्यवहारमनोयोग । मन भी द्रव्य और भाव योगके भेद प्रभेद भेद से दो प्रकार का है । काया के व्यापार से पुद्गलों का ग्रहण करके उन को ज्ञान मनोयोग से काढ़ता है, तिस का नाम द्रव्यमन कहते हैं । अरु उन पुद्गलों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, तिसका नाम भावमन है । उस ज्ञान करके जो व्यवहार सिद्ध होता है, तिस व्यवहार करके मन भी सत्यादि

व्यपदेशक प्राप्त होता है। धरु उपचार से द्रव्यमन भी क्षायक है। मनमं जो सत्य व्यग्रहार का धारण करना, सो सत्यमन। सो व्यग्रहार यह है, कि पाप से निवृत्त होना वचन के उच्चारण किये बिना जा चिन्तन करना कि यह मुनि है, जीवादि पदाऽसत् हैं इत्यादि। मन शब्द करके यहा से मनोयोग अर्थात् जा इन्द्रियावरण कम के क्षयोपरम से उत्पन्न हुआ, जा मनोज्ञान, उस करके परिष्कृत आत्मा को बलादान करने वाला, मनोवर्गणा के सम्यग्ध से उत्पन्न हुआ धीर्य विशेष, सो यहा मनोयोग जानना। इसी मन के चार भेद हैं। ऐसे ही वचन याग, सा वचन की वगणा अर्थात् परमाणु का समूह, उन वचन वगणा करके उत्पन्न भई सामर्थ्यविशेष—आत्मा की परिष्कृति, सो वचनयोग जानना।

मन के चार भेदों में से सत्यमनोयोग का स्वरूप ऊपर लिख आये हैं, सो प्रथम भेद। दूसरा मृगामन, सो धर्म नहीं, पाप नहीं, नरक भ्रम बुद्ध नहीं, इत्यादिफ जो वचन निरपक्ष चिन्तयना करनी, सो जानना। तीसरा मिथमन, सो सच्च अथ भ्रुड, इन दोनों का चिन्तन करना, जैसे गोवर्ग को दूरा कर मन में चिन्तन करना कि यह सर्व गौर्धा हैं। यह मिथ इत्य वास्ते है, कि उस गोवर्ग में बैल भी है। इत्यादि मिथवचन। चौथा 'हे। प्राप्त गच्छ' इत्यादि चिन्तन करना, सो व्यग्रहारमन। इसी तरह जब वचन योग से पूर्वोक्त चारों का उच्चारण करे, तब वचन योग भी चार प्रकार का

ज्ञान लेना । यह चार मन के अरु चार घचन के एउ आठ भद हुए ।

सत्यघचन दस प्रकार का है । १ जनपद सत्य—सो जिस देस में जिस पस्तुका जो नाम बोलते हैं, उस देस में वो नाम सत्य है, जैसे कोंकण देसमें पानी को पिच्छ कहते हैं, किसी देस में बड़े पुरख को घेटा कहते हैं, या घेटे को काका कहते हैं, किसी देस में पिना को भाई, सासु को भारी, इत्यादि कहते हैं, सो जनपदसत्य । २ सम्मतसत्य—सो जैसे मेंडक, सिंगल, कमल आदि सब पंक्त से उत्पन्न होते हैं, तो भी पकज शब्द करके कमल का ही ग्रहण पूर्व विद्वानों ने सम्मत किया है, किन्तु मेंडक, सिंगल नहीं । ३ स्थापनासत्य—सो जिस की प्रतिमा होये, तिस को उस के नाम से कहना । जैसे महावीर, पार्श्वनाथ अर्द्धन को जो प्रतिमा होये, उस प्रतिमा को महावीर, पार्श्वनाथ कहें, तो सत्य है । परन्तु उस को जो पत्यर कहे, सो मृगादी है । जैसे स्याही और कागज स्थापना करने से ऋग्, यजु, साम, अथर्व कह जाते हैं, आचारागादि अग कहे जाते हैं, तथा काष्ठ के आकार विशेष को किगाड़ कहते हैं, तथा ईंट, पत्यर, चूने को स्तम्भ कहना, पुस्तक में त्रिकोणादि चित्र लिख कर उस को आर्यावर्त्त, भारतवर्ष, जवू-डीपादि कहना, तथा स्याही की स्थापना को फकार पकार कहना । इस स्थापना से पुरख की कछुक सिद्धि जरूर होती है । नहीं तो नाना प्रकार की स्थापना पुरख किस घाम्ते

करते हैं ? इस वास्ते धोमहावीर तथा श्रीपाश्वनाथ जी की स्थापनारूप प्रतिमा को श्री महावीर पाश्वनाथ जी कहना स्थापना सत्य है । इस में इतना विशेष है, कि जो देव शुद्ध है, उस की स्थापना भी शुद्ध है, अरु जो देव शुद्ध नहीं, उस की स्थापना भी शुद्ध नहीं । परन्तु उस स्थापना को उन का देव कहना यह बात सत्य है । ४ नामसत्य सा किसी न अपने पुत्र का नाम कुलवन्दन रक्खा है अरु जिस दिन से वा पुत्र जन्मा है, उस दिन से उस कुल का नाय होना चला जाता है, तो भी उस पुत्रकी कुलवन्दन नाम से पुकारें, तो सत्य है । ५ रूपसत्य—सो चाहे गुणों से भए भी है, तो भी साधु के धेयगल का साधु कहे, तो सत्य है । ६ प्रतीतसत्य अथवा अपेक्षासत्य—सो जैसे मध्यमा की अपेक्षा अनामिका को छोटी कहना । ७ व्यवहारसत्य—सो जैसे पथन जलता है, रसना धलता है । ८ भावसत्य—सा जैसे तोत में पाच रंग हैं तो भी ताते को हरे रंग का कहना । ९ योगसत्य—सो जैसे दण्ड के योग से दण्डी कहना । १० उपमासत्य—सो जैसे मुल को चन्द्रवत् कहना ।

अथ दय प्रकार के भूट कहते हैं । १ क्रोधनिधित—सो क्रोध के घण होकर जो यचन बोले, सो असत्य । २ ऐसे, ही मान के उदय से बोले सो असत्य । ३ ऐसे माया के उदय से बोले, सो असत्य । ४ लोभ के ५ राग के, ६ द्वेष के उदय से बोले, सो असत्य । ७ हास्य के घण से बोले । ८ भय

के वर से बोले । ६ विकथा करे, सो असत्य । १० जिस धोलने में जीव की हिंसा होवे, सो असत्य ।

अत्र दश प्रकार का मिश्र वचन कहते हैं । १ उत्पन्न मिश्रित—सो जिना खबर कह देना कि इस नगर में आज दश बालक जन्मे हैं, इत्यादि । २ विगत मिश्रित—सो जैसे विना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश मनुष्य मरे हैं । ३ उत्पन्नविगनमिश्रित—सो जैसे जिना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश जन्मे हैं, अरु दश ही मरे हैं । ४ जीवमिश्रित—सो जीवाजीव की राशि को कहना कि यह जीव है । ५ अजीवमिश्रित—सो अन्न की राशि को कहना कि यह अजीव है । ६ जीवाजीवमिश्रित—सो जीवाजीव दोनों को मिश्रभाषा बोले । ७ अनन्तमिश्रित—सो मूली आदिकों के अवयवों में किसी जगे अनन्त जीव है, किसी जगे प्रत्येक जीव है, उन को प्रत्येक काय कहे । ८ प्रत्येक मिश्रित—सो प्रत्येक जीवों को अनन्तकाय कहे । ९ अद्वयमिश्रित—सो दो घड़ी के तडके में कहे कि दिन चढ़ गया है । १० अद्वयमिश्रित—सो घड़ी एक रात्रि जाने पर, दिन का उदय कहे । यह दश प्रकार का मिश्रवचन है ।

अत्र व्यवहार वचन के चारह भेद कहते हैं । १ आमन्त्रण करना—कि हे भगवन् । २ आशापना—यह काम कर, तथा यह वस्तु खा । ३ याचना—यह वस्तु हम को दीजिये । ४ पृच्छना—अमुक गाम का मार्ग कौनसा है ? ५ प्रज्ञापना

धम ऐसे होता है । ६ प्रत्यार्यानी—यह काम हम नहीं करेंगे । ७ इच्छानुत्तोम—यथासुख । ८ अनभिगृहीता—मुझ का खरर नहीं । ९ अभिगृहाता, मुझ खरर है । १० सखय—क्यों कर खरर नहीं है ? ११ प्रगट् अथ कहे । १२ अप्रगट् अर्थ कहे ।

काय योग के सात भेद हैं । प्रथम काया योग का स्वरूप यह है । आत्मा का त्रिासभूत, पुद्गलद्रव्य घटित विषम स्थल में बूटे हुए क को अवष्टभभूत लाठी आदि की तरे जिनके याग न जोर क घोय का परिणाम—सामर्थ्य प्रकट हो सो काया याग है । जैसे अग्नि के मयोग से घटकी रक्तना होती है, तैसे ही आत्मा में काया के सम्बन्ध से वीर्य परिणाम है । इस काययोग के सात भेद हैं । १ औदारिककाययोग, २ औदारिकमिथकाययाग ३ वैक्रियकाययोग ४ वैक्रियमिथकाय योग ५ आहारककाययोग ६ आहारकमिथकाययोग ७ कामणकाययोग । उसमें से प्रथम के दो काययोग तो मनुष्य अरु तिर्यच में होते हैं । अगले दो स्वर्गवासी देवताओं में होते हैं । अरु अगले दो चौदहपूवपाठी साधु में होते हैं । तथा जोर जब काल करके परमर में जाता है, तब रस्ने में कामण शरीर साथ होता है । तथा समुद्रघात अवस्था में केवली में दाता है । अरु जो आहार पाचन करने में समर्थ तैजस शरीर है, सो कामण योग के अन्तर्भूत होने से पृथग् ग्रहण नहीं किया है ।

अथ मोक्षतत्त्व लिखते है । तहां प्रथम 'मोक्ष' का स्वरूप कहते है । यदुक्त —

जीवस्य कृत्स्नकर्मक्षयेण यत्स्वरूपावस्थान तन्मोक्ष उच्यते ।

भाषार्थ — जीव के सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय होने करके जो स्वरूप में रहना है, उस को मोक्षतत्त्व का मोक्ष कहते है । यह मोक्ष जीव का धर्म है । स्वरूप तथा धर्म धर्मी का कथंचित् अभेद होने से धर्मी जो सिद्ध, तिन की जो प्ररूपणा, सो भी मोक्ष प्ररूपणा है । क्योंकि मोक्ष जो है, सो जीव पर्याय है, सो जीव पर्याय कथंचित् सिद्ध जीव से अभिन्न है । जीव की पर्याय जीव से सर्वथा भिन्ने नहीं हो सकती है । तदुक्त —

द्रव्य पर्यायवियुतः पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।

क कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥

[स० त०, का० १, गा० १२ की प्रतिबद्ध्या]

भाषार्थ — पर्यायों करके रहित द्रव्य, अरु द्रव्य से वर्जित-रहित पर्याय किसी जगे, किसी अयसर में, किसी प्रमाण से, किसी ने, कोई-रूप से देखा है ? [अर्थात् नहीं देखा ।]

अथ सिद्धों का स्वरूप नव द्वारों से सूत्रकार भद्र भाष्य-
 कार के कथनानुसार कहते हैं । १ सत्पद
 सिद्धा का स्वरूप प्ररूपणा, २ द्रव्यप्रमाण, ३ क्षत्र, ४ स्पष्टता,
 ५ क्षाय, ६ अन्तर ७ भाग, ८ भाय, ९
 अल्पबहुत्व, ये नव द्वार हैं । इन नव द्वारों वरके सिद्धों
 का स्वरूप लिखते हैं । प्रथम सत्पद प्ररूपणा द्वार—सत्
 नियमान पद की प्ररूपणा, तिस का द्वार । तात्पर्य कि कोई
 भी एक पद वाला पदार्थ सत् है या असत् अर्थात् यह
 सत्यार म है अथवा नहीं, इस बात को सिद्ध करने का नाम
 सत्पदप्ररूपणा है । सो मोक्ष पद गति आदि चौदा पदों में
 कहना । यथा—[१] पाच प्रकार की गति है । १ नरक-
 गति, २ तिर्यग्गति, ३ मनुष्यगति, ४ देवगति, ५ सिद्ध
 गति । तथा सिद्ध गति को वर्ज कर शेष चार गति में सिद्ध
 नहीं । यद्यपि १ कर्मसिद्ध, २ गित्पसिद्ध ३ विद्यासिद्ध,
 ४ मन्त्रसिद्ध, ५ योगसिद्ध, ६ आगमसिद्ध, ७ अर्थसिद्ध,
 ८ यात्रासिद्ध ९ अभिप्राय सिद्ध, १० तपसिद्ध, ११ कम
 चयसिद्ध, ऐसे अनेक तरे के सिद्ध आवश्यकनियुक्ति-
 कार ने कहे हैं, तो भी यहां पर तो जो कर्मचय करके सिद्ध
 हुआ है, तिस का ही अधिकार है । उन्हीं को मोक्ष पर्याय
 है, औरों को नहीं । [२] इन्द्रिय-स्पर्शनादि पाच हैं, एक
 इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाच इन्द्रिय,

इन पांचों प्रकारों में सिद्ध पना नहीं, क्योंकि सबथा शरीर के परित्यागने से सिद्ध होता है। जहा शरीर नहीं तहा इन्द्रिय भी कोई नहीं। इसी वास्ते सिद्ध अतीन्द्रिय हैं। [३] १ पृथि-
 धीकाय, २ अप्काय, ३ तेजकाय, ४ पयनकाय, ५ घन-
 स्पतिकाय, ६ त्रसकाय। इन छे ही कायों के जीवों में सिद्ध
 पना नहीं। क्योंकि सिद्ध जो हैं, सो अकाय—काय रहित
 हैं। [४] काय, घचन अरु मन के भेद से योग तीा हैं।
 उस में कंवल काययोग वाले एकेंद्रिय जीव हैं, अरु काय
 घचन योग वाले द्वीन्द्रियादि असभी पचेन्द्रिय पर्यंत जीव हैं,
 अरु काय, घचन, मन योग वाले सभी पचेन्द्रिय पर्याप्त
 जीव हैं। इन तीनों योगों में सिद्धपने की सत्ता नहीं।
 क्योंकि सिद्ध अयोगी हैं, अरु अयोगीपना तो काय घचन
 अरु मन के अभाव से होता है। [५] स्त्री, पुरुष, नपुसक,
 इन तीनों घेदों में सिद्ध पद की सत्ता का अभाव है, क्यों
 कि सिद्ध जो हैं, सो पूर्वोक्त हेतु से अघेदी हैं। [६] क्रोध,
 मान, माया, लोभ, इन चारों कपार्यों में सिद्धपना नहीं है,
 क्योंकि सिद्ध अकपायी हैं, सो अकपायपना कर्म के अभाव
 से होता है। [७] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्याय
 ज्ञान, वैश्वज्ञान, यह पांच प्रकार का ज्ञान है। अरु मति
 अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभगज्ञान, यह तीन् अज्ञान हैं। उस
 में आदि के चारों ज्ञानों में अरु तीनों अज्ञानों में सिद्धपना

नहीं है। एक कज्ज ज्ञान में सिद्धपना है। सो वैशद्य ज्ञान
 यदा सिद्धावस्था का जानना, परन्तु सयोगी अवस्था
 का नहीं। [८] सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारवि-
 शुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, अरु यथाप्यात यह पाच चारित्र।
 तथा इन के विपत्ती वैश सयम, अरु असयम। तथा पाच
 विघ चारित्र में तथा दानों विपत्तों में सिद्धपना—भोक्षपना,
 नहीं क्योंकि यह सब शरीरादि के हुए ही होत हैं,
 सो शरीरादिक सिद्धों को है नहीं। [९] चक्षु, अचक्षु,
 अवधि, अरु वैशद्य, इन चारों दर्शन में से आदि के गिनो
 दशत में सिद्धपना नहीं, परन्तु कैवल दर्शन में वैशद्य
 वत् सिद्धपना जान लेना। [१०] पृष्ण, नील घापोत, तज,
 पद्म, अरु शुभ्र, यह छे प्रकार की लेश्याओं में सिद्धपना नहीं।
 क्योंकि लेश्या जो हैं, सो भवस्य जीव व पर्याय है, सिद्ध
 तो अलेशी है। [११] भव्य, अभव्य इन दोनों में सिद्धपना
 नहीं, क्योंकि भव्यजीव उस को कहते हैं कि जिस को
 सिद्धपद की प्राप्ति होवेगी, परन्तु सिद्धों ने तो अर्थ को
 नवीन सिद्ध पद की पानी नहीं है, इस वास्ते भव्यपना सिद्धों
 में नहीं। अरु अभव्यजीव उस को कहते हैं, कि जिस में
 सिद्ध होने की योग्यता किसी काल में भी न होवे, ऐसा
 सिद्ध का जीव नहीं है। पर्यायि उस में अतीत काल में
 सिद्ध होने की योग्यता थी। इस वास्ते सिद्ध अभव्य भी

नहीं। सिद्ध जो है, सो नोभव्य नोअभव्य है। यह बात पचन भी है। [१२] चायिक, चायोपरमिक, उपरम, सास्वादन, अरु वेदक, यह पाच प्रकार का सम्यक्त्व है। इन का विपत्ती एक मिथ्यात्व, दूसरा सम्यक्त्व मिथ्यात्व—मिश्र है। तिन में से चायिक वर्जित चार सम्यक्त्व अरु मिथ्यात्व, तथा मिश्र, इन में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि यह सर्व चायोपरमिकादि भावपत्ती हैं। और चायिक सम्यक्त्व में सिद्ध पद है। चायिक सम्यक्त्व भी दो तरें का है। एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। तहा शुद्ध, अपाय, सत् द्रव्य रहित भवस्थ केर लियों के है। अरु सिद्धों के शुद्ध जीव स्वभावरूप सम्यक् दृष्टि है, सादि अपर्यवसान है। अरु अशुद्ध अपाय सहचारिणी श्रेणिकादिकों की तरें सम्यक् दृष्टि होना, यह चायिक सादि अपर्यवसान है। तहा अशुद्ध चायिक में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि उस के अपाय सहचारी हैं। अरु शुद्ध चायिक में तो सिद्ध सत्ता का विरोध नहीं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में भी शुद्ध चायिक रहता है। अर्थात् मतिज्ञानाय का नाम है। अरु सत् द्रव्य शुद्ध सम्यक्त्व के दलियों का नाम है। इन दोनों का अभाव होने से चायिक सम्यक्त्व के होता है। [१३] सहा यद्यपि तीन प्रकार की है—१ हेतुयादोपदेशिनी, २ दृष्टियादोपदेशिनी, ३ र्थकालिकी; तो भी दीर्घकालिकी सहा; करके जो सही हैं, वे ही व्यवहार में प्राय

ग्रहण किये जाते हैं । मरणा होये जिन के सो सही ।
 जीने कि यह धरा है, यह करुगा, यह मैं धर रहा
 हूँ, येने जो त्रिकालविषयक मनोविज्ञान वाले जीव हैं,
 तिन को सही कहते हैं । इन में जो विपरीत होये, सो
 असही जानो । सही तथा असही इन दोनों ही में सिद्ध
 पद नहीं । क्योंकि सिद्ध तो तोसही नोअसही हैं । [१५]
 ओष आहार, लोम आहार, प्रक्षेप आहार, यह तीन प्रकार
 का आहार है । इन तीनों आहारों में सिद्ध नहीं । यह प्रथम
 सत्यद्वय प्ररूपणद्वार कहा है ।

दूसरा द्रव्य प्रमाण द्वार लिखते हैं । गिनती करिये तो
 सिद्धों के जीव अनन्य हैं । तीसरा क्षेत्रद्वार—सो आकाश के
 एक क्षेत्र में सब सिद्ध रहते हैं । वो आकाश का क्षेत्र कितना
 बड़ा है, सो कहते हैं । कि धर्मास्तिफायादिक पाच द्रव्य
 जहा तक हैं, तहाँ तक लोक है एसा जो लोक समधी
 अष्टाश, तिस के असख्यवें भाग में सिद्ध रात हैं । चौथा
 रूपद्वार—सो जितने आकाश में सिद्ध रहते हैं, रूपद्वारा
 उम में किंचित् अधिक है । पाचमा फाल द्वार—सो एक
 सिद्ध के आश्रित सादि बननकाल है, और सर्व सिद्धाश्रित
 धनादि अनन्तकाल जानता । छठा अंतरद्वार—सो सिद्धों
 के विचाले अंतर नहीं सर्व सिद्ध मित्र के एक ही रूपयत्न
 रहते हैं । सातमा भाग द्वार—सो सिद्ध जो हैं, वो सर्व जीवों

के अनतयें भाग में हैं । आठमा भाग द्वार-सो सिद्ध को ज्ञायिक और पारिणामिक भाग है, शेष भाग नहीं । नयमा अल्प बहुत्वद्वार—सो सर्व से योडे अनतरसिद्ध हैं । अनतर सिद्ध उन को कहने हैं कि जिन को, सिद्ध हुए एक समय हुआ है, तिन से परंपरा सिद्ध अनत गुणे हुए हैं । छ' मास सिद्ध होने में उत्कृष्ट अतर होता है । यह मोक्षतर्य का स्वरूप सत्तेप मात्र से लिखा है, जेकर विगेय करके सिद्ध का स्वरूप देराना होये, तदा नदीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, सिद्धप्राभृतसूत्र, सिद्धपचाशिका, देवाचार्यकृत नयतर्य प्रकरण की वृत्ति देख लेनी ।

इति श्री तपागच्छीय मुनिश्रीनुद्विविजय शिष्य मुनि

आनदाविजय—आत्माराम विरचिते जैनतस्वादशे

पचम परिच्छेद सपूर्ण



षष्ठ परिच्छेद

इस षष्ठ परिच्छेद में चौदह गुणस्थान का स्वरूप विंचित मात्र लिखते हैं—

यह भव्य जीवों को सिद्धिसौध पर चढ़ने के धास्ते गुणों की श्रेणी अर्थात् निसरणी है, तिस गुण गुणस्थान के निसरणी में पगधरण रूप—गुणों से गुणा १४ भेद तर की प्राप्तिरूप जो स्थान अर्थात् भूमिका है, सो चौदह हैं । तिन के नाम यह हैं—

१ मिथ्यात्व गुणस्थान, २ सास्त्रादन गुणस्थान ३ मिथ्र गुणस्थान, ४ अघिरतिसम्यक्दृष्टि गुणस्थान, ५ देराविरति गुणस्थान, ६ प्रमत्तसंपत गुणस्थान, ७ अप्रमत्तसयत गुणस्थान, ८ अपूवकरण गुणस्थान, ९ अनिवृत्तवादादर गुणस्थान, १० सूक्ष्मसपराय गुणस्थान, ११ उपयातमोह गुणस्थान, १२ क्षीणमोह गुणस्थान १३ सयोगीकेवली गुणस्थान, १४ अयोगीकेवलीगुणस्थान । यह चौदह गुण स्थान, अर्थात् गुण रूप भूमिकाओं के नाम हैं ।

तहा प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं ।

उस में भी प्रथम व्यक्त, अव्यक्त मिथ्यात्व मिथ्यात्व गुण का स्वरूप कहते हैं । जो स्पष्ट चैतन्य सभी पंचेंद्रिय जीवों की अवेद्य, अगुरु और अधर्म, इन तीनों में प्रम करके वेद्य, गुरु और धर्म

की बुद्धि होने, सो* व्यक्तमिथ्यात्व है। उपलक्षण से जीवादि नव पदार्थों में जिस की श्रद्धा नहीं, अतः जिनोक्त तत्त्व से जो विपरीत प्ररूपणा करनी, तथा जिनोक्त तत्त्व में सशय रहना, जिनोक्त तत्त्व में दूषणों का आरोप करना, इत्यादि। तथा अभिप्रादिनादि जो पाच मिथ्यात्व है, उन में पर शनाभोगिक मिथ्यात्व तो अव्यक्त मिथ्यात्व है शेष चार भेद व्यक्त मिथ्यात्व के हैं। तथा "अधम्मो धम्मसण्णा" इत्यादि। दश प्रकार का जो मिथ्यात्व है, सो सर्व व्यक्त मिथ्यात्व है। अपर—दूमरा, जो अनादि काल से मोहनीय प्रकृति रूप, सदृशनरूप आत्मा के गुण का आच्छादक, जीव के साथ सदा अविनाभायी है, सो अव्यक्त मिथ्यात्व है।

अत्र मिथ्यात्व को गुण स्थान जिस रीति से कहते हैं, सो त्रिपते हैं। अनादि काल से अव्यवहार राशिवर्ती जीव में सदा से ही अव्यक्त मिथ्यात्व रहना है, परन्तु उस में व्यक्त मिथ्यात्व बुद्धि की जो प्राप्ति है, उसी को मिथ्यात्व गुणस्थान के नाम से कहा है।

* अदेवागुणधर्मेषु या देवगुणधर्मधी ।

तमिमिथ्यात्व भवेद्व्यक्तमभ्यक्त मोहलक्षणम् ॥

[गुण० प्रमा०, इण० ६ की वृत्ति]

† इस सूत्र का समप्रपाठ इस प्रकार है —

दमविद्दे मिच्छते पञ्जते, त जहा — अधम्मो धम्मसण्णा धम्मो अधम्म-
सण्णा उम्मग्गे मग्गसण्णा मग्गे उम्मग्गसण्णा अजीवेसु जीवसण्णा
जीवेसु अजीवसण्णा असाहुसु साहुसण्णा, साहुसुआसाहुसण्णा अमुत्तेसु

प्रश्न—*मिथ्यात्व गुणस्थान में सर्व जीवों के स्थान मिलते हैं, यह जैन शास्त्र का कथन है। तो फिर व्यक्त मिथ्यात्व की बुद्धि को गुणस्थान रूपता कैसे कहते हों ?

उत्तर—*सर्वमात्र सर्व जीवों ने पूर्व में अनन्तर प्राप्त किया है। इस धर्म के प्रमाण से जो प्राप्तव्यक्तमिथ्यात्व बुद्धि वाले जीव व्यग्रहार राशियुक्त हैं, वे ही प्रथम गुणस्थान वाले जीव कहे जाते हैं, किंतु व्यग्रहार राशियुक्त जीव नहीं। वे तो अत्यंत मिथ्यात्र वाले हैं, इस धर्म की ही होय नहीं।

अथ मिथ्यात्व रूप रूपण का स्वरूप कहते हैं। जैसे जीव मनुष्यादिक प्राणी मक्षिका के उमान से नष्टचैतन्य होता हुआ अपना दिन या अहिन, कुछ भी नहीं जानता है।

मुलमुण्णा मुत्तेसु अमुत्तमण्णा ।

छाया—दशविध मिथ्यात्र प्रज्ञा, लक्षणा—अधम धर्मज्ञा, धर्म अधर्म-सज्ञ, उमाने मार्गज्ञा, मार्गे उमानेज्ञा अजीवपु जीवज्ञा जीवपु अजीवज्ञा अजापुपु सापुमज्ञा, सापुपु असापुमज्ञा, अमूलपु मूर्खज्ञा, मूलपु अमूर्खज्ञा ।

[श्रुती० श्लो० १ सू० ७३४]

* 'सुव्यतिघटादमिच्छ' गुण० प्रमा० की टीका में उक्त आगम वाक्य ।

+ 'सुव भावा सबजीवै प्राप्तपूर्वा अनन्तरा' ।

[श्लो० ६ की वच टीका में]

ही मिथ्यात्व कारणे मोहित जीव वर्माधर्म को सम्यक-भली प्रकार नहीं जानता है । यदाह —

* मिथ्यात्वेनाभीष्टचित्ता नितात,
तच्चातच्च जानते नैव जीवाः ।
किं जात्ययाः कुत्रचिद्रस्तुजाते,
रम्यारम्य व्यक्तिमासादयेयुः ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ८ की वृत्ति]

अभ्यन्तरीयों की अपेक्षा जो मिथ्यात्व है, तथा सामान्य प्रकार से जो अत्यक्त मिथ्यात्व है, इन की स्थिति अनादि अनन्त है, परन्तु भ्यन्तरीयों की अपेक्षा यह स्थिति अनादि सात है । यह स्थिति सामान्य प्रकार से मिथ्यात्व की अपेक्षा दिखलाई है । जेकर मिथ्यात्व गुणस्थानक की स्थिति का विचार करिये तो भ्यन्तरीयों की अपेक्षा यह अनादि सात और सादि सात भी है । तथा अभ्यन्तरीयों की अपेक्षा अनादि अनन्त है । मिथ्यात्व गुणस्थानक में रहा हुआ जीव एक सौ बीस यद्यप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों में से तीर्थकर नाम कर्म की प्रकृति, आहारक शरीर, आहार कोपाग, यह तीन प्रकृति नहीं बाधता है, शेष एक सौ सतरा

* भाषार्थ — मिथ्यात्वप्रसिद्धित्त जीव सत्त्वात्तरु का किंचित् भी विचार नहीं कर सकते । जैसे कि जन्माद्य प्राणी रम्यारम्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकते ।

प्रकृति का यद्य करता है। तथा एक सौ बायींम जो उदय-
प्रायोग्य कम प्रकृतियें हैं तिन में से मिथमोहनीय,
सम्यक्त्य मोहनीय, आहारक, आहारहीनान, तीर्थंकर नाम,
यह पात्र कमप्रकृति की यज्ञ के शेष की एक सौ सतरा
प्रकृति का उदय है। अथ एक सौ अड़तालीस कर्म
प्रकृति की सत्ता है।

अथ दूसरे मास्यादन नाम के गुणस्थान का स्वरूप
कहते हैं। उस में इस गुणस्थान का कारणभूत जो उपराम
सम्यक्त्य है, प्रथम तिस का स्वरूप कहते हैं। नीच में
अनादि काल सभूत मिथ्यात्व कर्म की उपरान्ति से—अनादि
काल से उद्भव हुए मिथ्या कर्म के उपराम होने से अर्थात्
प्रथिमेद् करने के समय से औपरामिक सम्यक्त्य होता है।
यह इन का सामान्य स्वरूप है। और विशिष्टस्वरूप ऐसे हैं।
औपरामिक सम्यक्त्य दो प्रकार का है। एक तो अंतरकरणौ
परामिक सम्यक्त्य, दूसरा स्वधेनिगन अर्थात् उपरामधेनि
गत औपरामिक सम्यक्त्य है। तथा अपूर्णकरण करके ही
करा है प्रथिमेद् जिस ने तथा नहीं करे हैं मिथ्यात्व कर्म
रूप पुद्गलराशि के तीन पुत्र जिसने [१ अशुद्ध, २ अर्द्ध
शुद्ध, ३ शुद्ध, इस में अशुद्ध पुत्र जो है, सो मिथ्यात्व
मोहनीय है, अथ अर्द्ध शुद्ध जो है, सो मित्र मोहनीय है,
तथा शुद्ध पुत्र जो है, सो सम्यक्त्य मोहनीय है। इन
का स्वरूप पीछे लिख आये हैं। यह तीन पुत्र हैं] और

उदय में आवे मिथ्यात्व का क्षय किया है तथा जो मिथ्यात्व उदय में नहीं आया, तिम का उपशम किया है, एव अन्तर-करण से अनमुहुर्संकाठ तत्र सर्वथा मिथ्यात्व के अपेक्ष को अतस्करण औपशमिक सम्यक्त्व होता है । यह सम्यक्त्व जीव को एक ही पार होता है । तथा उपशमश्रेणिप्रतिपन्न को मिथ्यात्व और अनतानुबन्धी कषायों के उपशम होने से स्वश्रेणिगत औपशमिक सम्यक्त्व होता है । यह दोनों प्रकार का जो उपशम सम्यक्त्व है, सो सास्वादन नाम के दूसरे गुणस्थान के उत्पत्ति में मूल कारण है ।

अथ सास्वादन का स्वरूप लिखते हैं । औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव शान्त हुये अनतानुबन्धी चारों सास्वादन गुण-स्थान कषायों में से एक भी क्रोधादिक के उदय होने पर औपशमिकसम्यक्त्वरूप गिरिशिखर से यह जीव परिच्छ्युत-भ्रष्ट हो जाता है । जहा तक वह मिथ्यात्व रूप भूतल को नहीं प्राप्त हुआ, तहा तक एक समय से ले कर पद आश्लिस्त प्रमाण समय तक सास्वादन गुणस्थानवर्ती होता है ।

प्रश्न — व्यक्त बुद्धि प्राप्तिरूप प्रथम अरु मिथ्यादि गुणस्थानों को उत्तरीतर चढ़ने का कारणभूत होने से तो गुणस्थानपना युक्त है । परन्तु सम्यक्त्व में पड़ने वाले पतनरूप सास्वादन को गुणस्थानपना कैसे समझे ?

उत्तर — मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा सास्वादन भी

ऊर्ध्व आरोहणरूप होने से गुणस्थान है। क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान तो अभय जीवों को भी होता है, परन्तु साम्ब्यादन तो भव्य जीवों ही को हो सकता है। भव्य जीवों में भी जिस का अङ्ग पुद्गलपरावर्त शेष समार है, तिस ही को होता है। इस वास्ते, सास्व्यादन को भी मिथ्यात्व गुणस्थान से आरोहणरूप गुणस्थानत्व हो सका है। तथा साम्ब्यादन गुणस्थान में वृत्तता हुआ जीव, १ मिथ्यात्व ४ नरकत्रिक, ८ एकैन्द्रियादि जाति चतुष्क, ६ आतपनाम, १० स्थावरनाम, ११ सूक्ष्मनाम, १२ अपयाप्तनाम, १३ साधारणनाम, १४ हुडकसस्यान, १५ सेनात्तसहनन १६ नपुंसक वेद, यह सब सोला प्रकृति के वध का व्यञ्छेद करता है, और शेष की एक सौ एक प्रकृतियों का वध करता है। तथा सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्वोदय, नरकानुपूर्वी, इन छ प्रकृतियों के उदय का व्यञ्छेद होने से १११ कर्म प्रकृतियों को वेदता है। तथा तीर्थकर नाम की प्रकृति के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता है।

अब तीसरे मिथ्यगुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं। दर्शन मोहनीय कर्म की द्वितीय प्रकृति रूप मिथ्य मिथ्य गुणस्थान मोहकर्म के उदय से जीव विषयक जो समकाल समरूप करके सम्यक्त्व मिथ्यात्व

* नरक गति, नरकानु और नरकानुपूर्वी ।

† एक इन्द्रिय में लकर चार इन्द्रिय तक ।

के मिलने से जो अन्तर्मुहूर्तं यावत् मिश्रित भाव है, उस को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। तात्पर्य कि जो जीव सम्यक्त्व, मिथ्यात्व दोनों के एकत्र मिलने से मिश्र भाव में वर्तते हैं, सो मिश्रगुणस्थानस्थ होता है। क्योंकि मिश्रपना जो है, सो दोनों के मिलने से एक जात्यतर रूप है। जैसे घोड़ी और गधा, इन दोनों के संयोग से जात्यतर एश्वर उत्पन्न होता है, अथवा जैसे गुड़ दही के मिलने से जात्यतर रस शिपरणी रूप उत्पन्न होता है, तैसे ही जिस जीव को सर्वज्ञ असर्वज्ञ के कहे दोनों धर्मों में समतुल्य से एक सरीखी श्रद्धा उत्पन्न होवे, सो जात्यतरभेदात्मक होने से मिश्रगुणस्थान होता है। तथा जब यह जीव मिश्रगुण स्थान वाला होता है, तब परभव का आयु नहीं बाधता है, अरु मिश्र गुणस्थान में वर्तता हुआ जीव, मरता भी नहीं है, यह या तो सम्यग्दृष्टि होकर चाँचे सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में आरोह करके मरता है, अथवा कुदृष्टि हो कर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक में पीछे आ कर मरता परन्तु किन्तु मिश्रगुण स्थान में रहता हुआ नहीं मरता। इस मिश्र गुण स्थान की तरे धारहवा क्षीणमोह, अरु तेरहवा संयोगी, इन दोनों गुणस्थानों में रहता हुआ भी जीव नहीं मरता है। शेष ग्यारह गुणस्थानों में फाल कर जाता है। तथा मिथ्यात्व, ज्ञास्वादन और अधिरति सम्यग्दृष्टि, यह तीन गुणस्थान जीव के साथ परभव में जाते हैं। शेष के ग्यारह गुणस्थान

नहीं जाते । तथा जिन जीवों ने मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में पूर्ण
से आयु घावा है, अथ पीछे उन को मिथ्यगुणस्थान प्राप्त
हुआ है । जब वह मरेगा, तब जिस गुणस्थान में उसने
आयु राधा है उसी गुण स्थान में जाकर वह मरता है ।
और गनि भी उसकी उसी मरण वाले गुणस्थान के अनु-
सार होता है । तथा मिथ्यगुण स्थान वाला जीव, १ नरक
गति, २ नरकायु, ३ नरकानुपूर्वी, ६ स्त्यानर्द्धित्रिक, ७ दुर्भग,
८ दुस्तर, ९ अनादेय १३ अनतानुबन्धी चार, १७ मध्य के
चार सस्थान २१ मध्य के चार सहनन, २२ नीच गोत्र,
२३ उद्योत नाम, २४ अप्रयत्नविहायोगति, २५ स्त्रावेद,
इन पच्चीस प्रकृति के धर्म का व्यञ्ज्येद करना है । तथा
मनुष्यायु और देवायु को भी नहीं या जाता है । इन सत्तासीस
प्रकृति के बिना शेष चौहत्तर प्रकृति का व्यव करता है । तथा
अनतानुबन्धी चार स्थानर नाम, पर्यद्रिय विकलत्रिक, इन
के उदय के व्यञ्ज्येद होने से मनुष्यानुपूर्वी त्रियगानुपूर्वी,
इन दोनों के उदय न होने से मिथ्य का उदय होने में एक सौ
प्रकृति को वेदता है । अथ पूर्वोक्त १८७ प्रकृति की सत्ता है ।

अथ चौथा अविरतिसम्यग् दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप
लिखते हैं । तथा प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति का
अविरतिसम्यग् स्वरूप कहते हैं । भव्य सक्षी पचेन्द्रिय जीव
दृष्टि गुणस्थान का यथोक्ततर—यथात्र सवन्त प्रणीत
तरणों में—जीवादि पदार्थों में निसर्ग से

अर्थात् पूर्वभय के अभ्यास विरोध अथवा गुरु के उपदेश से जो अत्यन्त निर्मल रुचि-भावना प्रगट-उत्पन्न होती है, सो सम्यक्त्व है। इसी को सम्यक् श्रद्धान भी कहते हैं। यदाह-

रुचिर्जिनोक्तत्वेपु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ।

जायते तन्निर्गुण, गुरोरधिगमेन वा ॥

[यो० श० प्र० १ श्लो० १७]

यह अविरति सम्यग्दृष्टिपना जैसे होता है, तैसे कहते हैं। दूसरा कथाय-अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से वर्जित विरतिपना-व्रत नियम रहित, केवल सम्यक्त्व मात्र ही जहा पर होवे, सो चौथे गुणस्थान वालों को अविरति सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान होता है। इस का तात्पर्य यह है, कि जैसे कोई पुरुष न्यायोपपन्न धन भोग विलास सौन्दर्यशालिफुल में उत्पन्न हुआ है, परन्तु दुरंत जूझा आदि व्यसनों के सेवन करने से अनेक प्रकारके अन्याय कर रहा है, सो किसी अपराध के करने से उसको राज से दगड मिला। तब वह पुरुष कोटवाल आदि राजकीय पुरुषों से विडम्ब्यमान, अपने व्यसन जनित कुत्सित कर्म को विरुप जानता हुआ, अपने कुल के सुन्दर सुग्न सपदा की अभिलाषा भी करता है, परन्तु कोटवालों से छूट कर सुख का उच्छ्वास भी नहीं ले सकता। तैसे ही यह जीव भी अविरतिपने को छोटे कर्म का फल जानता हुआ, विरति के सुन्दर सुग्न की अभिलाषा

नी करता है, परन्तु षोडशाक्ष के समान दूसरे अप्रत्यापयानो
प्राय के पाशों से छूटने का उत्साह भी नहीं कर सकता।
किन्तु अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का ही अनुभव
करता है।

इस अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की स्थिति उत्पत्ती
तो कुछ अधिक तेजीस सागरोपम प्रमाण की है। परन्तु ३३
सागरोपम की यह स्थिति सर्वार्थसिद्धादि विमानवासियों
की समझनी। और जो अधिक फही है, वह देवलोक से
प्यव कर मनुष्य सम्प्रदायी जानना। तथा यह सम्प्रदाय उस
जीव को प्राप्त होता है, जिसका अक्षं पुद्गलपरायण मात्र
शेष सत्कार रह जाता है, दूसरों का नहीं।

अथ सम्यग्दृष्टि का लक्षण कहते हैं। १ दुःखी जीव के
दुःख दूर करने की जो चिन्ता, जिसका नाम वृषा है। २
किसी कारण से मोघ उत्पन्न भी हो गया है ता भी मीय
अनुशय अर्थात् मोघ वैर नहीं रखना जिसका नाम प्रथम है।
३ सिद्धिसौध के अदने के गान्ध सापान ४ समान सम्यग
ज्ञानादि साधनों में उत्साह लक्षण मोक्षाभिलाषा का नाम
सद्वेग है। ४ अत्यन्त शुक्लित समाररूप बद्धोपाने
से निश्चिन्ने के वास्ते परम धैर्याय रूप दरवाजे के पास आ
जाने का नाम निवद् है। ५ श्री सयग प्रणीत समस्त भाषों
के अस्तित्व की चिन्तना का नाम आस्तिक्य है। यह पाच
लक्षण जिस जीव में हों, वह भव्य जीव सम्यग्दर्शन
करके अलक्ष्य होता है।

अथ सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों की गति कहते हैं ।

जीव के परिणाम विशेष को करण कहते हैं,

तीन करण सो करण तीन प्रकार का होता है—१ यथा

प्रवृत्तिकरण, २ अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ।

तथा पर्वत की नदी के जल से आलोड्यमान पापाण की तरह घचना—घोलना न्याय से यह जीव आयु कर्म को घर्ज कर रोप सातों कर्मों की स्थिति को किंचित् न्यून एक कोटा कोटी सागरप्रमाण को करता हुआ, जिस अध्यवसाय विशेष से ग्रथिदेश—ग्रथिके समोप तक आता है, उसको यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं । २ पूर्व में नहीं प्राप्त हुआ है जो अध्यवसायविशेष, तिस करके घन-निविड राग द्वेष परिणतिरूप ग्रथि के भेदने का जो आरम्भ, तिस को अपूर्वकरण कहते हैं । ३ तथा जिस अनिर्वर्त्तक अध्यवसाय विशेष से ग्रथिभेद करके अति परम आनन्द जनक सम्यक्त्व को यह जीव प्राप्त करता है, तिस का नाम अनिवृत्तिकरण है । यह तीनों करण का स्वरूप श्रीजिनभद्रगणित्तमाश्रमण आचार्य, आवश्यक की शुद्धाभो निधिगधहस्तीमहाभाष्य में लिखते हैं । तीन पथिक के दृष्टांत से तीनों करण का स्वरूप दिखाते हैं । जैसे, तीन पथिक उजाड़ के रस्ते चले जाते थे, तथा चलते-चलते विकाल घेला हो गई और सूर्य अस्त हो गया, तब वे पथी मन में बहुत डरने लगे । इतने में उस वखत तत्काल यहा दो चोर आ पहुचे । तिन चोरों को देखकर उन में से एक पथिक

तो डरता हुआ पीछे की दौड़ गया, अब एक पथिक को चौरों ने पकड़ लिया, अब एक पथिक तिन चौरों से छड़ भिड़ और मार पीट करके अगले नगर में पहुच गया । यह तो दृष्टांत है । इस का दार्ष्टान्त ऐसे है कि उजाड़ तो मनुष्य भव है, तिस में फर्मों की जो स्थिति है सो दीघ रास्ता है, और जो गाठ है, सो मय का स्थान है, अब राग द्वेष यह दोनो चोर हैं । अब जो पुरुष पीछे की दौड़ा है, तिस की तो स्थिति ससार में रहने की अधिक हो जाती है, अब जो पुरुष पकड़ा गया, वो गाठ के पास जाकर खड़ा हो गया, सो राग द्वेष चौरों ने पकड़ लिया वो भी दुखी है, अब जिस ने सम्यक्त्व पा लिया, सो गाम में पहुच गया, तातें सुखी भया । यह दृष्टांत तीनों करण के साथ जोड़ लेना ।

अब कीडियों के दृष्टांत करके तीनों करणों का स्वरूप लिखते हैं, जैसे कितनी एक कीडिया गिल में से निकल कर एक खूटे के तले भ्रमण करती हैं कोई एक उस खूटे के ऊपर चढ़ती हैं, अब कितनी एक खूटे के ऊपर चढ़ कर पग लग जाने से उड़ गई हैं । यह तीनों करण भी इसी तरें जान लेने । तब तो यह जीव यथाप्रवृत्तिकरण करके ग्रथि देश को प्राप्त होना है, और अपूर्वकरण करके ग्रथिका भेद करता है । तथा ग्रथिभेद करके कोई एक जीव मिथ्यात्व की पुहल राशि को विभाजित—बाट करके मिथ्यात्वभेद, मिथ्यमोह, सम्यक्त्व मोह रूप तीन पुंज करता है । जय

अनिवृत्तिकरण करके विगुह्य होकर उदय को प्राप्त हुए मिथ्यात्व को क्षय करके और उदय नहीं हुए को उपरात कर देते, तब चायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । जब जीव में चायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब उस को मनुष्यगति और देवगति की प्राप्ति होती है । तथा अपूर्णकरण करके जिस जीव ने तीन पुत्र किये हैं, वह यदि चौथे गुणस्थान से ही क्षयरूपने का जप आरम्भ करे तो अनतानुग्रही चार, मिथ्यामोह, मिथ्यमोह, अरु सम्यक्त्व मोहरूप तीनों पुत्रों के क्षय होने से उसे चायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है । तब चायिक सम्यग्गृष्टि जीव जेकर अरुद्धायु है, तब तो तिसी भव में मोक्ष को प्राप्त हो जावेगा । अरु जेकर आयु बाध कर पीछे से चायिकसम्यक्त्ववान् हुआ है, तब उस का तीसरे भव में मोक्ष होता है । तथा जेकर अस्वस्थान धर्म जीने धाले मनुष्य ने तिर्यक का आयु बाध कर पीछे से चायिकसम्यक्त्व को प्राप्त किया ही, तब चौथे भव में मोक्ष होता है ।

अब अविरति गुणस्थानकर्त्तरी जीव का कृत्य लिखते हैं । अत नियम तो उस के कोई भी नहीं होता है, परन्तु देव में अर्थात् भगवान् श्रीधीतराग में, अरु उक्तलक्षण गुरु में तथा श्रीसध में क्रम करके भक्ति, पूजा, नमस्कार, वात्सल्यादि कृत्य करता है । तथा प्रभावक श्रापक होने से शासन की उन्नति-शासन की प्रभावना करता है । तथा अविरति

सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले जीव तीर्थंकर तामरुम मनुष्यायु, देवायु इन तीन प्रकृति को तीसरे गुणस्थान से अधिष्ठापना है। इस चाम्ने सतत्तर प्रकृति का उदय करता है। तथा मिथ मोह के घ्यउच्छेद होने से आनुपूर्वी चतुष्क, अरु सम्यक्त्वमोह के उदय होने से एक सौ चार फल प्रकृति को वेदना है। अरु क्षायिक सम्यक्त्व वाले में १३८ प्रकृति की सत्ता होती है। अरु उपशम सम्यक्त्व वाले को चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त १४८ फल प्रकृति की सत्ता है। तथा क्षायिकसम्यक्त्व वाले को जिस जिस गुण स्थान में जितनी जितनी फलप्रकृति की सत्ता है, वह आगे चल कर लिखेंगे।

अथ पंचम गुणस्थान का स्वरूप लिखत हैं। जीव को सम्यग् तत्त्वानुबोध से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य, दशविरति तिस से सवविरति की प्राप्ति करना भी है, गुणस्थान तो भी सर्वविरतिवात्तक प्रत्याख्यान नाम फलानुबोध के उदय से सर्व विरति का अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं, किन्तु जघन्य मध्यम और उत्कृष्टरूप देशविरति ही हो सक्ता है। तिनमें जघन्य देशविरति-आपुष्टि स्फूर्द्धिसादि का त्याग, मद्य मासादि का परिहार, अरु परमेष्ठि नमस्कार का स्मरण करता है। यदाह—

*आउट्टि धून हिंसाद्र, मज्ज मसादचायओ ।

जहन्नो सायओ होइ, जो नमुक्कारधारओ ॥

[था० दि० अवचूर्णी गा० २२५]

तथा मध्यम देशविरति—धर्म योग्य गुणों करी आकीर्ण, गृहस्थोचित्त पदकर्म रूप धर्ममें तत्पर, द्वादश व्रत का पालक, सदाचारवान् होये, तो मध्यम थायक जानना । तथा उत्कृष्ट-देशविरति—सचित्त आहार का वजक, प्रतिदिन एकाशन करे, ब्रह्मचारी होये, महाव्रत अगीकार करने की इच्छा वाला होये, गृहस्थ का धदा जिस ने त्यागा है, ऐना जो होये सो उत्कृष्टदेशविरति है । यह तीन प्रकार की विरति जिस को होये, उस को थाय्य अर्थात् थायक कहते हैं । देशविरति की उत्कृष्टी स्थिति देशोनकोटिपूर्ण की है ।

अथ देशविरति गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं । इस गुणस्थान में १ अनिष्टयोगार्त्त, २ इष्टवियोगार्त्त, ३ रोगार्त्त, ४ निदानार्त्त, यह चार पाद रूप आर्त्तध्यान, तथा १ हिंसादनद्रौद्र, २ मृपानन्दगौद्र, ३ चीर्यानिद्रौद्र ४ सरत्तणानद्रौद्र, यह चार पाद षाळा रौद्र ध्यान है । देशविरति के आर्त्त और रौद्र ध्यान मद होता है । जैसे जैसे देशविरति अधिक अधिकतर होती है, तैसे तैसे आर्त्त रौद्र

* आकुटिस्थूलहिंसादिमद्यर्मासादित्यागात् ।

अथय थायको भवति, यो नमुक्कारधारक ॥

ध्यान मद् मद्तर होता जाता है। अरु धर्म ध्यान तो जैसे जैसे वैरागिरति अधिक होती है, तैसे तैसे अधिक अधिक होता हुआ मध्यम रूप ही रहता है, किंतु उत्कृष्ट धर्मध्यान नहीं होता है। जेकर उत्कृष्ट धर्मध्यान हो जाये, तब सर्व निरति हो जायगा। इस पाचमे गुणस्थान संम्यग्धी धर्म ध्यान में पद् धर्म पचादश प्रतिमा, और श्रावक व्रत पालन का समग्र है।

पद् धर्म का नाम कहते हैं — १ तीर्थंकर अर्हंत भगवन चीतराग सवज्ञ की प्रतिमा द्वारा पूजा करे, २ गुरु की सेवा करे, ३ स्वाध्याय, ४ सयम ५ तप, ६ ज्ञान, यह पद् धर्म हैं। यदुक्त —

देवपूजा गुरुपास्ति*, स्वाध्याय सयमस्तप* ।

दान चेति गृहस्थाना, पद् कर्माणि दिने दिन ॥

[उप० तर०, तर० ३ श्लो० १]

प्रतिमा अभिप्रहविशेष को कहते हैं, उस के नाममात्र यह हैं —

* दसग वय समाइय, पोसठ पढिमा अवभ सचिचे ।

आरभ पेस उदिट्ट, वज्जए समणभूए य ॥

[पचा० प्रतिमाधि० गा० ५]

* ट्याया—दसनव्रतमामायिकपोरधप्रतिमाऽप्रह्वपशितानि ।

आरम्भप्रेवोदिट्टकजट्ट अनवभूतथ ॥

इन का विस्तार देखना होवे, तदा पचाशन्नामा शास्त्र के प्रतिमा पचाशक में देख लेना । श्रावण के व्रत गारह है, सो आगे चल कर लिखेंगे । यह पद् कर्म, एकादश प्रतिमा, गारह व्रत, इन के पालन में मध्यम धर्म ध्यान होता है । तथा देशविरति गुणस्थानस्थ जीव अप्रत्याख्यानी चार कषाय, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, यह नरकत्रिक, आद्य सहनन तथा औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग, यह औदारिक द्विक, यह सब मिलकर दश कर्मप्रकृति का व्यवच्छेद होने से सत्सठ कर्मप्रकृति का वध करता है । तथा अप्रत्याख्यान चार, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, नरकत्रिक, देवत्रिक, त्रेकिय द्विक, दुर्भग, अनादेय, अयग कीर्ति, इन सतरा-कर्मप्रकृतियों के उदय का व्यवच्छेद करने से सत्तासी कर्मप्रकृति को घेदता है । अरु एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है ।

पांचमे गुणस्थान के उपरांत जितने गुणस्थान हैं, तिन में से तेरहवें गुणस्थान को धर्ज के शेष के सर्व गुणस्थानों की अन्तर्मुहूर्त्त मात्र स्थिति है ।

अथ छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं ।

सर्व विरति साधु छठे प्रमत्त गुणस्थान में प्रमत्त गुणस्थान होता है, जो कि अहिंसादि पाच महाव्रत का धारक है । प्रमाद के होने से साधु प्रमत्त होना है । प्रमाद पाच प्रकार का है । यदाह —

*मज्ज विसय कमाया, निदा रिगहा य पचमी भणिया ।
एए पच पमाया, जीव पाडति ममाणे ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० २७ की वृत्ति में सगृहीत]

भाषाथ—मद्य विषय, कपाय, निद्रा, अरु विकथा, यह पाच प्रमाद हैं, सो जीव को ससार में गिराते हैं, जो साधु इन पाचों प्रमादों करके संयुक्त होये, अरु सज्जलन कपाय का उदय होये, तब महामुनि महाप्रणी साधु अवश्य अन्त मुहुत्त काल तक क्षप्रमाद होने में प्रमादी होता है। जेकर अतर्मुहुत्त से उपरात भी प्रमादी होये, तब तो प्रमत्त गुण स्थान से भी नीचे गिर पड़ता है, अरु जेकर अतर्मुहुत्त से उपरात भी प्रमाद रहित होये, तो फिर अप्रमत्त गुणस्थान में चढ़ जाता है।

अत्र प्रमत्तसयत गुणस्थान में ध्यान का सभय कहते हैं। इस गुणस्थान में मुख्य तो ध्यान, उपलक्षण से रौद्र ध्यान का भी सभय है, क्योंकि उस में नोवपाय—हास्यादि पदक की विद्यमानता रहती है। तथा आशादि आलम्बन युक्त धर्मध्यान की गौणता है। वह धर्मध्यान—१ आशा, २ अपाय ३ विपाक, ४ और सस्थान विषय रूप आलम्बन युक्त होता है। तथा आशा विषय, अपायविषय विपाकविषय

* छाया—मद्य विषयकपाया निद्रा विकथा च पचमी भणिया ।

एते पाचप्रमादा जाव पातयन्ति मंसारे ॥

और सस्थानविचय धर्मध्यान के चार पाद हैं। उक्त च —

आज्ञापायविपाकाना, सस्थानस्य च चिंतनात् ।

इत्थ वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यान चतुर्विध ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० २८ की वृत्ति]

भावार्थ —आज्ञा उस को कहते हैं, कि जो कुछ सर्वज्ञ अर्हंत भगवत ने कहा है, सो सर्व सत्य है। अरु जो बात मेरी समझ में नहीं आती है, वो मेरी बुद्धि की मदता है। तथा दुपम फाल के प्रभाव से, सराय मिटाने वाले गुरु के अभाव से, इत्यादि अन्य निमित्तों से मेरी समझ में नहीं आता। परन्तु अर्हंत भगवत के कहे हुए वाक्य तो सत्य ही हैं, क्योंकि उन के मृषा बोलने का कोई भी निमित्त नहीं है। ऐसा जो चिंतन करना सो आज्ञा विचयनामा प्रथम भेद है। तथा राग, द्वेष, कषायादिकों से जो अपाय—कष्ट उत्पन्न होते हैं, तिन का जो चिंतन करना, सो अपाय विचयनामा दूसरा भेद है। तथा क्षण क्षण प्रति जो कर्मफलो दय विचित्र रूप से उत्पन्न होता है, सो विपाक विचयनामा तीसरा भेद है। तथा यह लोक अनादि अनंत है, अरु उत्पाद, व्यय, ध्रुव रूप सर्व पदार्थ हैं, तथा पुरपाकार लोक का सस्थान है, ऐसा जो चिंतन करना, सो सस्थान विचयनामा चौथा भेद है। इत्यादि आलयन युक्त धर्मध्यान की गौणता प्रमत्त गुणस्थान में है, किन्तु प्रमाद युक्त होने से मुख्यता नहीं।

* अथ जो कोई प्रमत्त गुणस्थान में निरालम्बन धर्म ध्यान करे, तिस का निषेध करते हैं । जिनभास्कर—जिन सूर्य ऐसे कह गये हैं, कि जो साधु जहा लगे प्रमाद सयुक्त होवे, तहा लगे तिम साधु को निरालम्बन ध्यान नहीं होता है । क्योंकि इहा प्रमत्त गुणस्थान में मध्यम धर्मध्यान की भी गौणता ही कही है, परंतु मुख्यता नहीं । निम्न वास्ते प्रमत्त गुणस्थान में उत्कृष्ट निरालम्बन धर्मध्यान का समय नहीं ।

अथ जो यह अर्थ न माने, तिम को कहते हैं कि जो साधु प्रमाद युक्त भी वाग्शय्य-सामायिकादि पडाग्रयण सायक अनुष्ठान का परिहार करने निश्चल-निरालम्बन ध्याना धित होवे, वो साधु मिथ्यात्वमोहित—मिथ्याभास करके भूढ़ हुआ २ जैनागम—श्रीसप्तश्रणीत शास्त्र को नहीं जानता । क्योंकि वो साधु व्यवहार को तो छोड़ बैठा है और निश्चय को प्राप्त नहीं हुआ है । अथ जो जैनागम के जानने वाले हैं, सो तो व्यवहार पूर्वक ही निश्चय को साधत हैं । यदाह —
 † जइ जिगमय पवज्जइ, ता मा उवणरनिच्छए मुयइ ।
 वणहारनउच्छेए, तित्थच्छेए जमो भगिओ ॥

[पञ्च वस्तुक गा० १७२]

* यह समम पाठ गुणस्थानप्रमारोह क इलोक २० ३० की टीका का अक्षरश अनुवाद है ।

† छाया—यदि जिनमत प्रपञ्चास्तमा व्यवहारनिषेधो मुञ्च ।
 व्यवहारनयोच्छेद तीर्थोच्छेदो यतोऽवश्यम् ॥

अर्थ —जेम्बर जिनमन को श्रगीकार करने हो, और जैन मत में साधु होते हो, तो व्यग्रहार निश्चय का न्याग मत फगे । क्योंकि व्यग्रहार नय के उच्छेद होने से तीर्थ का उच्छेद ही जायगा । इस बात पर यह दृष्टान्त है, कि कोई एक पुण्य अपने घर में सदा राजगे की रोटी खाता है । किसी ने उस को निमन्त्रण करके अपूर्ण मिष्टान्न का आहार कराया, तब वो उस के स्वाद का लोलुपी हो कर अपने घर की राजगे की रोटी निस्वाद जा कर खाता नहीं, और उस दुष्प्राप्त मिष्टान्न की वमिल्लाया करता है, परन्तु वह मिष्टान्न उस से मिलता नहीं । तब वो जैसे उमयभ्रष्ट होता है, तैसे ही जीव भी कडाग्रहरूप भूत के लगने से प्रमत्तगुणस्थानमाय रथूलमात्र पुण्यपुष्टि का कारण पडा वश्यकदि कष्टक्रिया को नहीं करता हुआ, कडाचित् अप्रमत्त गुणस्थान में प्राप्त होने वाले अमृत आहार तुल्य निर्विकल्प मनोजनिन समाधिरूप निरालयन ध्यान के अण को प्राप्त हो गया है, तब तिस निरालयन ध्यान में उत्पन्न हुआ जो परमानन्दरूप सुषस्वाद, निम्न करके प्रमत्त गुणस्थानगत पडावश्यकदि कष्टक्रिया कर्म को कदन्न के समान जानकर कर उस का सम्यक् आराधन नहीं करता, और मिष्टान्न तुल्य निरालयन ध्यानाय तो प्रथम सहनन के अभाव से प्राप्त होता नहीं है, तब पडावश्यक के न करने से उमयभ्रष्ट हो जाता है । क्योंकि निरालयन ध्यान का मनोरथ ही पञ्चम काल के महामुनि ऋषियों ने कर है । तथाच पूर्वमहर्षय

चेतोवृत्तिरोपनेन करणग्राम विधायोद्गर्ज,
 तत्सत्कृत्य गतागत च मस्तो धैर्ये समाश्रित्य च ।
 पर्येकेन मया शिष्याय विधियत् स्थित्वैकभूमृद्दरी-
 मध्यस्थेन कदाचिद्वर्षितदृशा स्थातच्यमन्तमुखम् ॥१॥
 चित्ते निश्चनतां गते प्रशमिते रागादिनिद्रामदे,
 विद्राणेऽक्षकदम्के विषटिते ध्याते भ्रमारमके ।
 आनदे प्रविजृभिते जिनपते ज्ञाने समुन्मीनिते,
 मा दृक्ष्यति कदा वनस्थमभितो दुष्टाशया श्चापदा ॥२॥

तथा श्रीसूरप्रमाचार्या—

चित्तापदातैर्भरदागगाना,
 वाग्भेपजै रागरुन निवर्त्य ।
 मया कदा प्रौढममाधिनक्ष्मी-
 निवर्त्यते निर्वृतिनिर्विपत्ता ॥३॥

तथा श्री हेमचन्द्रसूर्य—

वने पद्मासनामीन, क्रौडस्थितमृगार्भरुम् ।
 कदा घ्रास्यति वक्त्रे मा, जरन्तो मृगयूथपा ॥४॥
 शत्रो मित्रे तृणे स्त्रणे, स्वर्णऽश्मनि मर्गा मृदि ।
 मोक्षे भवे भविष्यामि, निर्विशेषमनि कदा ॥५॥

[गुण० ममा० श्लो० ३० की वृत्ति मं सगृहीत]

इन श्लोकों का थोड़ासा अर्थ भी लिख देते हैं—१ चित्त की वृत्ति का निरोध करके, इन्द्रियसमूह और इन्द्रियों के विषयों को दूर करके, तदनन्तर पवन अर्थात् श्वासोद्वास की गतागति को रोक करके, अरु धैर्य का अग्रगणन करके, पद्मासन से बँध करके, शिवके घास्ने विधि समुक्त किसी पर्जन्य की गुफा में बैठ करके, एक घस्तु पर धृष्टि रख कर, मुझ को अतमुँप, रहना योग्य है । २ चित्त के निश्चल होने पर राग, द्वेष, कषाय, निद्रा मद के शांत हुए, इन्द्रिय समूह के दूर हुए तथा अमारमरु अन्धकार के दूर होने से, आनन्द के प्रगट वृद्धिमान् भये, ध्यान के प्रकार भये, ऐसी अवस्था में वन में रहे हुए मेरे को दुष्ट्राण्य वाले सिंह कथ देखेंगे ? तथा श्रीसूरप्रमाचार्य भी कहते हैं—३ हे भगवन् ! तुमारे आगमरूप भेषज से राग रूप रोग को निवृत्त करके, निर्मल चित्त होकर, कब वो दिन आवेगा कि जिस दिन मैं समाधि रूपी लक्ष्मी को देखूंगा ? तथा श्रीहेमचन्द्र सूरि जी कहते हैं—४ वन में पद्मासन से बँधे हुए और जिस की गोद में हिरण का यज्ञ बँधा हुआ है, ऐसे मुझ को हिरणों के स्वामी बूढ़े सृग कब सूँघेंगे [अरु मैं अपनी समाधि में स्थित रहूँ] ५ तथा शशु अरु मित्र में, तृण अरु स्त्री में, सुर्यण अरु पाषाण में, मणि अरु महिमें, मोक्ष अरु ससार में निर्विशेषमति, मैं कब होऊंगा ? ऐसे ही भत्री घस्तुपाल ने तथा परमत्त में भर्तृहरि ने भी मनोरथ ही कहा है । इस प्रकार स्वसमय और

परसमय में जो प्रसिद्ध पुरुष हुये हैं तिनों ने परमात्मतत्त्व सवित्ति म मनोरथ ही करा है । तथा मनोरथ जो लोक में करते हैं, सो दुष्प्राय वस्तु का ही करते हैं । जो वस्तु सुख से मिल जाये, तिस मा मनोरथ कोई भी नहीं करता । जो सदा मिष्टान्न खाता है, अरु बड़ा भारी राज्य भोगता है, वो कभी मिष्टान्न खाने का अरु राज्य भोगने का मनोरथ नहा करता । इस वास्ते सब प्रकार से प्रमत्तगुणस्थानस्य विप्रेही जनों ने परम सनेग में आरूढ होने वाले अप्रमत्त गुणस्थान का स्पर्श भी करा है । तो भी परम शुद्ध परमात्मतत्त्वसवित्ति का मनोरथ तो करना । परन्तु उन को पद कम पलायश्यादि व्यवहार क्रिया का परिहार कभी न करना चाहिये । और जो मूढ योगग्रह करके ग्रस्त हैं, अरु सदाचार व्यवहार से पराङ्मुख है, तिन का योग भी किसी काम का नहीं है । उन का यह लोक भी नहीं और परलोक भी नहीं, क्योंकि वो जीव जडात्मा हैं । यत्—

योगिनः समतामेता, प्राप्य कल्पनतामिव ।

सदाचारमयीमस्या, वृत्तिमातन्वता रहि ॥

ये तु योगग्रहग्रस्ताः, सदाचारपराङ्मुखा ।

एव तेषां न योगोऽपि, न लोकोऽपि जडात्मनाम् ॥

[गुण० ब्रह्मा० श्लो० ३० की वृत्ति]

इस वास्ते साधु को जो दूषण दिन रात्रि में लगता है,

तिस के छेदने के वास्ते यह अग्रयमेव पडावश्यकादि क्रिया को करे। जहा तक कि ऊपर के गुणस्थानों करी साध्य जो निरालम्ब ध्यान है, तिस की प्राप्ति न हो जाये। तथा प्रमत्त गुणस्थानस्थजीव चार प्रत्याख्यान के बध का व्यवच्छेद होने से बेसठ प्रकृति का बध करता है। तथा निर्यग्गति, तिर्यगानु पूर्वा, नीचगोत्र, उद्योत अरु प्रत्याख्यान चार, इन आठ प्रकृतियों के उदय का उच्छेद होने से, अरु आहारक तथा आहारकोषाग इन दो प्रकृतियों का उदय होने से इषासी प्रकृति को वेदता है, अरु उस में एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है।

अथ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं।

पाच महाप्रत वारी साधु पाच प्रकार के अप्रमत्तगुणस्थान प्रमाद मे रहित होने पर अप्रमत्तगुणस्थान स्थ होता है। क्योंकि उस में सज्वलन की चारों कपायों तथा नोकपायों का भी उदय मद होये है। तात्पर्य यह कि सज्वलन कपाय तथा नोकपायों का जैसा जैसा मदीदय होता है, तैमे तैमे साधु अप्रमत्त होता है। यदाह —

*यथा यथा न रोचते, विषयाः सुलभा अपि ।

*भाषार्थ —सुलभता से प्राप्त हुआ पाचा इन्द्रियों सयधी विषयसुख ज्याज्यों मनुष्य को अरुचिकर होता है, त्यों त्यों उगे सम्यक् ज्ञान में

तथा तथा समायाति, सवित्तौ तत्रमुत्तम् ॥
 यथा यथा समायाति, सवित्तौ तत्रमुत्तमम् ।
 तथा तथा न रोचते, विषया. मुत्रभा अपि ॥

[गुण० प्रमा०, श्लो० ३२ की वृत्ति]

तथा अग्रमत्त गुणस्थान चाला जीव जैसे मोहनीय कर्म के उपशम करने में तथा क्षय करने में निपुण होता है, तथा जैसे सद्ग्रहण का आरम्भ करता है, सो कहते हैं —

नष्टाशेषप्रमादात्मा व्रतशीलगुणान्वित^१ ।
 ज्ञानध्यानधनो मौनी शमनक्षपणोन्मुख^२ ॥
 सप्तकोत्तरमोहस्य प्रशमाय क्षयाय वा ।
 सद्ग्रहणसाधनारम्भ कुरुते मुनिपुंगव ॥

[गुण० प्रमा० श्लो० ३३—३४]

^१ अर्थ—दूर करे है सर्व प्रमाद जिस ने ऐसा जो जीव, तथा पांच महाव्रत का धारक, अथ अष्टादश सहस्र जो शीलान्ग लक्षण, तिनों करके संयुक्त, सदागम का अभ्यासी, ध्यानवान्, उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होनी जाती है, और ज्यों ज्यों उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती जाती है, त्यों त्यों मुलभ विषयमुख भी उस अरुचिद्धर होता जाता है ।

ध्यान—एकाग्रता रूप, ऐसा ध्यान ध्यानरूप जिस के पास धन है, इसी वास्ते “मौनी”—मौनयान् है, क्योंकि मौनयान ही ध्यानरूप धनयान् हो सकता है। तदनंतर ध्यान ध्यान मौनयान् उपशम करने के वास्ते अथवा क्षय करने के वास्ते सन्मुख हुआ २ ऐसा पवित्र मुनि स्वतोत्तर मोह को, पूर्वोक्त सम्यक्त्व मोह, मिथ्यमोह, मिथ्यात्वमोह, अरु अनतानुग्रही चार, इन सात प्रवृत्ति के बिना शेष इच्छीस प्रवृत्तिरूप मोहनीय कर्म के उपशम करने के सन्मुख तथा क्षय करने के सन्मुख जन्म होता है, तब सात्वत ध्यान को त्याग के निरालयन ध्यान में प्रवेश करने का आरम्भ करता है। इस निरालयन ध्यान में प्रवेश करने वाले योगी तीन तरे के होते हैं। यथा—१ प्रारम्भक, २ तन्निष्ठ, ३ निष्पन्नयोग। यदाह—

*सम्यग् नैसर्गिकी वा निरतिपरिणतिं, प्राप्य सांसर्गिकी वा, काप्येकाते निविष्टाः कपिचपलचलन्मानमस्तभनाय।

शुभन्नासाग्रपालीघनघटितदृशो धीरवीरासनस्था

ये निष्कम्पाः समाधे विदधति विधिनारभमारभकास्ते ।१।

*भावार्थ—१ जो मनुष्य नैसर्गिक या सांसर्गिक धिरति—अत नियम वालो आत्म परिस्थिति को प्राप्त करने, बं दर के समान चपल मन का निरुद्ध करने के लिये, किसी पर्वत का गुफा आदि एकांत स्थान में बैठकर तथा निरंतर नासिका के अप्रमाण पर दृष्टि लगा कर निष्कम्प रूप धीरासन में विधिपूर्वक समाधि का प्रारम्भ करते हैं, उन्हें प्रारम्भक भागो कहते हैं।

कुशागो मरुदासनेन्द्रियमन लुत्तर्पनिद्राजय,
 योऽन्तर्जल्पनिरूपणाभिरमकृत्तत्र ममभ्यस्यति ।
 सत्त्वानामुपरि प्रमोदकरुणामैत्रीभृश मन्यते,
 ध्यानाधिष्ठितचेष्टयाऽभ्युदयते तस्येह तन्निष्ठता ॥२॥

उपरतत्रद्विरन्तर्जल्पकल्लोलमाले,
 लमदपिकलविश्रापद्भिनीपूर्णमध्ये ।
 सततममृतमन्तर्मानसे यस्य हम् ,
 पिवति निरुपलेपः सोऽत्र निष्पन्नयोगी ॥३॥

[गुण० क्रमा, श्लो० ३४ की वृत्ति]

२ जा मनुष्य प्राणवायु आसन, इन्द्रिय, मन, क्षुधा पिपासा तथा निद्रा, इन सब को अपने वश में करके सब प्राणीमात्र पर प्रमोद भावना कादण्य भावना तथा मैत्री भावना को धारण करके अन्तर्जल्प रूप से, ध्यानाधिष्ठित चरा से तत्त्वस्वरूप का चिन्तन करत है उन्हें तन्निष्ठ योगी कहते हैं ।

३ जिन यागियों के हृदय में वायु तथा आत्मिक अपकल्लोल उपगमता को प्राप्त हो गया है, अर्थात् जिन के हृदय में किसी भी प्रकार के सकल विकार पैदा ही नहीं होते । और स्वच्छ विद्यात्म्य विकसित कमलिनी से शोभित जिन के हृदय गरोवर में निर्लेपतया आत्मरूपो हम् सर्वदा स्वामानुमदरूप अमृत का पान करता है, उन्हें निष्पन्न योगी कहते हैं ।

अथ अप्रमत्त गुणस्थान में ध्यान का सम्भव कहते हैं ।
इस अप्रमत्त गुणस्थान में सर्वज्ञ का कदा हुआ धर्मध्यान
मैत्र्यादि भेद से अनेक रूप होता है । यदाह —

*मैत्र्यादिभिश्चतुर्भेद, यद्वाज्ञादिचतुर्विंशत् ।
रूपस्थादिचतुर्धा वा, धर्मध्यान प्रकीर्तितम् ॥१॥
मैत्रीप्रमोदकारण्यमाध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कृतुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥२॥
आज्ञापायविपाकानां, सस्थानस्य च चिंतनात् ।
इत्थ वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यान प्रकीर्तितम् ॥३॥

[गुण० क्रमा, श्लो० ३५ वी वृत्ति]

तथा १ पिण्डस्थध्यान—अपने अग अगीका स्वरूप, २
वाणीव्यापाररूप पदस्थध्यान, ३ सकल्पित आत्मरूप रूपस्थ

*१ मैत्री भावना आदि चार भेद या आज्ञा आदि चार भेद, अथवा
पिण्डस्थादि चार भेदों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का कहा है ।

२ धर्मध्यान को वृद्धि के लिये मैत्री, प्रमोद, कारण्य, माध्यस्थ,
इन चार भावनाओं को ध्याना चाहिये । क्योंकि ये इस की वृद्धि के लिये
रसायन के सम्य हैं ।

३ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय,
इन चार प्रकार के ध्येयों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का
कहा है ।

ध्यान, और ध कल्पना से रहित रूपातीत ध्याता है। इस प्रकार विनेश्वर का कदा हुआ धम ध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में मुख्यवृत्ति—प्रधान रूप से होना है। तथा यह रूपातीत ध्यान शुद्ध ध्यान या अणुमात्र होने से इस सातवें गुणस्थान में शुद्ध ध्यान भी आशिकरूप से होता है। इस अप्रमत्त गुणस्थान में आवश्यक क्रिया का अभाव है तो भी आत्म शुद्धि होती है। अब यह वाचा कहते हैं।

इस पूर्वोक्त अप्रमत्त गुणस्थान में सामायिकादि पद आवश्यक अपेक्षित नहीं हैं। तात्पर्य कि सामायिकादि छे आवश्यक—व्यवहार क्रिया रूप तो इस गुणस्थान में नहीं हैं परंतु निश्चय सामायिकादि मत्र पुछ है। क्योंकि सामायिकादि सर्व आत्मा के गुण हैं। इस में * जाया सामाहय, आया सामाहयस्व अष्टे' [मग० पृ० १२०६] अर्थात् आत्मा ही सामायिक है अथ आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, यह आत्मप्रचन प्रमाण है।

प्रश्न —किस वास्ते अप्रमत्त गुणस्थान में व्यवहार क्रिया रूप पद आवश्यक नहीं ?

उत्तर—अप्रमत्त गुणस्थान में निरंतर ध्यान के सत् योग से निरंतर ध्यान ही में प्रवृत्त होता है। इस वास्ते सामायिक—सहजनित सखरूपविकल्पमात्र के अभाव से एक स्वभावरूप निर्मल आत्मा होती है। इस गुणस्थान में

घत्तमान जो जीव है, वो भावनीं स्नान करके परम शुद्धि को प्राप्त होना है। यथाह —

*दाहोपममं तण्हाइछेयण मलप्पमाहण चेव ।

तिहि अत्थेहि निउत्त, तम्हा त ढव्वओ नित्थ ॥१॥

कोहपि उ निग्गाहिण, दाहस्सोपममण हवइ तित्थ ।

लोहपि उ निग्गाहिण, तण्हाइछेयण जाण ॥२॥

अट्ठहिह कम्मरय, उट्ठुएहिं भवेहिं सच्चिय जम्हा ।

तवसयमेण धोयइ, तम्हा त भावओ तित्थ ॥३॥

[आव० नि०, गा० १०६६—६७—६८]

अर्थ — १ जो दाह को उपशान्त करे, तृषा का छेद करे, शरीर के मल को दूर करे। तापर्य कि इन पूर्वाक्त तीनों अर्थों करके जो नियुक्त होवे, ऐसे जो गंगा मागधादि—तिस को द्रव्यतीर्थ कहते हैं। २ तथा क्रोध के निग्रह करने से अन्तरंग

छाया — दाहोपममस्तृष्णाच्छदन मलप्रमाहणञ्चैव ।

त्रिभिरर्थैर्नियुक्त तस्मात्तद्द्रव्यतस्तीर्थम् ॥१॥

क्रोधे तु निवृत्तोते, दाहस्योपममन भवति तीर्थम् ।

लोभे तु निवृत्तोते, तृष्णायाश्च्छदन जानोहि ॥२॥

अष्टविध वमरज बहुक्वेरपि भवे सचित्त यस्मात् ।

सप संयमेन चालयति, तस्मात्तद्भावतस्ततीर्थम् ॥३॥

दाह का उपशम होता है, अरु लोभ के निग्रह करने से अर्द्र की तृष्णा रूप तृषा का छेद होता है, एसा जानता । ३ आठ प्रकार की कर्मरज जो षड्रुत से भयों में सञ्चित की हैं, उससे तप सयम से जो धो जाता है, इस धास्ते तिस की भावतीर्थ कहते हैं । अथवा—

रुद्धे प्राणप्रचारे षणुपि नियमिते सतृतेऽक्षप्रपचे,
नेत्रस्पदे निरस्ते मलयमुपगतेऽन्तर्विजल्पेद्रजाले ।
भिन्ने मोहाधकारे प्रमरति महभि क्वापि त्रिश्वप्रदीपे,
धन्यो ध्यानालम्बो कलयति परमानन्दमिर्धौ प्रवेशम् ॥

[गुण० क्रमा २०० ३६ की वृत्ति]

अर्थ — प्राण-श्यासोद्वास का प्रचार-गाना जाना जिस ने रोका है, अरु जिस ने शरीर की घरा किया है, और पाच इन्द्रिय को अपने अपने विषय से रोका है और जिस ने नेत्र का टपकारना-क्षपकना बन्द किया है, तथा अन्तर विकल्परूप इन्द्रजाल के लय हुये, मोह रूप अधकार के नष्ट हुये, अरु त्रिभुवन प्रकाशक ज्ञान प्रदीप के प्रगट हुये, धन्य जो ध्यानालम्बी पुरुष है, जो परमानन्दरूप समुद्र में प्रवेश करता है ।

अप्रमत्तगुणस्थानस्य जीव १ शोक २ राति ३ अरति, ४ अस्थिर, ५ अशुभ, ६ अयस, ७ असातावेदनी इन सातों प्रवृत्तियों का बन्धव्यवच्छेद करता है । अरु आहारक,

आहारकोपाग, इन दो प्रकृतियों का बध करता है । इस वास्ते उनसठ प्रकृति का बध करता है । तथा जेकर देगायु न राधे, तत्र अट्टावन प्रकृति का बध करता है । यदि स्या नद्धि त्रिक, अरु आहारक द्विक के उदय का न्दप्रच्छेद करे, तत्र छिहत्तर प्रकृति का फल वेदता है । अरु १३८ प्रकृति की इस में मत्ता है ।

अब आठवा अपूर्वकरण, नत्रमा अनिष्टतिगदर, दसवा सूक्ष्मसपराय, ग्यारहवा उपशातमोह, और चारहवा क्षीण मोह, इन पाच गुणस्थानों का नामार्थ सामान्य प्रकार से लिखते हैं ।

उक्त अप्रमसयत—सातमे गुणस्थान—वर्ती जीव चार सञ्जलन कषाय, छे नो कषाय, इन के मद होने पर अप्राप्तपूर्व अत्यन्त परमाह्लाद रूप अपूर्व पारिणामिक भाव जब प्राप्त होता है, तत्र वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में जाता है । इस का नाम अपूर्वकरण इस वास्ते कहते हैं, कि इस गुणस्थान में अपूर्व आत्मगुण की प्राप्ति होती है ।

तथा देखे, सुने और अनुभव किये हुए जो भोग, तिन की आकाक्षारूप सकल्प विकल्प से रहित, निश्चल परमात्मैकतरुणरूप प्रधान परिणतिरूप भावों की निवृत्ति नहीं होती, इस वास्ते इस नत्रमे गुणस्थान को अनिष्टति गुण स्थान कहते हैं । इसका नाम जो अनिष्टतिगदर भी है, उस का कारण यह है, कि इसमें अप्रत्याख्यानादि जो द्वादश गदर

कषाय हैं तिन का अरु नय नोदणायों का उपरामध्रेणी वाला उपराम करने क वास्ते अरु क्षपक—क्षपकध्रेणी वाला क्षय करने के वास्ते उच्यत रहता है ।

तथा सूक्ष्म परमात्मतत्त्व के भायनायल से मोहकर्म की धीम प्रकृति के उपशान या क्षय होने पर एक सूक्ष्म गण्डी भूत लोभ का आशिक अस्तित्व जहा है, सो सूक्ष्मसपराय नामक गुणस्थान है । सपराय नाम कषाय का है, इस वास्त सूक्ष्म सपराय यह दशमे गुणस्थान का नाम कहा ।

तथा उपशमक—उपशमध्रेणी वाला अपन महजस्यभाय ज्ञान बल से सरुल मोह कर्म के उपशान करने स उपशान मोहनामक एकादशम गुणस्थान धार्य होना है ।

✓ तथा क्षपक—क्षपकध्रेणी वाला क्षपकध्रेणी क माग द्वारा दशमे गुणस्थान स ही ग्यारहवें में न जाकर निष्कषाय शुद्धात्मभावना क बल से सकल मोह क क्षय करने पर क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है । यह पाचों गुणस्थानों का सामान्य प्रकार से नामाथ कहा ।

अथ अपूयकरणेणादि अरु स ही दोनों ध्रेणिका आरोह कहते है । तथा अपूयकरण गुणस्थान में आरोह के समय में अपूय करण के प्रथम अरु से ही उपरामक उपरामध्रेणि में चदता है, अरु क्षपक क्षपकध्रेणि में चदता है ।

उपशमक मुनि शुक्लध्यान का प्रथम पाया, उपशमधेणि जिस का स्वरूप आगे लिखेंगे, उम को ध्याता हुआ उपशमधेणि को अंगीकार करना है। वो मुनि पूर्णगन धृत का वारक, निगतिचार चाग्निवान और आदि के तीन सहनन से युक्त होता है, अर्थात् ऐसी योग्यता चाग मुनि उपशमधेणि करना है।

उपशम धेणि गाला मुनि जेफर अल्प आयु गाला होये, तब तो काल कड़े "अहर्षिट" अर्थात् पाच अनुत्तर विमान में—सर्गार्थसिद्धादि देवों में उत्पन्न होता है। परन्तु जिस के प्रथम सहनन होये, वो ही अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, क्योंकि अपर सहनन गारा अनुत्तर विमान में उत्पन्न नहीं होता। और मेगार्त्त सहनन गारा तो चौथे महँट स्वर्ग तक जा सकता है। तथा कीलिकादि चार सहनन गालों के दो दो देवलोक की वृद्धि कर लेनी। अरु प्रथम सहनन गाला ता मोक्ष तक जाता है। अरु जो सात लत्र अधिक आयु वाला मोक्ष योग्य होता है, वोही सर्गार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है। यथाह —

*मत्त लमा जइ आउ, पदुप्पमाण तओ हु मिञ्झता ।

तत्तिअमिच न हुय, तत्तो नवमत्तमा जाया ।१।

मव्वट्ट मिद्धनामे, उक्कोसठिउसु विजयमाईसु ।

एगाअमेसगग्गमा, इअति लअमत्तमा देवा ।२।

[गुण० प्रमा० श्लो० ४१ की वृत्ति]

* छाया — समलवा यदि आयु प्राभविष्यन् नदाऽमेभ्यनेव ।

प्रश्न—उपशमथ्रेणि वाला मोक्ष के योग्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—सात जो लय है, सो एक मुहूर्त का ग्यारवा हिस्सा है, तब तो लग्नसत्तमायशेष आयु वाला ही खण्डित उपशमथ्रेणि करने वाला पराह्मुग्य हो कर सातमे गुणस्थान में आ करके फिर क्षपक थ्रेणि में चढ़ कर सात लय के बीच ही में क्षीणमोह गुणस्थान में हो कर, अतहत केरली हो कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । इस वास्ते दूषण नहीं । तथा जो पुष्टायु उपशमथ्रेणि करता है, सो अखण्डित थ्रेणि करके, चारित्र्य मोहनीय का उपशम करके ग्यारवें गुणस्थान में पहुँच कर उपशमथ्रेणि को समाप्त करके गिर पड़ता है ।

अब औपशमिक जीव अपूर्णादि गुणस्थानों में जिन कर्म प्रवृत्तियों को उपशान करता है सो कहते हैं । सज्वलन लोभ को यज्ञ के मोहनीय कर्म की शेष वीम प्रवृत्ति को अपृथकरण अरु अनिर्गृह्णित्वाद्दर, इन दोनों गुणस्थानों में उपशम करता है । तिसके पीछे कम करके सूक्ष्मसपराय गुण स्थान में सज्वलन के लोभ का सूक्ष्म करता है । तिस पीछे कम करके उपशानमोह गुणस्थान में तिस सूक्ष्म लोभ का

तावमात्र नाभूत् ततो नरसप्तमा जाता ॥१॥

सर्वाथमिदं नाम्नि (विमान) उच्छ्रयस्थितिषु विजयादिषु ।

एकावशापगमा भवति लवमसप्तमा तेषा ॥२॥

षष्ठ परिच्छेद

सर्वथा उपशम करना है । तथा यदा उपशातमोह स्थान म जीव एक प्रकृति—सातावेदनीयरूप वाधता है, उनसठ प्रकृति को वेदता है, तथा १४८ प्रकृति की उत्पत्ति सत्ता है ।

अथ उपशातमोह गुणस्थान में जैसा सम्यक्त्व घा और भाव होता है, सो कहते हैं । इस उपशातमोह गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्व अथ उपशम चारित्र होता है । त भाव भी उपशम ही होना है, किन्तु क्षायिक भाव । क्षायोपरामिक भाव नहीं होता है ।

अथ उपशातमोह गुणस्थान से जैसा जीव पड़ जात सो कहते हैं । उपशमी मुनि तीव्र मोहोदय अर्थात् क्षाय मोहनीय का उदय पा करके उपशातमोह गुणस्थान से जाता है । फिर मोहजनित प्रमाद में पतित होता है । जैसे कि पानी में मल नीचे बैठ जाने पर ऊपर से निर्मल हो जाता है । परन्तु फिर कोई निमित्त पाकर वह मलिन हो जाता है । यदाह —

* सुयकेत्रलि आहारग, उजुमई उवसनगात्रि हु पमाया
हिंडति भवमणतं, नयणतरंभन चउगइआ ॥,

[गुण० क्रमा० श्लो० ४४ की पृत्ति]

* धुतकेवलिन आहारका ऋजुमतम उपशान्तका अपि च प्रमादात् ।

द्विषदति भवमनन्त तवनन्नुमेव चतुर्गैमिका ॥

अथ — श्रुतकेवली, आहारक शरीरी, ऋतुमति, उपशात मोह वाला, यह सूर्य प्रमाद के घरा से अनन्त भव करते हैं, प्रमाद क घरा से चार गति में त्राम करते हैं ।

अथ उपशमक जीरों को गुणस्थानों से चढ़ना अरु पड़ना जिस तरह होता है, सो कहते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थानों का गुणस्थान से अनिष्टुत्तिबादर गुणस्थान में प्राणहाकरोद जाता है, अरु अनिष्टुत्तिबादरगुणस्थान से सूक्ष्मसपराय गुणस्थान में जाता है, अरु सूक्ष्मसपराय वाला उपशातमोह गुणस्थान में जाता है । तथा अपूर्वकरणादि चारों गुणस्थान से उपशमथ्रेणि गाला पडकर प्रथम मिथ्यात्य गुणस्थान में आ जाता है । जेकर चरमशरीरी होवे, तय सातमे गुणस्थान तक आवरके फिर सातमे गुणस्थान से क्षपकथ्रेणि में आरुद होता है । परन्तु जिसने एक बार उपशमथ्रेणि करी होवे, सो क्षपक थ्रेणि कर सकता है, अरु जिसने एक भर में दो बार उपशम थ्रेणि करी होवे, सो तिसी भर में क्षपक थ्रेणि नहीं कर सकता । यदाह—

* जीरो हु एगजम्ममि, इक्षामि उवसामगो ।

स्यपि बुज्जा नो बुज्जा, दोसरे उवसामगो ॥

[गुण क्रमा श्लो० ४१ की वृत्ति]

छाया — * जीवभवेकत्रमनि एकश उपशमक ।

अथपि बुयोन् नो बुयान् द्विवृत्व उपशमक ॥

अथ उपशमत्रेणि जाने के भवों की सख्या कहते हैं ।
इस सत्कार में बहुत भवों में चार चार उपशमत्रेणि होती
है, अरु एक भव में दो चार होती है । यथाह —

*उवसममेणिचउक्क, जायइ जीवस्स आभव नूण ।

सा पुण दो एगभवे, खण्णस्मेणी पुणो एगा ॥

[गुण क्रमा इलो ४६ की वृत्ति]

तथा उपशमत्रेणि की स्थापना इस अगले यन्त्र से जान
लेनी । इस यन्त्र की सवादक यह गाथा है —

† अणदमणपुमित्थीनेअउक्क च पुरिसयेय च ।

दो दो एगतिए, सरिमे मरिस उवसमे ॥

[आय नि गा ११६]

अर्थ—प्रथम अनन्तानुयन्धी क्रोत्र, मान, माया, अरु
लोभ इन चारों का उपशम करता है, पीछे मिथ्यात्वमोह,
मिथ्यमोह अरु सम्यक्त्यमोह, इन तीनों का उपशम करता
है, पीछे नपुंसक वेद, पीछे से स्त्रीवेद फिर हास्य, रति

छाया — *उपशमत्रेणिवत्तुक्क जायते जीवस्याभव नूनम् ।

सा पुनर्द्वे एकभवे, क्षपकत्रेणि पुनरेका ॥

† अणदशंनपुंसकस्त्रीवेदपट्ठक च पुरुषवेद च ।

द्वौ द्वौ एकात्तरितौ सदश उपशमयति ॥ ५

अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, इन छ प्रकृति का उपशम करता है, फिर पुण्यवेद, फिर अपत्याख्याती क्रोध अथ प्रत्याख्याती क्रोध, फिर सज्जन क्रोध, फिर अपत्याख्याती अथ प्रत्याख्याती मान, फिर सज्जन मान, फिर अपत्याख्याती अथ प्रत्याख्याती माया, फिर सज्जन माया, फिर अपत्याख्याती अथ प्रत्याख्याती लोभ, फिर सज्जन लोभ को उपशान्त करना है।

अथ क्षपकध्रेणि का स्वरूप लिखते हैं। प्रथम जिस क्षपकध्रेणि में चढ़ कर योगी-क्षपक मुनि क्षपकध्रेणि कर्म क्षय करने में प्रवृत्त होता हुआ अष्टम गुणस्थान से पहिले जिन फल प्रकृतियों को क्षय करता है सो लिखते हैं। चरमशरीरी अवज्ञायु, अल्पकर्मा, क्षपक के चौथे गुणस्थान में नरकायु का क्षय हो जाता है अर्थात् नरक योग्य आयु का क्षय नहीं करता है। तथा पाचमे गुणस्थान में तिर्यगायु का क्षय होता है, अथ सातमे गुणस्थान में देगायु का क्षय होजाता है, तथा सातमे गुणस्थान में दर्शनमोह मतपरा भी क्षय होजाता है, निम्न पीछे क्षपक साधु के एत सी अइतीस कर्म प्रकृति की सत्ता रहती है, तब यह आठमे गुणस्थान को प्राप्त होता है। तथा यह क्षपक महात्मा कैसा है ? रूपतीत लक्षणरूप उत्कृष्ट धम स्थान का जिसने पूण अभ्यास किया है। क्योंकि अभ्यास करके ही तत्त्व की प्राप्ति होती है। यदाह—

अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितासनः ।
 अभ्यासेन जितश्यासोऽभ्यामेनैवानिस्तत्रुटिः ॥ १ ॥
 अभ्यासेन स्थिर चित्तमभ्यासेन जितेन्द्रियः ।
 अभ्यासेन परानदोऽभ्यामेनैवात्मदर्शनम् ॥ २ ॥
 अभ्यासवर्जितैर्ध्यानैः शास्त्रैः फलमस्ति न ।
 भवेन्न हि फलेस्तृप्तिः पानीयप्रतिविम्बितैः ॥ ३ ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५० की वृत्ति] ।

इस चास्ते अभ्यास में ही विशुद्ध-निर्मल तत्त्वानुप्रायी
 बुद्धि होती है ।

अथ अष्टम गुणस्थान में शुद्ध ध्यान का आरम्भ कहते हैं ।
 अथ महानन वाला क्षपक साधु इस आठम गुणस्थान में
 शुद्धसद्धान—शुद्ध नामक प्रधान ध्यान का प्रथम पाद—
 पृथक्त्व वितर्क सम्प्रविचार स्वरूप का आरम्भ करता है ।

अथ ध्यान करने वाले का स्वरूप लिखते हैं । योगीन्द्र—
 क्षपक मुनीन्द्र व्यवहार नय की अपेक्षा में
 योगी का स्वरूप निविड-दृढ पर्यकासन करके—निश्चल आसना
 करके, ध्यान करने योग्य होता है । क्योंकि
 आसनजय ही ध्यान का प्रथम प्राण है । यदाह—

* आहारासननिर्दाजय च काउण जिणवरमएण ।
भाइज्जइ निय अप्पा, उइइइ जिगावरिंटेण ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५२ की वृत्ति]

पर्यकासन-जघा के अधोभाग में पग ऊपर करने से होता है, तथा कोई एक इसको सिद्धासन भी कहते हैं, तिसका स्वरूप ऐसा है—

योनिं वामपदाऽपरेण निविड सपीड्य शिश्र हनु,
न्यस्योरस्यचलेन्द्रिय स्थिरमना लोला च ताल्वतरे ।
यशस्यैर्यतया सुनिश्चलतया पश्यन् भ्रुवोऽन्तरम्,
योगी योगनिधिप्रमाधनकृते, सिद्धासन साधयेत् ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५३ की वृत्ति]

अथवा आसन का कोई नियम नहीं, चाहे कोई भी आसन होये, जिस आसन में चित्त स्थिर हो जाये, सोई आसन ठीक है। सो कैसा योगीद्र है, नि नासिका के अग्र में दीनी है सत्र नेत्र की दृष्टि अर्थात् प्रसन्न नेत्र हैं जिसके कारणोंकि नासाग्र-यस्तलोचन वाला ही ध्यान का साधक होता है। यदाह ध्यानदडनस्तुतौ—

* आहारासननिर्दाजय च कृत्वा जिनवरमतेन ।

- आसते निजक आत्मा उपदिष्टे जिनवरेन्द्रेण ॥

नासाग्रशाग्रभागस्थितनयनयुगो मुक्तताग्रप्रचारः,
 शेषाक्षक्षीणवृत्तिस्त्रिभुवनविपरोद्भ्रातयोगैकचक्षुः ।
 पर्यंकातऋशून्यः परिकलितमनोच्छ्वासनिःश्वासवातः,
 सद्ग्रथानारभमूर्तिंश्चिरमपतु जिनो जन्मसभृतिभीतेः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा है योगीन्द्र ? किंचित् उन्मीलित—अर्धविकसित
 हैं नेत्र जिसके, क्योंकि योगियों के समाधि समय में अर्ध
 विकसित नेत्र होते हैं । यदाह—

गभीरस्तभमूर्त्तिर्व्यपगतकरणव्यापृतिर्मन्दमद,

प्राणायामो ललाटस्थलनिहितमना दत्तनासाग्रदृष्टि ।

नाप्युन्मीलन्निमीलन्नयनमतितरा वद्वपर्यंकवधो,

ध्यान प्रत्याय शुक्ल सकलविदनयः स पायाज्जिनो वः ॥

[गुण क्रमा श्लोः ५३ की वृत्तिः] ३

फिर कैसा योगीन्द्र है ? कि जिसने अपने मातस-चित्त-
 अन्त करण को विकल्परूप वागुरा के अन्धन से दूर करा है,
 क्योंकि विकल्प ही दृढ कर्मबन्धन का हेतु है । यदाह —

अशुभा वा शुभा वापि विकल्पा यस्य चेतसि ।

स स्व चक्षात्ययःस्वर्णमधनाभेन कर्मणा ॥ १ ॥

वर निद्रा वर मृच्छा वर विकलतापि वा ।

नत्वात्तैरौद्रदुर्लेश्याविकल्पान्कुलित मनः ॥ २ ॥

[गुण क्रमा श्लो ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा है योगी ? ससार के उच्छेद करने वास्ते उद्यम है जिस का, क्योंकि भयच्छेदक ध्यानार्थ उत्साह पालों के ही योग की सिद्धि होती है । यदाह—

उत्साहान्निश्चयाद्वैर्यात्सतोपात्तत्त्वदर्शनात् ।

मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योग, प्रसिद्धयति ॥

[गुण क्रमा श्लो ५३ की वृत्ति]

तथा मुनि—योगीन्द्र अपान द्वार माग से गुदा के रास्ते अपनी इच्छा से निकलते हुए परम को अपनी शक्ति से निरुद्ध—रोक कर ऊपर दरवाँ द्वार में चढ़ाता है, अर्थात् मूल धन्ध की युक्ति करके प्राण वायु को रोक कर ऊपर ले जाता है । मूलार्थ तो यह है—

पार्ष्णिभागेन सपीड्य योनिमाकुचयेद्गुदम् ।

अपानमृङ्क्षुमाकुप्य, मूलवयो निगद्यते ॥

[गुण क्रमा श्लो ५४ की वृत्ति]

यह आकुचनकर्म ही प्राणायाम का मूल है । यदुक्त ध्यानदण्डकस्तुती—

सकोच्यापानरत्र हुतमहसदृश ततुवत्सूक्ष्मरूप,
 धृत्वा हृत्पद्मकोशे तदनु च गलके तालुनि प्राणशक्तिम् ।
 नीत्वा शून्यातिशून्या पुनरपि खगतिं दोष्यमाना समन्ता-
 ल्लोकालोकाभलोका कलयति सकला यस्य तुष्टो जिनेशः ॥
 (गुण क्रमा श्लो ५४ की वृत्ति)

अथ पूरक प्राणायाम कहते हैं ।

द्वादशागुलपर्यन्त समाकृष्य ममोरणम् ।
 पूरयत्यतियत्नेन पूरकान्यानयोगतः ॥

[गुण क्रमा श्लो ५५]

अर्थ —योगी पूरक ध्यान के योग से अति प्रयत्न करके
 सैकल देहगत नाडीसमूह को पत्रन करके
 प्राणायाम का पूरताहै । क्या करके ? द्वादशागुल पर्यन्त पत्रन
 स्वरूप को आकर्षण करके अर्थात् चारह अगुलप्रमाण
 बाहिर से वायु को खंच करके पूरता है ।
 यहा यह तात्पर्यार्थ है कि आकाश तत्त्व के बहते हुए नासिका
 के अन्दर ही पवन होता है, अरु अग्नि तत्त्व के बहते हुए चार
 अगुल प्रमाण बाहिर ऊर्ध्वगति में स्फुरित होता है वायु तत्त्व
 के बहते हुए छ अगुल प्रमाण बाहिर तिर्यग् में फिरता है,
 पृथिवी तत्त्व के बहते हुए आठ अगुल प्रमाण बाहिर
 मध्यम भाग में रहता है, और जल तत्त्व के बहते

हुए चारह अगुल प्रमाण नीचे को घड़ना है । तब द्वादश अगुल, पर्यंत वायु मंडल में प्रचार करने वाले अमृतमय पवन को आश्रयण करके जो अपने शरीर के कोष्ठ को योगी पूण करता है, उस का नाम पूरक ध्यान धर्म कहते हैं ।

अथ रेचक प्राणायाम कहते हैं । पूरक ध्यान के अनंतर साधक—योगी योगसामर्थ्य से अथ प्राणायाम के अभ्यास के बल से रेचक नामा पवन को नाभिऋमलोद्ग से हलुवे हलुवे (धीरे २) जो बाहिर काढता है, विस को रेचक ध्यान कहते हैं । यदाह—

वज्रासनस्थिरपु स्थिरधी स्वचित्त-
मारोप्य रेचकममीरणजन्मचक्रे ।
स्वातेन रेचयति नाडिगत समीर,
तत्कर्म रेचकमिति प्रतिपत्तिमेति ॥

[गुण० क्रम० श्लो० ५६ की वृत्ति]

अथ शुभक ध्यान कहते हैं । योगी शुभकनामा पवन को नाभिपकज में शुभक ध्यान—अथात् शुभक कर्म के प्रयोग से शुभवत्—घटाकार करके अत्यन्त स्थिर करता है, सो शुभक ध्यान है । यदाह—

चेतसि श्रयति कुभरुचक्र, नाडिकासु निमिडीकृतपातः ।

कुभवत्तरति यज्जनमध्ये, तद्वदन्ति किञ्च कुभरुर्म ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ७७ की वृत्ति]

अब पवन के जीतने से मन जीता जाता है, यह बात कहते हैं। क्योंकि जहा मन है, तहा पवन है, अरु जहा पवन है, तहा मन वर्त्तता है। यदाह—

दुग्धाद्युत्तममिनितौ सदैव, तुल्यक्रियौ मानममारुतौ हि,

यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यावन्मरुत्तत्र मन' प्रवृत्तिः ।

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एरुप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः,

पिन्वस्तयोरिन्द्रियगर्ग्युद्धिस्तद्धमनान्मोक्षपदस्य भिद्धि ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

इस प्रकार पूरक, रेचक और कुम्भक के क्रम से पवनों के आकुचन, निर्गमन को सिद्ध करके चित्त की एकाग्रता से समाधि विषे निश्चल्पने को धारण करता है। क्योंकि पवन के जीतने से ही मन निश्चल होता है। यदाह—

प्रचलति यदि क्षोणीचक्र चलत्यचना अपि,

प्रलयपवनप्रेखालोलाश्चलति पयोधय' ।

पवनजयिन' सावष्टभप्रकाशितशक्तय',

स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाचलति न योगिनः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

अत्र भाव की ही प्रधानता रहते हैं—

प्राणायामक्रममौढिरत्र रूढ्यैर दर्शिता ।

क्षपकस्य यत्र श्रेण्यारोहे भागो हि कारणम् ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५६]

अर्थ—इहा क्षपक श्रेणि के आरोह विषे में जो प्राणायाम क्रममौढि अर्थात् पवन के अभ्यासक्रम की प्रगल्भता, सो रुढि से—प्रसिद्धि से यहा दिखलायी है । परन्तु प्राणायाम करे, तो ही क्षपकश्रेणि चढे ऐसा कुछ नियम नहीं । क्योंकि क्षपक का केवल भाव ही क्षपक श्रेणि का कारण है प्राणायामादि का आडम्बर नहीं । क्षपटी ने भी कहा है—

नासाग्द नाडीषुद, वायोश्चार प्रत्याहार ।

प्राणायामो वीजग्रामो, ध्यानाभ्यासो मन्त्रन्यासः॥१॥

हृत्पद्मस्य भ्रूमध्यस्थ, नामाग्रस्यश्वासात् स्थम् ।

तेज. शुद्ध ध्यान बुद्ध ओकारारय सूर्यप्ररयम् ॥२॥

ब्रह्माकाश शून्याभास, मिथ्यानल्प चिंताफल्यम् ।

कायात्तत चित्तघ्रात, त्यक्त्वा सर्वे मिथ्यागर्भम् ॥३॥

गुर्वादिष्ट चिंतोत्सृष्ट, देहातीत भागोपेतम् ।

त्यक्तद्वन्द्व नित्यानन्द, शुद्ध तच्च जानीद्वि, त्वम् ॥४॥

अपठ्य —

ओंकाराऽभ्यसन विचित्रकरणै प्राणस्य वायोर्जयात्,
तेजश्चित्तनमात्मकायकमले शून्यातरालंजनम् ।
त्यक्त्वा सर्पमिद कलेवरगत चिंतामनोविभ्रम,
तच्च पश्यत जल्पकल्पनकलातीत स्वभावस्थितम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ५६ की वृत्ति]

यह सर्प रूढि कर्के क्षपकश्रेणि के आडर है, परन्तु तत्र में मन्त्रेशादिषु भाग ही प्रधान है ।

अथ नाथ शुद्धध्यान का नाम कहते हैं —

सवितर्कं सचिचार सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।
त्रियोगयोगिन माधोराघ शुक्ल सुनिर्मलम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ६०]

अर्थः—मन, घचन अरु काया के योग वाले मुनि को प्रथम शुद्धध्यान कहा है । सो कैसा है ? वितर्क के सहित जो घर्ते सो सवितर्क, विचार के सहित उमके भेद जो घर्ते सो सचिचार, तथा पृथक्त्व के सहित जो घर्ने सो सपृथक्त्व है । इन तीनों विगेषणों करके सयुक्त होने से सपृथक्त्व—सवितर्क—सचिचार नामक प्रथम शुद्धध्यान है । इन तीनों विगेषणों का स्वरूप कहते हैं । यह पूर्वोक्त प्रथम शुद्धध्यान, त्रयात्मक-क्रमोत्क्रम

करके गृहीत तीन विशेषण रूप है । तदा श्रुतचिंता रूप वितर्क है, अर्थशब्दयोगांतर में जो सक्रमण करना, सो विचार है । द्रव्य, गुण, पयायादि करके जो अत्यपना है, सो पृथक्त्व है ।

अथ इन तीनों का प्रगट अर्थ कहते हैं । उस में प्रथम वितर्क का स्वरूप कहते हैं । जिस ध्यान में अतरग ध्वनि रूप वितर्क—विचारणा रूप होवे, सो सवितर्क ध्यान है । स्वकीय निमन परमात्मतत्त्व अनुभवमय अतरग भावगत आगम के अवलम्बन से सवितर्क ध्यान है ।

अथ सविचार कहते हैं । जिस ध्यान में पूर्वोक्त वितर्क विचारणारूप, अर्थ से अर्थोत्तर में सक्रम होवे शब्द से शब्दांतर में सक्रम होवे, योग से योगांतर में सक्रम होवे, सो ध्यान, सविचार सन्नमण है ।

अथ पृथक्त्व का स्वरूप कहते हैं । जिस ध्यान में धो पूर्वोक्त वितर्क सविचार अर्थ व्यजन योगांतरों में सक्रमण रूप भी स्वकीय शुद्ध आत्म द्रव्यांतर में जाता है, अथवा गुणों से गुणांतर में जाता है अथवा पर्यायों से पयायांतर में जाता है । *जो सहजात है, सो गुण है, जैसे सुवर्ण में

*सहजाता गुणा द्रव्ये सुवर्ण पीतता यथा ।

क्रमभूतास्तु पयाया मुक्ताकृष्णलतादय ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ६४ की वृत्ति]

पीतता है, अरु जो क्रमभूत है, सो पर्याय है, जैसे सुवर्ण में मुद्रा कुडलादिक हैं। तिन द्रव्य गुण पर्यायानरों में जिस ध्यान में अन्यत्व—पृथक्त्व है, सो सपृथक्त्व है।

अथ आद्य शुद्धध्यान करके जो शुद्धि होती है, सो कहते हैं। ऊपर तीन भेद जिम्मे बतलाये हैं, ऐसा जो पृथक्त्व धितकं विचाररूप प्रथम शुद्धध्यान है, उसको ध्याता हुआ समाधि वाला योगी परम—प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त होता है, जो शुद्धि मुक्तिरूप लक्ष्मी के मुख के दिखलाने वाली है।

अथ इस ही का विशेष स्वरूप कहते हैं। यद्यपि यह शुद्धध्यान प्रतिपाती—पतनशील उत्पन्न होता है, तो भी अति विशुद्ध—अति निर्मल होने से अगले गुणस्थान में चढ़ना चाहता है, एतावता अगले गुणस्थान को दौड़ता है, तथा अपूर्वकरण गुणस्थानस्य जीव निद्रादिक, देवादिक, पंचेन्द्रिय जाति प्रशस्त विहायोगति, घसनवक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, वैक्रियोपाग, आहारकोपाग, आद्य सस्थान, निर्माण, तीर्थकरणाम, वर्णचतुष्क, अगुरलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, यह बत्तीस कर्म प्रकृति का व्यवच्छेद होने से छत्तीस कर्म प्रकृति का बन्ध करता है। तथा अन्तिम तीन सहनन अरु सम्यक्त्वमोह, इन चार के उदय का व्यवच्छेद होने से यहत्तर कर्म प्रकृति को वेदता है, अरु १३८ कर्म प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक अनिवृत्ति नामक नवमे गुणस्थान में आरौ

हण करता हुआ जौनसी कर्म प्रवृत्ति को जहा पर जैने क्षय करता है, सो कहने हैं। पूर्वोक्त आठमे गुणस्थान के अनन्तर क्षपक मुनि अनिवृत्ति नामक नवमे गुणस्थान में चढ़ता है। तत्र तिस्र नवमे गुणस्थान के नव भाग करता है। तहा प्रथम भाग में सोला कर्म प्रवृत्ति का क्षय करता है, सो यह है— १ नरक गति, २ नरकानुपूर्वी, ३ तिर्यग्गति, ४ तिर्येचानु पूर्वी, ५ साधारणनाम, ६ उद्योतनाम ७ सूक्ष्म, ८ छीन्द्रिय जाति, ९ छीन्द्रियजाति, १० चतुरिन्द्रियजाति, ११ एकेन्द्रिय जाति, १२ आतपनाम, १५ स्थानाद्वित्रिक अर्थात् निद्रा निद्रा, प्रचलाप्रचला, स्थानादि, १५ स्थावर नाम। इन सोला कर्म प्रवृत्तियों को नवमे गुणस्थान के प्रथम भाग में क्षय करता है। तथा अप्रत्याग्यान की चौकड़ी अरु प्रत्याग्यान की चौकड़ी यह आठ मध्य के कथायों को दूसरे भाग में क्षय करता है। तीसरे भाग में नपुंसक वेद अरु चौथे भाग में स्त्री वेद का क्षय करता है। तथा पाचमे भाग में हास्य, रति, अरति, भय शोक अरु जुगुप्सा इन छ प्रवृत्ति का क्षय करता है। और छठ भाग से लेकर नवमे भाग तक के चारों भाग में क्रम से शुद्ध शुद्धतर होना हुआ ध्यान की अति निमलता से छठ भाग में पुरुष वेद सातमे भाग में सज्जलन क्रोध, आठमे भाग में सज्जलन मान, नवमे भाग में सज्जलन माया की क्षय करता है। तथा इस गुणस्थान में यत्तता हुआ मुनि हाम्य, अरति, भय जुगुप्सा, इन चारों के व्यवच्छेद होने

से वायीस प्रकृति का वध करता है और हास्यपदक से उदय का व्ययच्छेद होने से स्यासठ प्रकृति को वेदता है । तथा नवमे अणु में माया पर्यन्त प्रकृतियों के क्षय करने से पत्तीस प्रकृति के व्ययच्छेद होने से एक सौ तीन प्रकृति की सत्ता है ।

अथ क्षपक के दशमे गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं । पूर्वोक्त नवमे गुणस्थान के अनन्तर क्षपक मुनि क्षणमात्र से सञ्जलन के स्कूल लोभ को सूदम करता हुआ सूक्ष्मसपराय नामक दशमे गुणस्थान में चढ़ता है । तथा सूक्ष्मसपराय गुणस्थानस्थ जीव पुरुषवेद तथा सञ्जलन क्षपक के वध का व्ययच्छेद होने से सतरा प्रकृति का वध करता है । अथ तीसरे वेद तथा तीन सञ्जलन कषाय के उदय का व्ययच्छेद होने से स्यासठ प्रकृति को वेदता है, माया की सत्ता का व्ययच्छेद होने से एक सौ दो प्रकृति की सत्ता है ।

अथ क्षपक को ग्यारहवा गुणस्थान नहीं होना है, किन्तु दशमे गुणस्थान से क्षपक सूक्ष्मलोभायों—सूक्ष्मीकृत लोभायों की क्षय करता हुआ धारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में जाता है । यहा क्षपकश्रेणी को समाप्त करता है । उस का क्रम यह है, कि प्रथम अनतानुवधी चार का क्षय करता है, फिर मिथ्यात्र मोहनीय, फिर मिश्रमोहनीय, फिर सम्यक्च मोहनीय, फिर अप्रत्याख्यानी चार कषाय, तथा प्रत्याख्यानी चार कषाय, एव स्यासठ कषाय का क्षय करता है, फिर नपुंसक वेद, फिर हास्यपदक, फिर पुरुष वेद, फिर सञ्जलन मोह,

फिर सज्जलन मान, फिर सज्जलन माया, फिर सज्जलन लोभ का चय करता है।

अथ तदा चारहवें गुणस्थान में शुद्धध्यान के दूसरे अर्थ को जिस प्रकार से योगी आश्रित करता है, सो घात कहते हैं।

भृत्नाथ क्षीणमोहात्मा, वीतरागो महायति* ।

पूर्ववद्भावमयुक्तो द्वितीय शुद्धमाश्रयेत् ॥

[गुण० प्रमा० श्लो० ७४]

तदनन्तर सो क्षपक—क्षीणमोह हो कर—क्षीणमोह गुणस्थान के मार्ग में परिणतिमान् हो कर, प्रथम शुद्धध्यान की रीति के अनुसार दूसरे शुद्धध्यान को आश्रित होता है।

* 'अथभूत क्षपक ? वीतराग' विशेषेण इतो गतो रागो यस्मात् स वीतराग । फिर कैसा है क्षपक मुनि ? महायति, यथाख्यात चारिणी । फिर कैसा है मुनि ? शुद्धतर नाम करके संयुक्त, ऐसा क्षपक दूसरे शुद्ध ध्यान को आश्रित होता है।

अथ इसी शुद्धध्यान को नाम और विगेषण से कहते हैं—

अपृथक्त्वमविचार, सपित्तर्कगुणान्वितम् ।

स चायत्येकयोगेन, शुद्धध्यान द्वितीयकम् ॥

[गुण० प्रमा० श्लो० ७५]

* जिस के राग द्वय नष्ट हो चुके हैं, वह वीतराग है।

सो क्षपक—क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती दूसरे शुद्धध्यान को एक योग करके ध्याता है। यदाह —

* एक त्रियोगभाजामाद्य स्यादपरमेकयोगवताम् ।

तनुयोगिना तृतीय, निर्योगाना चतुर्थ तु ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ७५ की वृत्ति]

कैसा ध्यान है ? कि “अपृथक्त्व”—पृथक्त्व वर्जित, “अविचार”—विचार रहित, “सवितर्कगुणान्वित”—वितर्क मात्र गुण से युक्त। इस प्रकार के दूसरे शुद्धध्यान को एक योग से ध्याता है।

अथ अपृथक्त्व का स्वरूप कहते हैं —

निजात्मद्रव्यमेक वा, पर्यायमथवा गुणाम् ।

निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्व विदुर्मुखाः ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ७६]

अर्थ —तत्त्वज्ञाता एकत्व-अपृथक्त्व ध्यान उस को कहते हैं कि जिस में निजात्मद्रव्य—त्रियुद्ध परमात्म द्रव्य अथवा

*भाषा —मन वचन और काया, इन तीनों के योग वाल योगी को शुद्धध्यान का प्रथम पाद होता है, इन तीनों में से किसी एक के योग वाले योगी को उक्त ध्यान का दूसरा पाद होता है, केवल मूढम काययोग वाले योगी को तीसरा पाद और इन तीनों योगों से रहित हुए अर्थात् अयोगी मुनि को शुद्धध्यान का चौथा पाद होता है।

निस ही परमात्मद्रव्य क कबल पर्याय अथवा भक्तिर्ताय गुण का चिन्तन किया जाये । इस प्रकार से जहा एक द्रव्य, एक गुण, एक पर्याय का निश्चल—चरनप्रजित ध्यान किया जाये, सो एकत्र ध्यान है ।

अथ अविचारपना कहत है । इस कात्र में सद्धानकोवित्र अर्थात् शुद्धध्यान का जाननेहारा पूव मुनिप्रणीत शास्त्राज्ञाय विशेष से ही ज्ञान हो सक्ता है, परन्तु शुद्ध ध्या का अनुभवी इस काल में कोई नहीं । यदाहु श्रीहमचन्द्र मूरिपादा —

*अनविच्छिन्त्याऽऽज्ञाय , समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभि ।
दुष्परमप्याधुनिकै शुद्धध्यान यथाशास्त्रम् ॥

[यो० शा०, प्र० ११ श्लो० ४]

तथाच जिन सद्धानकोविदों न शास्त्राज्ञाय न शुद्ध ध्यान का रहस्य जाना है निर्मा ने अविचार विशेषण सयुक्त दूमरे शुद्धध्यान का स्वरूप कहा है, सो क्या है ? जो पूर्वोक्त स्वरूप व्यजन अर्थ योगों में एतावता सदाथ योगरूपों में परावर्त्त विवर्जित—शब्द से शब्दानर, इत्यादि प्रम से रहित श्रुत ज्ञान क अनुसार ही चिन्तन किया जाना है, सो अविचार शुद्धध्यान है ।

अथ सचिन्तक कहत है । जिस ध्यान में भावश्रुत के

* 'अनविच्छिन्त्या०' पाठांतर है ।

आलयन से अर्थात् अन्त कारण से मूक्ष्म जल्परूप भावगत आगम श्रुत के अलयन मात्र से, निज विशुद्ध आत्मा में मिलीन हो कर मूक्ष्म विचारणात्मक जो आत्मचिन्तन करना, उसे स्ववितर्क कहते हैं।

अथ शुद्धध्यातजनित समरस भाव को कहते हैं। इस प्रकार से एकत्र अविचार और स्ववितर्क रूप तीन विशेषण संयुक्त दूसरा शुद्धध्यान कहा। इस दूसरे शुद्धध्यान में उत्तमा हुआ ध्यानी निरन्तर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने के कारण समरस भाव को धारण करता है। सो यह समरस भाव जो है, सो तदेकशरण माना है। कारण कि आत्मा को अपृथक्त्व रूप से जो परमात्मा में लीन करना है, सोई समरस भाव का धारण करना है।

अथ क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में योगी जो करता है, सो कहते हैं। इस पूर्वोक्त ध्यान के योग से और दूसरे शुद्धध्यान के योग से कर्मरूप इन्धन के समूह को भस्म करता हुआ क्षपण-योगीन्द्र अन्त के प्रथम समय अर्थात् धारहवें गुणस्थान के दूसरे चरम समय में निद्रा भर प्रचला, इन दो प्रवृत्ति का क्षय करता है।

अथ अत समय में जो करता है, सो कहते हैं। क्षीण मोह गुणस्थान के अन्त समय में चक्षुर्वदान, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, यह चार दर्शनावरणीय तथा पञ्चविध ज्ञानावरण, तथा पञ्चविध अन्तराय, इन चौदह

प्रकृति का क्षय करके क्षीणमोहाण हो करके केवल स्वरूप होता है । तथा क्षीणमोह गुणस्थानस्थ जीव दर्शन चतुष्क अरु ज्ञानातरायद्राक, उच्चैर्गोत्र, यतनाम, इन सोला प्रकृति के बंध का व्यवच्छेद होने में एक सातावेदनी का बंध करता है । तथा सज्वलन लोभ, ऋषभनाराचसघयण, इनके उदय का विच्छेद होने में सत्तायन प्रकृति को वेदता है । तथा उसमें सज्वलन लोभ की मत्ता दूर होने से एक ही एक प्रकृति की मत्ता है ।

अब क्षीणमोहान में प्रकृतियों की सख्या कहते हैं । चौथे गुणस्थान में लेकर क्षय होती हुई त्रैसठ प्रकृति क्षीणमोह में संपूर्ण होती है, अर्थात् इस बारहवें गुणस्थान में आ कर उनको वह सर्वथा नष्ट कर देता है । एक प्रकृति चौथे गुणस्थान में क्षय हुई एक पाचमे आठ नानमे छत्तीस नवमे में, अनंतरा बारहवें में यह सत्र त्रैसठ भई । तथा शेष पचासी प्रकृति तो तेरहवें सयोगिनेत्रगी गुणस्थान में नेत्र अत्यन्त जीव वस्त्र समान रहती हैं ।

अथ सयोगि केरली गुणस्थान में जो भाव सम्यग्भव और चारित्र होता है, सो कहते हैं । इस सयोगिनेत्रली सयोगी गुणस्थान में सयोगी केरली आत्मा गुणस्थान को अतिविशुद्ध-निर्मल क्षायिक भाव होता है, और सम्यक्तर परम-प्रकृष्ट क्षायिक ही होता है तथा चारित्र भी क्षायिक यथाख्यात नामक होता

है। इसका तात्पर्य यह है, कि उपराम अथ चायोपरामिक यह दो भाव सयोगी केवली के नहीं होते हैं।

अथ तिस केवली के केवलज्ञान केवल की कहते हैं। तिस केवली परमात्मा केवलज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश करके चराचर जगत् हस्तामलक प्रत्—हाथ में रखे हुए आमले की नरें प्रत्यक्ष-साक्षात्कार करके भासमान होता है। यहा प्रकाशमान सूर्य की उपमा जो कही है, सो व्यवहार मात्र से कही है, निश्चय से नहीं कही। कारण कि निश्चय में तो केवल ज्ञान का अथ सूर्य का उड़ा अंतर है।

अथ जिस ने तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन किया है, तिस की विशेषता कहते हैं। विशेष करके अर्हत की भक्ति प्रमुख थीस पुण्य स्थान विशेष का जो जीव आराधन करता है, सो तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन करता है। सो थीस स्थान यह हैं—

* अरिहत सिद्ध पवयण, गुरु थेर बहुस्सुए तपस्सोसु ।
वच्छलया एएसु अभिक्खनाणोपयोगे अ ॥ १ ॥
दंसणविणए आपस्सए अ सीलच्चए निरइयारे ।

* अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुभ्रते तपस्विपु ।

वात्सल्यमेतेषु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगौ च ॥ १ ॥

दर्शनचिनमौ आश्रयस्थानि च शीलमते निरतिचारता ।

खण्वतवच्चियाए, वेयावचे समाही अ ॥ २ ॥

अपुव्वनाणग्गहणे, सुअभत्ती पवयणे पभाणया ।

एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्त नइइ जीओ ॥ ३ ॥

[आ० नि०, गा० १७२-१८१]

इन का अर्थ आगे लिखेंगे । तिस वास्ते यहा सयोगी गुणस्थान में तीर्थकर नाम धर्मादय मे वो केवली त्रिजगत्पति—त्रिभुवनपति जिनेन्द्र होता है । जिन सामान्य केवलियों को कहते हैं, तिन में जो इन्द्र की नरें होवे, सो जिनेन्द्र जानना ।

अथ तीर्थकर की महिमा कहते हैं । सो भगवान् तीर्थकर पूर्वाक्त चौतीस अतियय करके सयुक्त होता है और सर्व देवता जिस को नमस्कार करते हैं, तथा सफल मान्यों ने जिस को नमस्कार करा है, सो सर्वोत्तम-सफल शासनों में प्रधान, तीर्थ का प्रवचन करता हुआ उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि लग विद्यमान रहता है ।

अथ सो तीर्थकर नाम धर्म को तीर्थकर भगवान् जैसे भोगते हैं, सो कहते हैं । तीर्थकर भगवान् पृथ्वी मण्डल में भव्यजीवों के प्रतिबोधने तथा योग्यतानुसार भव्य जीवों को

खण्वतवत्पत्यागा वेयावृत्त्य समा धरव ॥ २ ॥

अपुव्वनाणग्गहणे अथभत्ति प्रवचने प्रभाणया ।

एएहिं कारणस्तीथकरत्वं लभते जीव ॥ ३ ॥

देशनिरति और सत्रनिरति का उपदेश करने से तीर्थनर नामकर्म को वेदते हैं। जेकर तीर्थनर नामकर्म का उदय न होवे, तत्र वृत्तव्य होने से भगवान् को उपदेश देने का क्या प्रयोजन है ? इस रास्ते जो वादी भगवान् को निररीरी निरुपाधिर, मुग्गादि रहित और सत्रन्यापी मानते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि देहादि के अभाव से वह धर्म का उपदेशक नहीं हो सकता है। जेकर उपाधि रहित, सत्रन्यापी परमेश्वर भी उपदेशक होवे, तत्र तो अथ इस काल में अस्मदादिकों को क्यों उपदेश नहीं करना है ? क्योंकि पूर्वकाल में अग्नि आदिक ऋषियों को उसने प्रेरण, तथा ब्रह्मादि द्वारा चार वेद का उपदेश करा, तथा मूसा, ईसा द्वारा जगत् को उपदेश करा। तो फिर अथ क्यों नहीं उपदेश करता ? वह तो परोपकारी है, तो फिर वेरी किस वास्ते ? जेकर कहो कि इस काल में सर्व जीव उपदेश मानने के योग्य नहीं हैं, इस वास्ते उपदेश नहीं देता, तत्र तो पूव काल में भी सर्व जीवों ने परमेश्वर का उपदेश नहीं माना है। प्रथम तो कालासुर प्रमुग्ग अनेक जीवों ने नहीं माना, दूसरा अजाजील ने नहीं माना। और यहूदियों ने तथा कितनेक इसराइलियों ने नहीं माना, इस रास्ते पूर्वकाल में भी परमेश्वर को उपदेश देना योग्य नहीं था। जेकर कहो कि उसकी घोड़ी जाने कि उसने पहले क्योंकर उपदेश दिया अरु अथ किस वास्ते नहीं देता। तो फिर तुम क्योंकर कहने हो कि परमेश्वर

के मुख नहीं ? इस वास्ते यही सत्य है, कि जो तीथरू नामकन के वेदने के वास्ते भगवान् उपदेश करते हैं, अरु जिस वषत उपदेश करते हैं, उस वषत वेदवारी होते हैं । इत्यल प्रसगेन । केवली-केवलज्ञानवान् पृथ्वी मण्डल में उत्कृष्ट आठ वष न्यून पूवमोदि प्रमाण विचरते हैं, और देवताओं के करे हुए वचनकमलों के ऊपर पग रख कर चलते हैं, अरु आठ प्रातिहार्य कटके सयुक्त, अनेक सुरासुर फोटि से सेधित होकर विचरते हैं । यह स्थिति सामान्य प्रकार से केवलियों की वही है अरु जिनेंद्र तो मयास्थिति वाले होते हैं ।

अथ केवलिसमुद्घातकरण कहते हैं ।

चेदायुष स्थितिर्न्यूना, मकाशाद्वेद्यकर्मण ।

तदा तत्तुल्यता कर्तुं समुद्घात करोत्यसौ ॥

[गुण० प्रमा० श्लो० ८९]

अर्थ —केवली अरु वेदनीय कम से आयु रूम की स्थिति को थोड़ी जानता है, तब तिस को तुल्य कवलिसमुद्घात करने वास्ते समुद्घात करता है । तिस समुद्घात का स्वरूप कहते हैं । तदा प्रथम समुद्घात पद का अर्थ कहते हैं । यथा स्वभावस्थित आत्मप्रदेशों की वेदनादि सात कारणों-फरके समतात् उद्घातन—स्वभाव से अन्य भावपने परि

गमन करना, तिस का नाम समुद्रघात है । सो समुद्रघात सात प्रकार का है—१ वेदनास०, ० कषायस०, ३ मरणस०, ४ प्रक्रियस० ५ तेजस०, ६ आहारकस०, ७ केवलिस० । इन सातों समुद्रघातों में से यहा पर केवलिसमुद्रघात का ग्रहण करना । तिस केवलिसमुद्रघात के वास्ते केवली भगवान् आयु अरु वेदनीय कर्म को सम करने के वास्ते प्रथम समय में आत्मप्रदेशों करके ऊर्ध्वलोकात् तक दंडत्व—दंडाकार अंगे आत्मप्रदेश करता है, दूसरे समय में पूर्व, पश्चिम दिशा में आत्मप्रदेशों को कषाटाकार करता है, तीसरे समय में उत्तर, दक्षिण में आत्मप्रदेशों को मथाभाकार करता है, चौथे समय में अतर पूर्ण करने से सर्व लोक व्यापी होता है । इस तरे केवली समुद्रघात करना हुआ चार समयों में विव्यापी होता है ।

अथ इहा से निवृत्ति कहते हैं । इस प्रकार से केवली आत्मप्रदेशों को विस्तार करने के प्रयोग से कर्मलेश को सम करता है । सम करके पीछे तिस समुद्रघात से उल्टा निरर्त्तता है । सो ऐसे हैं—केवली चार समय में जगत् पूर्ण करके पाचमे समय में पूर्ण से निरर्त्तता है, छठे समय में मथानपना दूर करता है, सातमे समय में कषाट दूर करता है, आठमे समय में दंडत्व का उपसहार करता हुआ स्वभा प्रस्थ होता है । यदाहुर्वाचिकमुल्या—

दृढ प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा ममये ।
 मथानमथ ततोये, लोकाव्यापी चतुर्थे तु ॥
 सहरति पचमे त्वन्तराणि मथानमथ पुन षष्ठे ।
 मप्तमके तु कपाट, महरति तथाऽष्टमे दृढम् ॥

[गुण० प्रमा०, श्लो० ०१ की वृत्ति]

अथ केवली समुद्घात करता हुआ जैसे योगदान् अरु
 अनाहारक होता है, सो कहते हैं। रूपली समुद्घात करता
 हुआ प्रथम अरु अत्र समय में भौदारिकनाययोग घाला
 होता है, दूसरे छठे अरु सातमे समय में मिथौदारिकनाय
 योगी होता है। मिथयता इहा कामग से भौदारिक का है। तथा
 तीसरे, चौथे अरु पाचमे समय में केवल कामणनाययोग
 घाटा होता है। जिन समयों में केवली केवल कामण नाय
 योग घाला होता है तिन ही समयों में अनाहारक
 होता है।

अथ कौन सा केवली समुद्घात करता है, कौन सा नहीं
 करता है, सो कहते हैं। जिस की छ महीने से अधिक
 आयु शेष है, जेकर उस को केवल ज्ञान होवे सो तो निश्चय
 समुद्घात करे, अरु जिस की छ महीने क भीतर आयु
 होवे, उस को जो केवल ज्ञान होवे सो भजना है, अथात्
 सो रूपली समुद्घात करे भी यह नहीं करे। यदाह—

* छम्मासाऊ सेसे, उप्पन्न जेसि केवल नाण ।

ते नियमा ममुग्घाया, मेसा ममुग्घाय भट्टयन्वा ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ६४ की वृत्ति]

अथ समुद्घात से निवृत्त हो करके जो कुछ करना है, सो कहते हैं । मन, वचन अथवा काय योगवान् केवली केवल समुद्घात से निवृत्त हो कर योगनिरोधन के वास्ते शुद्ध ध्यान का तीसरा पाद ध्याता है । मोई तीसरा शुद्धध्यान कहते हैं । तिस अवसर में तिस केवली को तीसरा सूक्ष्म क्रियानिवृत्तिक नाम शुद्धध्यान होता है । सो कपनरूप जो क्रिया है, तिस को सूक्ष्म करना है ।

अथ मन, वचन, काया के योगों को जैसे सूक्ष्म करना है, सो कहते हैं । सो केवली सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक तीसरे शुद्धध्यान का ध्याता, अचित्त्य आत्मवीर्य की शक्ति करके वादरकाययोग में स्वभाव से स्थिति करके वादर वचन योग और वादर मनोयोग को सूक्ष्म करना है, तिस के अनन्तर वादरकाय योग को सूक्ष्म करता है, फिर सूक्ष्मकाययोग में क्षण मात्र रह करके तत्काल सूक्ष्म वचनयोग और मनोयोग का अपचय करता है, तिस के पीछे सूक्ष्म काययोग में क्षण मात्र रह कर सो केवली निजात्मानुभव को

* छाया — यम्मात्सायुषि शेषे उत्पन्न येयां केवलज्ञानम् ।

ते नियमासमुद्घातिन नेपा समुद्घाते भक्त्या ॥

सूक्ष्म क्रिया चित्रूप को स्वयमेव धरने स्वरूप का अनुभव करता है—जानता है।

अथ जो सूक्ष्म क्रिया वाले शरीर की स्थिति है, सोई केवलियों का ध्यान होता है। अब यह ध्यान कहते हैं। जिम् प्रकार मे रूद्रस्थ योगियों के मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं तैमे ही शरीर की निश्चलता को 'केवलियों का ध्यान होता है।

अथ शैलेशीकरण का आरम्भ करने वाला सूक्ष्म काय योगी जो कुछ करता है, सो कहते हैं। केवली क ह्रस्वाक्षर पात्र के उच्चारण करने मात्र काल जितना आयु शेष रहता है, तथ शैल्यत्र निश्चलकाय को चतुर्विधध्यानपरिणतिरूप शैलेशीकरण होता है। तिस पीछे सो केवली शैलेशीकरणा रम्भी सूक्ष्मरूप काययोग में रहता हुआ शीघ्र ही अयोगी गुणस्थान में जाने की इच्छा करता है।

अथ सो भगवान् केवली मयोगिगुणस्थान के अत्य समय में आदारिकद्विक, अस्थिरद्विक, विद्यायोगतिद्विक, प्रत्येक-त्रिक, सम्यानपदक, अगुम्लधुचतुष्क, घर्णादिचतुष्क, निर्माण, तैजस, फार्मण, प्रथम सहनन स्वरद्विक, पक्तर वेदनीय, इन तीस प्रकृति के उदय का विच्छेद होता है। यहा पर अगोपाग के उदय का व्यच्छेद होने से अत्याग मस्थानात्रगाहना से तीसरा भाग कम अत्रगाहना करता है। किस कारण से? अपने प्रदेशों को धनरूप करने से चरम

शरीर के अंगोपाग में जो नासिकादि छिद्र हैं, तिन को पूर्ण करता है। तब स्यात्मप्रदेशों का घनरूप हो जाता है। तिस वास्ने स्थप्रदेशों का घनरूप होने से तीसरा भाग न्यून होना है। सयोगिगुणस्थानस्य जीव, एकविध बंधक उपात्य समय तक अरु शानातराय, दर्शन चतुष्कोदय का व्यच्छेद होने से त्रैतालीस प्रकृति को वेदता है। तथा निद्रा, प्रचला, शानातरायद्राक, दर्शनचतुष्क रूप सोला प्रकृतियों की सत्ता का व्यच्छेद होने में तथा पचासी प्रकृति की सत्ता है।

अथ अयोगी गुणस्थान की स्थिति कहत है। तेरहवें गुणस्थान के अनन्तर चौदहवें अयोगी गुण अयोगिम्बली स्थान में रहते हुए जिनेंद्र की लघु पचा- गुणस्थान चार उच्चारणमात्र अर्थात् 'अ इ उ ऋ लृ' इत पाच वर्णों के उच्चारण करते जितना काल लगता है, तितनी स्थिति है। इस अयोगी गुणस्थान में ध्यान का सभव कहते हैं। इहा अनिवृत्ति नामक चौथा ध्यान होता है। चौथे ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

समुच्छिन्ना क्रिया यत्र मूक्ष्मयोगान्मिकाऽपि हि ।

समुच्छिन्नक्रिय प्रोक्तं तद् द्वार मुक्तिवेश्मनः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० १०६]

अर्थ—जिस ध्यान में सूक्ष्म काययोग रूप क्रिया भी

“समुच्छ्रिता”—सर्पया निरुत्त हुई है, सो समुच्छ्रितक्रिय नाम “चतुर्थे—चौथा ध्यान कहा है। वैसा चो ध्यान है ? कि मुक्ति महल के द्वार—दरवाजे के समान है।

अथ शिष्य के करे दो प्रश्न कहते हैं। शिष्य पूछता है कि हे प्रभु ! देह के होते हुए अयोगी क्योंकर हो सकता है ? यह प्रथम प्रश्न। तथा जेकर सर्पया काययोग का अभाव हो गया है, तब देह के अभाव से ध्यान क्योंकर घटेगा ? यह दूसरा प्रश्न है।

अथ आचार्य इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हैं। आचार्य कहते हैं, कि भो शिष्य ! अग्र-अयोगी गुणस्थान में सूक्ष्म-काययोग के होते भी अयोगी कहते हैं। किस घास्ते ? कि १ काययोग के अति सूक्ष्म होने से—सूक्ष्म निया रूप होने से, अरु चो काययोग शीघ्र ही क्षय होने वाला है। तथा काय के कार्य करने में असमर्थ होने से, काय के होते भी अयोगी है। तथा शरीराश्रय होने से ध्यान भी है। इस घास्ते विरोध नहीं। किस के ? अयोगी गुणस्थानरर्त्ती परमेष्ठी भगवान् के। कैसे परमेष्ठी भगवान् के ? कि जो निज शुद्धात्माचिद्रूपतन्मयपने से उत्पन्न, निमर परमानन्द में विराजमान है।

अथ ध्यान का निश्चय और व्यवहारपना कहते हैं। तत्र से—निश्चय नय के मत से आत्मा ही ध्याता, अर्थात् आत्मा ही करण रूप से कर्मरूपतापन्न आत्मा को

ध्याता है, तिस से अन्य जो कुछ उपचाररूप अष्टाग योग प्रवृत्ति लक्षण, सो सर्व ही व्यवहार नय के मत से जानना ।

अथ अयोगिगुणस्थानवर्त्ती के उपात्य समय का कृत्य कहते हैं । केवल चिद्रूपमय आत्मस्वरूप का धारक योगी अयोगिगुणस्थानवर्त्ती ही स्फुट-प्रगट उपात्य समय में शीघ्र युगपत्-समकाल बहत्तर कर्म प्रकृति का क्षय करता है । सो यह है—देह पाच अर्थात् शरीर पाच, बधन पाच, सघात पाच, अगोपाग तीन, सस्थान छ वर्णपचक, रस-पचक, सहननपदक, अस्थिरपदक, स्पर्शाष्टक, गन्ध दो, नीचगोत्र, अगुणलघुचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, पगति द्विक, प्रत्येकत्रिक, सुस्वर, अपर्याप्तनाम, निर्माणनाम, दोनों में से कोई भी एक वेदनीय, यह सर्व बहत्तर कर्म प्रकृति मुक्तिपुरी के द्वार में अर्गलभूत है, सो केवली भगवान् इन का उपात्य समय—द्विचरम समय में क्षय करता है ।

अथ अयोगी अन्त समय में जौनसी कर्मप्रकृति का क्षय करके जो कुछ करता है, सो कहते हैं । सो अयोगी अन्त समय में एकतर वेदनीय, आवेयच, पर्याप्तत्व, त्रसत्व, वादरत्व, मनुष्यायु, यज्ञनाम, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, सौभाग्य, उच्चगोत्र, पंचेंद्रियत्व, तीर्थकरनाम, इन तेरा कर्म प्रकृति का क्षय करके उसी समय में सिद्ध पर्याय को प्राप्त होता है । सो सिद्ध परमेष्ठी, सनातन भगवान् शाश्वत लोकात् के पर्यन्त को जाता है । तथा अयोगिगुणस्थानस्य

जीव अरुचक है। तथा एकतर वेदनीय आदेय, यण, सुभग, प्रसन्निक, पचेंद्रियत्व, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, तीर्थकरनाम, इन तेरा प्रकृति को घेदता है। अन्त के दो समय से पहिले पचासी की सत्ता रहती है, उपात्य समय में तेरह प्रकृति की सत्ता रहती है, अद्य अत समय में सत्ता रहित होता है।

आशका—निष्कर्म-कर्म रहित आत्मा तिस समय में लोकात में कैसे जाता है ?

समाधान—सिद्ध-कर्म रहित की ऊर्ध्वगति होती है

‘कस्मात्’-मिस हेतु से होती है ? पूर्व

मुक्त आत्मा प्रयोग से-अचित्य आत्मवीय करके उपात्य

की गति दो समय में पचासी कर्मप्रकृति के क्षय

करने के घास्ते पूर्व में जो व्यापार प्रारम्भ

किया था, तिस से ऊर्ध्वगति होती है, यह प्रथम हेतु है।

तथा कर्म की सगति रहित होने से ऊर्ध्वगति होती है, यह

दूसरा हेतु है। तथा गाढतर चवनों करके रहित होने से

ऊर्ध्वगति होती है, यह तीसरा हेतु है। तथा कर्म रहित

जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है यह चौथा हेतु है। यह चार

हेतु चारों दृष्टातों सहित कहते हैं। १ जैसे कुम्भकार का

चक्र पूर्व प्रयोग से फिरता है, तैसे आत्मा की भी पूर्वप्रयोग

से ऊर्ध्वगति होती है। २ जैसे माटी के लेप से रहित

होने से तूवे की जल में ऊर्ध्वगति होती है, तैसे ही अष्टकर्म

रूप लेप की सगति मे रहित धर्मास्तिकायरूप जल करके आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है । ३ जैमे परड का फल, यीजादि वचना मे छुटा हुआ ऊर्ध्वगति वाला होता है तैसे ही कर्म अथ के विच्छेद होने से सिद्ध की भी ऊर्ध्वगति होती है । ४ जैमे अग्नि का ऊर्ध्व ज्वलन स्वभाव है, तैसे ही आत्मा का भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव है ।

अथ कर्म रहित की नीची अथ तिरछी गति नहीं होती, यह बात कहते हैं । सिद्ध की आत्मा कर्मगौरव के अभाव से नीचे को नहीं जाती, तथा प्रेरक कर्म के अभाव से आत्मा तिरछी भी नहीं जाती है । तथा कर्म रहित सिद्ध लोक के ऊपर भी, धर्मास्तिकाय के न होने से नहीं जाता । क्योंकि लोक में भी जीव, पुद्गल के चलने में धर्मास्तिकाय गति का हेतु है, मत्स्यादि को जैमे जल है । सो धर्मास्तिकाय अलोक में नहीं, इस वास्ते अलोक में सिद्ध नहीं जाते ।

अथ सिद्धों की स्थिति अर्थात् सिद्धशिला से ऊपर लोक के अत मे जैसे सिद्ध रहते हैं । सो सिद्धशिला कहते हैं । ईषत् प्राग्भारतामा भूमि-सिद्ध-शिला चौदह रज्जुलोक के मस्तक के ऊपर व्यवस्थित है । उस को सिद्धों के निकट होने करके सिद्ध शिला कहते हैं । परन्तु सिद्ध कुछ उस शिला के ऊपर बैठे हुए नहीं हैं । सिद्ध तो उस शिला से ऊचे लोकात में विराजमान हैं । वो शिला कैसी है ? मनोहा-मनोहारिणी

जीव अरुधक्क है। तथा एकनर वेदनीय आदेय, यण, सुभग, प्रसन्निक, पचेंद्रियत्व, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, तीर्थंकरनाम, इन तेरा प्रकृति को वेदता है। अन्त के दो समय से पहिले पचासी की सत्ता रहती है, उपात्य समय में तेरह प्रकृति की सत्ता रहती है, अरु अत समय में सत्ता रहित होता है।

आशका—निष्कर्म-कर्म रहित आमा तिस समय में लोनात म कैसे जाता है ?

समाधान—सिद्ध-कर्म रहित की ऊर्ध्वगति होती है, 'कस्मात्'—किस हेतु से होती है ? पूर

मुक्त आत्मा प्रयोग से—अर्चित्य आत्मवीय करके उपात्य की गति दो समय में पचासी कर्मप्रकृति के क्षय करने के वास्ते पूर्व में जो व्यापार प्रारम्भ

किया था, तिस से ऊर्ध्वगति होती है, यह प्रथम हेतु है। तथा कर्म की सगति रहित होने से ऊर्ध्वगति होती है, यह दूसरा हेतु है। तथा गाढतर उधनों करके रहित होने से ऊर्ध्वगति होती है, यह तीसरा हेतु है। तथा कर्म रहित जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, यह चौथा हेतु है। यह चार हेतु चारों दृष्टांतों सहित कहते हैं। १ जैसे कुम्भकार का हेतु चारों दृष्टांतों से फिरता है, तैस आत्मा की भी पूवप्रयोग चक्र पूर्व प्रयोग से फिरता है, तैस माटी के लेप से रहित होने से तूवे की जल में ऊर्ध्वगति होती है, तैसे ही अष्टकर्म

रूप लेप की सगति से रहित धर्मास्तिकायरूप जल करके आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है । ३ जैसे परड का फल, बीजादि बधनों से छुटा हुआ ऊर्ध्वगति वाला होता है, तैसे ही कर्म रथ के विच्छेद होने से सिद्ध की भी ऊर्ध्वगति होती है । ४ जैसे अग्नि का ऊर्ध्व ज्वलन स्वभाव है, तैसे ही आत्मा का भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव है ।

अथ कर्म रहित की नीची अथ तिरछी गति नहीं होती, यह बात कहते हैं । सिद्ध की आत्मा कर्मगौरव के अभाव से नीचे को नहीं जाती, तथा प्रेरक कर्म के अभाव में आत्मा तिरछी भी नहीं जाती है । तथा कर्म रहित सिद्ध लोक के ऊपर भी, धर्मास्तिकाय के न होने से नहीं जाता । क्योंकि लोक में भी जीव, पुद्गल के चलने में धर्मास्तिकाय गति का हेतु है, मत्स्यादि को जैसे जल है । सो धर्मास्तिकाय अलोक में नहीं, इस वास्ते अलोक में सिद्ध नहीं जाते ।

अथ सिद्धों की स्थिति अर्थात् सिद्धशिला में ऊपर लोक के अत में जैसे सिद्ध रहते हैं । सो सिद्धशिला कहते हैं । ईषत् प्राग्भारनामा भूमि-सिद्धशिला चौदह रज्जुलोक के मस्तरु के ऊपर व्यवस्थित है । उम को सिद्धों के निरुद्ध होने करके सिद्धशिला कहते हैं । परन्तु सिद्ध कुछ उस शिला के ऊपर बैठे हुए नहीं हैं । सिद्ध तो उस शिला से ऊचे लोकात् में विराजमान हैं । वो शिला कैसी है ? मनोषा-मनोहारिणी

है। फिर यो गिला कैसी है ? सुगन्धि-कपूर में भी अधिक सुगन्धि घाला है, अथ योमल-मूत्रम है अथयव जिस के। फिर यो शिला कैसी है ? पुण्या-पवित्र । परममासुरा-प्रष्ट तेजमाली है। मनुष्यक्षेत्र प्रमाण लकी चाडी है। ज्येष्ठ छत्र के समान है-उच्चान छत्राचार है। उम का पड़ा शुभ रूप है। यो ईपन् प्राग्मारनामा पृथ्वी सरार्थसिद्ध विमान में धारह योजन ऊपर है। अथ यो पृथ्वी मध्य भाग में आठ योजन की मोटी है, तथा प्रात में घटनी घटती मरुती के पत्र में भी पतली है। तिस दिग्ग के ऊपर एक योजन लोफान है, उम योजन का जो चाया बोल है, उस बोल के छठ भाग में सिद्धों की अचगाहना है। सो यह दो हजार धनुष प्रमाण बोल के छठे भाग में तीन सौ तत्तीस धनुष अथ अर्त्तीस अगुन होना है। उतनी सिद्धों के आत्मप्रदेशों की अचगाहना है।

अथ सिद्धों के आत्मप्रदेशों की अचगाहना का आकार लिखते हैं। जैसे मूषा-गुडली में मीम भर के गाले, तिस के गाले से जो आकार है, तैसा सिद्धों का आकार है।

अथ सिद्धों के ज्ञान दर्शन का विषय लिखते हैं। त्रिलो फयोदरवर्ती चौदह रज्ज्वात्मक लोक में जो गुणपर्याय करके युक्त वस्तु है, तिन जीयाजीन पदार्थों को सिद्ध-मुक्त आत्मा स्पष्ट रूप से देखते और जानते हैं, अर्थात् सामान्य रूप करके देखते हैं, विशुद्धरूप करके जानते हैं। क्योंकि वस्तु जो है, सो

सर्व सामान्यविशेषात्मक है ।

अथ सिद्धों के आठ गुण कहते हैं । १. सिद्धों को -ज्ञाना
घरण कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञान प्रगट
मिवावस्था हुआ है । २ सिद्धों को दर्शनाकरण कर्म के
क्षय होने से अनन्त दर्शन हुआ है । ३ सिद्धों
को क्षायिकरूप शुद्ध सम्यक्त्व और चरित्र दर्शनमोहनीय
और चारित्रमोहनीय के क्षय होने से हुए हैं । ४ सिद्धों का
अनत-अक्षय सुख अरु ५ अनत वीर्य । वेदनीय कर्म के
क्षय होने से अनत सुख हुआ है, और अतराय कर्म के क्षय
होने से अनत वीर्य प्रगट हुआ है । तथा ६ सिद्धों की
अभयगति आयु'कर्म के क्षय होने से हुई है । ७ नामकर्म के
क्षय होने से अमूर्त्तपना सिद्धों को प्रगट भया है । ८ गोत्र
कर्म के क्षय होने से सिद्धों की अनत अवगाहना है ।

अथ सिद्धों का सुख कहते हैं । जो सुख चक्रवर्ती की
पदवी का, अरु जो सुख इन्द्रादि पदवी का है, तिस से भी
सिद्धों का सुख अनत गुणा है । वो सुख हेय रहित है ।
अर्थात् "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा हेया"—अविद्या,
अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, यह हेय हैं, सो जिनमें नहीं
हैं । फिर कैसा है सुख ? "अव्यय-न ज्येति—स्वभाव से जो
नाश नहीं होता ।

अथ सिद्धों ने जो कुछ प्राप्त किया है, तिस का सार कहते
हैं । अराधक जिस वस्तु का आराधन करते हैं, साधक पुरुष

ज्ञान दर्शन और चरित्र द्वारा जिस की सिद्धि के वास्ते प्रयत्न करते हैं योगी लोग जिन्ह के वास्ते निरंतर ध्यान करते हैं। उस परम पुनीत पद का सिद्धी ने प्राप्त किया है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप पद अमर्य जीवों को सर्वथा दुर्लभ है।

अथ मुक्ति का स्वरूप कहत हैं। कोई एक यादी अत्यन्त उभाव रूप मोक्ष मानते हैं। सा चौदों की मोक्ष है। अथ कोई वादी जडमयी—ज्ञानाभाजमयी मोक्ष मानते हैं, सो नैयायिक वैशेषिक मत याने हैं। अथ कोई एक यादी मोक्ष होकर फिर ससार में अज्ञान लगत, फिर मोक्षरूप हो जाना, ऐसी मोक्ष मानत हैं, सो भाजीयक मत याने हैं। अथ कोई तो त्रिपयसुखमय मोक्ष मानते हैं। वे कहते हैं, कि मोक्ष में भोग करने के वास्ते बहुत अप्परा मिलती हैं। और पाने पीने को बहुत यम्बु मिलती है, तथा पान करने को बहुत अच्छी मदिरा मिलती है, और रहने की सुंदर याग मिलता है इत्यादि। तथा कोई एक यादी कहते हैं कि मोक्ष, जीव की कदापि नहीं जाती यह जैमिनी मुनि का मत है। तथा कोई खरडशानी ऐसे कहत हैं, कि जो वैशेक्त अनुष्ठान करता है, वो सर्वथा उपाधि रहित तो नहीं होता, परन्तु शुभ पुण्य फल से सुंदर देह पाकर ईश्वर के साथ मिल कर कितनेक कर्षों एगि सुख भोग करता है, जहा इच्छ होने, तहाँ उड़ कर चला जाता है, फिर ससार में

जन्म लेना है, फिर पूर्वजन्म सुख भोग करता है, इसी तरह अनादि अनन्तकाल लागि करता रहेगा । परन्तु एक जगें स्थित न रहेगा । इस प्रकार भिन्न २ मोक्ष कहते हैं । परन्तु सर्वज्ञ अर्हत परमेश्वर ने तो सत्वरूप-ज्ञानदर्शनरूप, तथा असारभूत जो यह ससार है, तिस से भिन्न सारभूत, निस्सीम आत्यंतिक सुखरूप, अनन्त, अतीन्द्रियानन्द अनुभवस्थान, अप्रतिपाती, स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष कही है ।

प्रश्न—हे जैन ! तुम ने सर्व चादियों की कही हुई मोक्ष को तो अनुपादेय समझा, अब अर्हत की कही हुई मोक्ष उपादेय समझी । इन में क्या हेतु है ?

उत्तर—हे भव्य ! इन सर्व चादियों की मोक्ष पीछे पददर्शन के निरूपण में लिख आये हैं, सो जान लेनी । इन चादियों की कही मोक्ष ठीक नहीं, कारण कि जब अत्यन्त-ऽभावरूप मोक्ष होये, तब तो आत्मा ही का अभाव हो गया, तो फिर मोक्ष फल किस को होवेगा ? ऐसा कौन है जो आत्मा के अत्यन्तभाव होने में यत्न करे ? तथा जो ज्ञानाभाव को मोक्ष मानते हैं, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब ज्ञान ही न रहा, तब तो पापाण भी मोक्षरूप हो गया । तो ऐसा कौन प्रेक्षावान् है जो अपनी आत्मा को जट पापाण तुल्य बनाना चाहे ? तथा जो सर्व व्यापी आत्मा को मोक्ष मानते हैं, अर्थात् जब आत्मा की मोक्ष होती है, तब आत्मा सर्व व्यापी मोक्ष रूप होती है, यह भी कहना प्रमाणानभिष्ट पुरुषों का

है। क्योंकि आत्मा किसी प्रमाण से भी सर्वलेशव्यापी सिद्ध नहीं हो सकती है। इस की विभेद चरा वेगनी होने, तो स्याद्वाद्वात्वात्वात्वात्वा दृष्ट नही। तथा जो मोक्ष होकर फिर समार में जन्म लेता फिर मोक्ष होता यह तो मोक्ष भी पाह की ? यह तो भाडा वा माग हुआ। इस घाम्ते यह भी ठीक नहीं। अथ वा मोक्ष मन्त्रियों के भोग मानते हैं सो विषय के लोभुपी हैं। तथा गरुडगाी ने जो मोक्ष फही है, सो भी अप्रामाणिक है किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, इस घाम्ते जो अर्हेत सपश न मोक्ष फही है, सो निर्दोष है।

इस प्रकार यह चाँदह गुणस्थानों का स्वरूप पृष्टद्रच्छीय धीरज्जसेनसूरि के शिष्य श्रीहमतिलकसूरिपट्टप्रतिष्ठित धीरत्तरोपरसूरि ने लिखा है तिस क अनुसार ही भाषा में गुणस्थान का किंचित्स्वरूप में लिखा है।

इति श्री तपागच्छीय मुनि श्रीनुद्विविनय शिष्य मुनि
आनदविजय-आत्माराम विराचिते जैनतत्त्वादर्श

पष्ठ परिच्छेद सपूर्ण



शब्दकोष

— ० —

कठिन, प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दां का अर्थ

अ

अकिंचित्कर फुड़न करने वाला	अनागत भविष्य
अप्रगामि प्रयत्न, आगे न पर आने वाला	अतिर्वाच्य अकथनीय, न कह सकने योग्य
अचेतन जड़	अनुपहत अक्षत, सम्पूर्ण
अजा बकरी	अनुविद्ध परस्पर मिले हुए
अतिक्रान्त अगोचर, परे	अनुष्ठान आचरण
अतिप्रसङ्ग पा० अति-यामि—	अनुपग प्रयत्न
अलक्ष्य में भी पाया जाना ।	अनुसन्धान सम्बन्ध
अदृष्ट जो दिखाई न दे, धर्म, अधर्म	अन्तर्मुहूर्त लग भग दो घड़ो
अध्यवसाय परिणाम	अन्तरिक्ष आकाश
अनपस्था पा० कार्य कारण की परम्परा का विराम, न होना ।	अन्तरे दूरा पर
अनहोई विचित्र, असम्भव	अपराह्न दिन का तीसरा पहर
अनहोये न पाये जाने वाले	अपर्ययसित अनन्त
	अपवर्ग मोक्ष

अपसिद्धांत शृंग सिद्धान्त
 अपान गुदा से निकलन वाला
 वायु
 अपौरुषेय पुरुष का न बनाया हुआ
 अप्रतीयमान मालूम न होने वाला
 अपवृथत अज्ञानी
 अभिनिवेश आमद, दृढ
 अभिमत मम्मत स्वीकृत
 अपमोक्ष बुग सागव
 अपमल मद करने वाली वस्तु
 अपमोघ सार्थक, सफल
 अपम्भोरुह कमल
 अपर्क आक का वृक्ष
 अपर्गल बड़ी, बंधन
 अपर्याग्रय अर्थ सम्प्रथी
 अपर्श मत्मा
 अपर और
 अपयकाश रथा
 अपयगम शान
 अपरणवाद निन्दा
 अपवष्टमभूत आधारभूत

अपवन्निर्णयो काल पत्नी का
 काल—जिस काल में पदार्थों का
 शक्ति, परिमाण आदि में कमी होती
 रहनी है ।
 अपवस्त्रापिनी निद्रा लाने वाली
 विद्या
 अपवस्थित रहते हैं बढ़ते नहीं
 अपविच्छिन्न अप्रुटित, अखण्ड
 अपविनाभावी नियम से साथ
 रहने वाला
 अप्रिपरीनाथ सत्य अर्थ
 अप्रिय दुःख
 अपगुच्छिपना अपविप्रता
 अपगडज अण्ड से उत्पन्न होने
 वाले
 अपसमजस अमगत
 अपसमीचीन अनुचित, अच्छा नहीं
 अपस्मद् हम
 अपस्थि हड्डी
 अपस्मिता अहभाव
 अपज्ञ अज्ञानी

आ

आय ५० आम
 आक्रन्दन गीता
 आगम पा० अरिहन्त वीतराग
 का कहा हुआ शास्त्र
 आच्छादक ढकने वाला
 आच्छादित ढका हुआ
 आतप ताप, गर्मी
 आत्मोत्कर्ष अपनी बढ़ाई
 आधाकर्मिक पा० साधु क
 निमित्त बनाया हुआ भोजन
 आत यथाथ वक्ता

आय कर ५० आ का
 आरनाल काजी
 आरोग कल्याण
 आरोग्य चढ़ना
 आलोल्यमान इधर उधर हिलाये
 गये
 आग्ने ५० आन
 आग्रक ढकने वाला
 आवरण ढकना
 आव है आता है

इ

इतरेतराधिवक्त अलग अलग
 इतरेतराधय दूषण पा० एक
 दूसरे के आश्रित होना
 इन्द्रियगोचर इन्द्रियों का विषय

इन्द्रियनिरोध इन्द्रियों को वश
 में करना
 इष्टानिष्ट अच्छा बुरा
 इहा यहा

उ

उच्छेद भाग
 उत्कट तीव्र, अधिक

उत्कृष्ट पा० अधिक से अधिक
 उत्सर्पिणी पा० बढ़ती का काल

—विस काल म पदार्थों की शक्ति,
परिमाण आदि बढ़ने रहते हैं
उद्वेग्यत् पानी की तरह
उद्वेग्य प्रबल, बनेड
उद्गायन प्रकाशन
उद्दिग्ज भूमि फोड़कर निकलने
वाते

उपकरण पा० साधन
उपन्यास कथन
उपपत्ति विधि
उपसर्ग पा० कष्ट
उपाध्यय पा० विहार, धर्म करने
का स्थान
उपमा गमाँ

ऊ

ऊर्ध्वलोकान ऊपर के लोका अेत। ऊपर वाली भूमि, चक्र

ए

ए प० यह
एकडे इकठ्ठ
एक देय एक भाग

एकला गु० अकला
एह प यह
एतायता हम लिये अयात्

ओ

ओगण्णोय गु० उन्नीम (१६)। ओधी उलनी

औ

औगुण्य प० अवगुण, दोष । औदारिक पा० स्थूल शरीर

क

कचन मोना
 कठ रहनी नहीं याद नहीं रहतो
 कच्छु प० कछुआ
 कछुक थोडा सा, कुछ
 कतरणी कची
 कदन्न अपवित्र-भराय अन्न
 कदे भी प० कभी भी
 कर्मरज कर्म रूपी धूँरी
 करके द्वारा स
 करतलामलकवत् हाथ में रहे
 हुए आँवले का तरह
 करा किया
 कराय के प० करा कर
 करिये प० करे
 करी मे
 करी है की है
 करे है करता है
 कलत्र स्त्री
 कल्लल गर्भ की पहली अवस्था
 कल्लोल बड़ी लहर

काढ़ना प० निकालना
 कारणे कारण मे
 कालात्ययापदिष्ट बाधिन हेत्वाभाम
 काहे को किस लिये
 कितनेक कई एक, कुछ
 क्रियाकलाप क्रिया का समूह
 किंकर दाम
 कीना था किया था
 कुथित सडा हुआ
 कुलकर प्रथम नीति चलान वाले
 कुम्भी पाक पा० नरक विशेष,
 जहाँ जीव का घडे की तरह
 पकाया जाता है।
 कुलिगी शुरु आचरण वाले
 कुक्षिभर पेट भरने वाले
 कोकिलावत् कोयल की तरह
 कोटाकोटि पा० प्रोडों
 कोथली धैली
 क्रमोत्कम क्रम से, नम्बरवार
 क्योकर कैमे

ख

खण्डोभूत ढकड़े हुआ २ । खरविपाण गये व गोग

ग

गृद्धि अभिलाषा, भामिनि
गधे खुरकी पं० गधों का
परस्पर खुनाता परस्पर की प्रशंसा
गत गद्ग
गलना गु० छानने का कपण
गगारयादिवत् गाय, घोड़े आदि
की तरह

गातों प० गलाय
ग्यारा प० ग्यारह (११)
गिरद प० चारों तरफ
गिरिशिखर परंत की चोटा
गीताथ आगम का जानकार
ग्रथि गां

घ

घन गाढ़
घण गु० बहुत

घय सूधने योग्य

च

चतुष्पद चार पैर वाउ
चम उत्कर्तन चमडा उनागना
चित्राम विप्र तस्वीर

चित्तघना चिन्तन, विचार
चिर देर
चीयर मूल का धागा

छ

छगल बकरा
छद्रस्य पा० अल्पज्ञ

छाग बहुरा
छाना गु० छिपा हुआ

ज

जङ्गल शौच	जामा चोला, अङ्गरखा विशेष
जगा, जगे प० जगह, स्थान	जालमस्यभाव करता
जघन कमर	जायजीव जीवन पर्यन्त
जघन्य पा० कम से कम	जीत्या जीता, विजय किया
जनक कारण	जुगुप्सा घृणा
जलाजला देना झाड़ देना	जेकर प० यन्त्रि
ज्वरोष्मवत् ज्वर की गर्मी की तरह	जोराजोरी प० जबरदस्ती बलपूर्वक
जाणे जानता है	

ट

टोला झुंड

ठ

ठोठ मूख

त

तदवस्थ उसी प्रकार	तहा वहा
तड़के सबेरे	ताइ तक
तपोनुष्ठान से तप करने से	ता करिके इस लिये
तरे, तरें तरह	तातें इस लिये
तलाव प० तालाब	तालोटाटिनी ताले खोलनेकी विया

तिन उन
तिस उठ

तैं से
तैसा वैसा

ट

एष्टेष्टधाधारहित पा० प्रयत्न,
अनुमानादि प्रमाण से जो साधित
न हा

टूटना टगलना, पिघलना
दावानल वन की अग्नि
दाहक जलाने वाला

दिग्वधन विश्व का साधना
दिदृक्षा देखने की इच्छा
दीने दिव
दुरत दुर परिणाम वाला
द्रेनेहारी देने वाली
दशना पा० धर्मोपदेश

ध

धदा काम
धरती पृथ्वी
धरनारे धारण करने वाले

धर्मज्ञ धर्म का जानन वाला
धातुरत्न गहना, लाल
धुक्ने जलने, क्षीयन होने

न

नये नये
न्यायोपपन्न न्याय से प्राप्त हुआ
न्यारा जुग, श्रलग
नियन्ता शासन करने वाला,
निमति बुद्धि रहित
निरासार्थ खण्डन करन के लिये

निरि बचन
निघाले प्याले रान पान
नियि पा० एक प्रकार का लप
निष्प्रतिभ प्रतिभा-बुद्धि रहित
निस्सारणी छोपान, सींगी
नोहार शौचादि क्रिया

प

पटल परदा

पड़ जाता है गिर जाता है

परचक्र परराष्ट्र

पर्यटन भ्रमण

पराङ्मुख विमुख

परिणति भाव, परिणाम

परिप्रेषित घिरा हुआ

परिहार त्याग

परेष्ट दूसरे का माना हुआ

पारुज पा० अग्नि के संयोग से
हाने वाला

पादारविद्ध चरणचमल

पात्रना प्राप्त करना

पामे ओर, तरफ

पिंगल पीला

पिछान पहचान

पीठ चौकी, पटा

पुरीय मल

पुरोवर्ती सामने खड़ा हुआ

पूज लेना पूछ लेना, साफ करना

पूर प्रवाह

पूरता है भरता है

पूरे पानी के सूदन जलु

प्रकरणासम पा० सत्प्रतिपत्त
हेत्वाभास

प्रणिधान भक्ति ध्यान

प्रतिपत्ति सिद्धि

प्रतिपन्न सिद्धि

प्रतिपक्षी विरोधी

प्रतिबोध ज्ञान

प्रभृति आदि, वगैरह

प्रमाणाभिज्ञ प्रमाण को न
जानने वाला

प्रमुख आदि, वगैरह

प्ररूपणा करनी कथन करना

प्ररूपे चलाये, कहे गये

प्रजतति है प्रवृत्त करता है

प्रथवर्ण मूत्र

प्रागमात्र पा० व० सम्बन्ध
जन्माद् जीव सात है
प्राकृद् बग क्रतु

प्रसक्ति प्रगल्भ
प्रासाद् मन्दिर, महल
प्रक्षामान् बुद्धिमान्, विचारणीय

पत्रक चौका पत्र

फ

। पुत्रुक अग्नि तण का अग्नि

व

वदीछाना कंसाना
वधुमा बनी बंदा
वध्यमान लगा हृद्
यनाय के बना कर
रहुने बहत मे
रहुधुत गार्शो का जानकार
वाजीवन रेल की तरह
याना प० यात

शायरी पगली
याहिरले प० बाहिर के
यामत्स बुरा
येदा, येदी लन्का लन्को
वेरी प० बार
घोदी नीण, पुगनी
बोवि पान

भ

मया हुआ
मय ससा, जम
म्यात भोवन

भुवाव्यापक मसार म फलने
बाला
भुवन महान
भू पृथ्वी

भूधर पवत

भूरह उच्च

भेषज औषधि

म

मगाय के मगवा कर

मता विचार

मतान्तराय दूमर मत वाल

मद्याग मद्य का भाग

मन्याद्ध दोषहर

मनगमता मनपमद, र्छाकर

मने कराना हटाना

मराय के भारकर

महाज बडा बफरा

महानस रगेई

महापथ्य अति हितकारी

महोक्ष वन धैल

माटी गु० मि०

माथे मस्तक

मानसी मन की

मान्या भाना

माने है मानता है

मायाजन्य माया से होने वाला

मिटाय के मिटाकर

मुदित प्रमत्त

मुनिप्रणीत मुनि का बनाया हुआ

मूक गूंगे, धेजवान्

मूजय अनुमार

मूठीचापी पर जादि दवाना

मृत्तिका मिट्टा

मेहरवानगी कृपा

य

यनना सावधानता

यथारुचि इच्छानुमार

यथावस्थित यथार्थ

याग यज

युगपत्त एक साथ

युगल जोड़ा

युक्तिधिकत्त युक्ति रहित

योजन चार कोस

रज्जु रस्मी
रावना पकाना
रूपामय चाँदा का

र

रल पेल नहीं करना जनमय नहीं
करता

ल

लग लाग तक
लय नाश
लत्र समय का एक सूक्ष्म परिमाण
मुहुन का सताहवा अश
लनगा नमक

लागे गु० लग
लीनी गी
लृगा लून नमक
लाच करना वा हाथ ग गिर
र बाल उगाड़ना

व

वर्षत समय
वदन मुग
वग समूह कच्चा
वज्रना छोड़ना
वतता बर्ताव करना होना
वन्नरी बल
वचन टगना
वृद समूह
वागुरा जाल

वागुरी शिकारी
वाचक कहन वाला
वाम दायाँ
विकाल संध्या
विश्व व्याकुल
विघरना विहार करना चलना
विडम्बना दुर्ज्ञा
विडम्ब्यमान दु खित किया गया
विधायक भावमाहो—वस्तु के

अस्तित्व मात्र को ग्रहण करने वाला	त्रेला समय
त्रिधुर रहित	त्रेष्टित लिपटा हुआ
विपक्षी विरोधी	व्यक्तिनिष्ठ व्यक्ति में रहने वाला
विप्रतारणा टगना	यजक व्यक्त करन वाला
विरूप बुग	व्यग्रच्छेद नाग
विश्रसा स्वभाव	व्यामोह अज्ञानता
विषाद खद	यावृत्त भेद
विषे विषय, सम्प्रध	व्याहतपना विरोध
वेदना पा० अनुभव करना	

श

शरा समा, ग्यरगोश	शुष्क सूखा
शालि धान, चावल	शुश्रूषा सेवा
शाश्वत नित्य	श्रय कल्याण
शिव सुख, मोक्ष	शोषित सूखा हुआ
शील चारित्र, स्वभाव	शौनिक हिमक, कसाइ
शुक्र वीर्य	

स

सधर्मीजत्सल-साधर्मी० समान	सरीखा समान
धम वाले का सेवा भक्ति करना	सहृद शहद
समीचीन ठाक	सहकार आम
सरपच्च मुगिया	सफरता मिश्रण

समाह नदह भ्रम
 सर्वास्ति तान
 सन्तारक रिन्ना
 सान्त अत थाला
 साश्रिय ममापता उपस्थिति
 सामायिक रागद्वय सो छान
 सः पनभाव—मध्यस्थ भाव म
 रहना गये भाव की प्राप्ति क लिय
 को जाने वाली आवश्यक क्रिया
 सार सकता है पूरा कर सकता है
 सिद्धिमाय मांछस्थान
 सुरत पुण्य अछ काय
 सुखशीलिया सुखशिय

सुखे सुखे सुख र
 सुख विद्वान्
 मनी त
 सा वइ अत
 सोइ कहा
 साया प० मोलह
 म्याणु टू वृक्ष स्तम
 स्वकपालकपित मनपत
 मनमाना
 स्वटनान अपना सिद्धांत
 स्वचक्र अपना राष्ट्र
 स्वस्ववेदन आत्मनिपयक
 अनुभव ज्ञान

ह

हलुवे हलुय धार धार
 हाट दुफान
 हाइ हा
 हाथदेरी चालाका
 हिम बर

हट प० नाच
 हयापादेय दोन और प्रदण
 वरन याम्य
 होती गई हुइ
 हावे हे हाता हे

क्ष

क्षरे नष्ट होवे
क्षीर नीर दूध पानी

क्षुधा भय
क्षुर उस्तग

त्र

त्रयात्मक तीन स्वरूप वाला
त्राण रक्षण, प्राण

त्रिदिव स्वर्ग
त्रिभुवन ताम लोक



जैन पारिभाषिक शब्द

— ० —

अ

- अजीवतत्त्व ४१२
 अतिशय ७
 अत्रमास्तिकाय ४१३
 अनराग १८४
 अनित्य भावना १९६
 अनुपेक्षा १९४
 अतराय १० ४२८
 अयत्वभावना २०१
 अभिग्रह १९३, २१५
 अभ्यतरतप १९४
 अद्भुतलपरावर्त ४९८
 अधमागधी ७
 अहनु, अर्हंत, अरिहंत ११
 १३, १९
 अलोक ४१४
 अवाच्यत्व २४५
 अचिरति ४७४
 अशरणभावना १९८

- अगुचिभावना २०७
 अमत्त्व २४६
 असद्व्याच्यत्व २४५
 असती ४८६

आ

- आकाशास्तिकाय ४१३
 आधाकर्मिक १७२
 आनुपूर्वी ९१८
 आरम्भ १८६
 आतध्यान २१४ ५ ३
 आलोचना २२१
 आत्रलिका ४९८
 आशयक ३९८
 आश्रयतत्त्व ४४१, ४४२
 आश्रयभावना २०३

उ

- उपकरणा १६८, १७५
 उपसर्ग २१

उ

उपरामश्रेणि ५२३

उत्पाद् ४

उपाध्य १०८

ए

एकत्व भावना २००

औ

औदारिक १०३

क

करणा २९९

करणसत्तरी १८३, २९६

कर्म ८, २१, ४२६, ५०४

कथाय २१, ४७४

फाल ४१०, ४२१

क्रिया ४१०, २१२

कुलकर ३१

केवलमान ४, ५४७

केवलदर्शन ४,

ग

गारत्र २०६

गुप्ति १८९, २१४, २१६

गुणस्थान ४८८

च

चरणासत्तरी १८३

चारित्र १६२, २२७, ४८७

छ

छद्मस्थ २४४

ज

जीवतत्र २०४

त

तप १९३

तिर्यञ्च ११, १४७, ३४३

तिर्यङ्कर १६, १९, ६४८

ट

दर्शन १६२

दशनात्रराण ४२८

ध

धनुष ५६०

धर्मतत्त्व ४३

धर्मभाष्य ०८

धर्मास्तिकाय ४१५

शौच्य ४

न

नयतत्त्व ४ ३

नामकम ४१७ ये ४२१

निग्रन्थ २१७ २२२, २२७

निर्जैरान्तर ४६१

निर्जराभाष्य २०५

निर्घन् ४६०

प

परिग्रह २१ ४३६

पापतत्त्व ४२१

पिंडधिसुद्धि १६५

पुद्गल २०५, ४०९

पुद्गलास्तिकाय ४१२, ४१४

पुण्यतत्त्व ४१६

प्रतिमा २१०

प्रतिनिर्गमना १८६ २१३

प्रमाण ३३८

प्रथम २६८

प्रातिहार्य ३

प्राणायाम ४३३

प्रागुक्त १०६

व

वस्तु २०, २२४

वचनतत्त्व ४६२

वाह्यतत्त्व १६३

वोधिदुलम भाष्यना २०७

भ

भय १०

भाष्यना १६६

म

महाघन १'६

मिथ्यातत्त्व ४३०, ४६७

मोहनीय ४३० ४३१

मोक्षतत्त्व ४८१

य

यतिधर्म १८३

योग ४५१, ४७५, ४८३

र

रौद्रध्यान १०३

ल

लेश्या ४८८

लोक ४१४

लोक स्वभाव भावना २०६

लोकालोक ४१३

व

व्यय ४

विकलादेशी ४६६

वेद ११, ४८३

वैक्रियक १७३

वैयावृत्य १८२, १८८

श

शुक्लध्यान २०१, ५३७

शैलीकरण ५५४

श्रमण धर्म १८३

श्रुत ज्ञान २११

स

सकलादेशी ४६९

सत्त्व २४१

सदसत्त्व २४५

सदवाच्यत्व २४२, २४६

सदसदवाच्यत्व २४५ २४६

समनोश्च १८८

समारम्भ १८६

समिति १६२, २१६

समुद्घात ५१०, ११

सम्यग्दृष्टि ४८८

सम्यक्त्व १८१, ४९२

सामायिक ५१८

सिद्ध ४८२, ४८६, ५६१

सिद्धशिला ५१६

स्यधिर १८८

स्थायर १७०, ४०५ ४०७

सक्षी ४८६

सयम १८३, १८५ म १८७

सरम्भ १८६

सवर तत्त्व ४१६

सवर भावना २०४

सवेग २६, ४९८

ससार भावना १६६

जैनतत्यादश

२०

सहनन १७ २१०

मस्यान ४३४

क्ष

चपकधेण ५२८

त्र

ग्रस १७० ४०७

ज्ञ

झान ४८७

झानापर्या ४२७



परिशिष्ट न० १-क

[पृ० ७]

अर्धमागधी भाषा

लौकिक भाषा दो प्रकार की है—१ सस्कृत और २ प्राकृत । इनमें पहली सस्कृत भाषा वैदिक और लौकिक भेदमें दो प्रकार की है । *और दूसरी प्राकृत—प्रकृति सस्कृत, उस से उत्पन्न होने वाली अर्थात् उसकी विकृति को प्राकृत कहते हैं । वह प्राकृत, शौरसेनी मागधी, पेशाची, चूलिका और अपभ्रंश, इन भेदों से छ प्रकार की है ।

महाराष्ट्र देश से उत्पन्न होने वाली भाषा को प्राकृत कहते हैं, शूरसेन देश से उत्पन्न होने वाली भाषा को शौरसेनी कहते

* प्रकृते सस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता ॥ ५ ॥

परिधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी ।

पेशाची चूलिकापेशान्यपभ्रंश इति प्रमान् ॥ २६ ॥

तत्र तु प्राकृत नाम मन्वागमोद्धव विदुः ।

शूर्यनोद्धवा भाषा शौरसेनीति गीयते ॥ २७ ॥

मगधोत्पन्नभाषा ता मागधी मप्रचक्षते ।

पिशाचदेशनियत पेशाचीद्वितय भवेत् ॥ २८ ॥

अपभ्रंशस्तु भाषा स्यादाभीगर्दिगां चय ॥ ३१ ॥

[पदभाषाचिन्ता पृ० ४-५]

हैं मगध देश में उत्पन्न होने वाली भाषा को मागधी कहते हैं, पितृात्र नेत्र से निकलने वाली भाषा पयाचा और चृतिका है, एवं आभीर आदि की भाषा अधम्वरा कहलाती है ।

सामान्य नाटकों में जिस प्राकृत भाषा का उपयोग हुआ है वह प्रायः महागद्दी, यौरमेनी और मागधी है । और जैन साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा अधमागधी, जैनमहाराष्ट्री और जैन शौरमेनी है ।

जैनागमों के लेखानुसार—

१ *भगवान् अधमागधी द्वारा उपदेश देते हैं ।

२ भगवान् महावीर स्वामी ने भगवान् क पुत्र काशिक का अधमागधी भाषा में उपदेश दिया ।

३ देवता अधमागधी भाषा में गालते हैं और घोल चाल का भाषाओं में अधमागधी ही प्रिणिष्ट भाषा है ।

* भगव च ण अधमागधीण भाषाण धम्ममादकखइ ।

[मगधा० सू०, आग० म० पृ० ६]

† तण ण ममण भगव महावीर वृणिअम्म भमसात्पुत्तरण अधमागहाए भाषाण भाषाण । [आ० म० आग० म० पृ० ७७]

गायमा ' देवाण अधमागधीण भाषाण भाषति, ना वि य ण अधमागधी भाषा भासिज्जमाणि विसिस्मइ ।

[भग० सू०, आग० म० पृ० २३१]

४ *भाष्यार्थ—भाषा की दृष्टि से भी वही भाष्य कहला सकता है, जो कि अधर्मागधी भाषा का उपयोग करे।

इत्यादि आगम वाक्यों के पयालोचन से निश्चित होता है, कि अधर्मागधी सर्व श्रेष्ठ, देवप्रिय तथा ध्यार्थ भाषा है। इस लिये समस्त जैनागम इसी भाषा से अलङ्कृत हुए हैं।

परन्तु अधर्मागधी का सामान्य अर्थ और उसकी प्रामाणिक आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या का विचार करत हुए एक विचारशील पुरुष को जैनागमों की भाषा को अधर्मागधी कहने की अपेक्षा उसे प्राकृत भाषा कहना उचित मानकर करना कुछ अधिक सङ्गत प्रतीत होगा।

अधर्मागधी की व्याख्या—

संस्कृत के अतिरिक्त लौकिक भाषाओं के—? प्राकृत, २ गौरसेनी, ३ मागधी, ४ पंजाबी, ५ चूलिका पंजाबी, और अपभ्रंस, यह छ भेद हैं।

व्यापकता की दृष्टि से अरौरी की अपेक्षा प्राकृत भाषा अधिक महत्त्व रखती है अस्तु, मागधी का सामान्य अर्थ यह होता है कि जिसमें मागधी भाषा का अध भाग हो, अर्थात् उस के शब्दों में अध भाग मागधी का हो और अर्थ दूसरी भाषा का। तथा प्रामाणिक आचार्यों ने इस की जो व्याख्या की है, वह इस प्रकार है—

* भाषारिया ने ण अद्धमागधीण भाषाण भावेति । [प्रज्ञा० म०, आग० स०, पृ १६] ।

(१) आचार्य श्री विजयानन्द जी सूरि ने अन्तर्य निणय-
प्रासाद में भाषायं शब्द की व्याख्या करते हुए तिसीय
श्रृणिका निर्देश करते कहा है कि जो अठारह देश को एकत्र
मिली हुई भाषा बोली जाता है सा अधमागधी है।

(२) तिसीय श्रृणिका में जिनदास महत्तर ने अधमागध
शब्द की उक्त व्याख्या के अनिश्चित भागध देश की आधी
भाषा यह दूसरी व्याख्या भी की है।

(३) तथा तृतीया वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि ने सम-
पायाग तथा औपपातिक सूत्र की वृत्ति में लिखा है कि जिस
में मागधी भाषा के नियमों को तो बहुत यूनता हो और
प्राकृत लक्षणों की बहुलता हो उसे अधमागधी कहते हैं।

उपर्युक्त कथन का कारण यह निकला कि जिसमें
प्राकृत भाषा के नियमों की बहुलता और मागधी भाषा के

* अंगिय पृ० ६३ ।

† महाद्विषयभाषानिबन्ध अधमागध ।

प्राकृतोदाना पण्णा भाषाविशेषाणां स य या मागधी नाम भाषा
समागधी मागध्याम् इत्यादि लक्षणवती सा अधमाधिनस्वकायममप्र
लक्षणाऽधमागधा युज्यते । [समस० मृ०, आग० स०, पृ० ६२]

'समागधी मागध्याम्' अर्थात् यत् मागधभाषान्वयं तत्र अर्थात्
पूजा प्राकृतभाषालक्षणवन्त्या अधमागधा ।

[औप० मृ०, आग० स०, पृ० ५८]

लक्षणों की स्वरूपता पाई जाये, यह अर्धमागधी भाषा है ।

श्री अभयदेव सूरि आदि आचार्यों की इस पारिभाषिक व्याख्या के अनुसार तो जैन आगमों को भाषा को अर्ध-मागधी कहने अथवा स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं, क्योंकि उनमें इसी नियम की व्यापकता उपलब्ध होती है । अर्थात् जैनगमों की भाषा में प्राकृत के नियमों का अधिक अनुसरण किया हुआ है और मागधी का कहीं कहीं ।

परन्तु यदि उक्त व्याख्या की पारिभाषिक न मान कर यौगिक मानें, तब तो उक्त जैन प्रवचन की भाषा को प्राकृत या आर्यप्राकृत कहना अधिक युक्तियुक्त होगा । हमारी दृष्टि में तो जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी और प्राकृत दोनों ही नामों से अभिहित की जा सकती है । पूर्वाचार्यों ने इसे प्राकृत के नाम से भी उल्लेख किया है । जैसे कि आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

प्राकृतनिग्न्धोऽपि जालादिसाधारणः ।

उक्त च—

बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकाक्षिणाम् ।

अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धातः प्राकृतः कृतः ॥

इस लेख के द्वारा आगमों की भाषा को प्राकृत स्वीकार किया है । तथा स्वर्गीय आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी ने

भी तत्त्वनिर्णयप्रासाद म *आगम क प्रमाण द्वारा इसी यात को समर्थन किया है । इस विषय में और भी कई एक आचार्यों के उद्धृत देगने में आये हैं, परन्तु विस्तारमय म उा का निर्देश नहा किया जाता ।

सय से अधिक विचारणीय यात यह है, कि आचार्य श्री हमचन्द्र सूरि ने प्राकृत भाषा के अतिरिक्त शौरसेनी, मागधी और पेशाची आदि भाषाओं के नियमों का उल्लेख किया, परन्तु आगम स्थित संप्रत प्रिय अर्धमागधी भाषा के विषय में उन्होंने किसी स्वतंत्र नियम (व्याकरण) की रचना नहीं की । इस से प्रतीत होता है कि आप प्राकृत की भांति अर्धमागधी की वे प्राकृत भाषा में ही

* यदुक्तमागम—

मुक्तय दिट्टिनाय कान्थि उवालयम मिदंतम् ।

धीवालवायणत्थ पाद्ममुत्थ निखवरहि ॥

अर्थ—दृष्टिवाद को वर क कालिक उत्तरालिक अगमिदांत को एषा वादों के वाचनार्थ जिनवरों न प्राकृत म कथन करे है ।

वान् श्रीवृद्धमृगार्णा वृष्णा चारिप्रकाश्लिणम् ।

उकारणाय तरवत्त सिद्धान्त प्राकृत कृत ॥

इम वास्त ही अरिहत भगवन्तो न एकावशांतादि शास्त्र प्राकृत म करे है ।

[तत्त्वनिर्णय प्रासाद पृ० ४१२—१३]

गभित मानते थे । इस लिये जिनप्रवचन की भाषा के अर्धमागधी और प्राकृत ये दोनों ही नाम शिष्टजन को सम्मत हैं ।

परिशिष्ट न० १-ख

[पृ० ८, ९]

तीर्थकर और जीवन मुक्त

जैन सिद्धान्त के अनुसार जिस समय तीर्थकर भगवान् को कर्मजन्य समस्त आचरणों के सर्वाथा दूर हो जाने से केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस समय उन को ससार के सारे पदार्थों का करामलकवत् पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष भान होने लगता है । तथा उन में कई एक अतिशय उत्पन्न हो जाते हैं, जिन के प्रभाव से ऋद्धिमम्पन्न अनेक देवता हर समय उन की सेवा में उपस्थित रहते हैं ।

वैदिक वाङ्मय में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलना है । जीवन मुक्त के ज्ञान और ऐश्वर्य के वर्णन में उपनिषद्दों के निम्न लिखित कतिपय वाक्य उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये पर्याप्त प्रतीत होते हैं । जिस आत्मा को ब्रह्म अथवा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे वीतराग आत्मा की अवस्था का वर्णन इस-प्रकार किया है—

तदक्षर वेद्यते यस्तु सौम्य. म सर्वांग* सर्वाभेवाविवेश ।

[प्रश्न० उ०, ४-११]

अर्थात् जो उस ब्रह्म को जान लेता है, वह सर्वांग और सर्वदर्शी हो जाता है । तथा—

न परयो मृत्यु पश्यति न रोग नोन दुःख सर्वं
इ पश्य पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वस्य* ।

[छा० उ०, ७-२६-७]

अर्थात् तत्त्वज्ञान (केवलज्ञानी) मृत्यु को नहीं देखता, न किसी प्रकार के रोग और दुःख को प्राप्त होता है, सब को देखता और सब कुछ प्राप्त कर लेता है । पर—

स म्पराद् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो
भवति । [छा० उ० ७-२५-२]

सर्वेऽस्मै देवा उन्निमावहन्ति । [तं० उ० १-५]

अर्थात् वह मन्त्र का राजा होता है, और सभी देवता उस की पूजा करते हैं । इस क अतिरिक्त योग दर्शन में लिखा है कि—

मन्त्रपुरूपान्यतारयातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठा-
तृत्व सर्वज्ञातृत्व च । [३-४६]

अर्थात् विशेषान्यतारयाति वाले पुरुष को सर्वज्ञत्व

और सर्वाधिष्ठातृ की प्राप्ति हो जाती है । उपर्युक्त उदाहरणों से उक्त जैन सिद्धांत का कितने अंश में समर्थन होता है, इस का निर्णय त्रिचारशील पाठक स्वयं कर लें ।

परिशिष्ट न० १-ग

[पृ० २१]

परिपह

आश्रय के निरोध का नाम सवर है, वह यद्यपि सामान्य रूप से एक ही प्रकार का है तथापि उपाय के भेद से उस के अनेक भेद वर्णन किये गये हैं, परन्तु सक्षेप से उस के सात भेद हैं । इन्हीं सात में से परिपह भी एक है ।

परिपह का लक्षण—

+ अंगीकार किये हुए धर्ममार्ग में दृढ़ रह कर कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिये, उपस्थित होने वाली विकट स्थिति को भी समभाव पूर्वक सहन करने का नाम परिपह है ।

संख्या—परिपह चावीस है, उन के नाम और अर्थ का निर्दोश इसी ग्रन्थ के पृ० ४५६ से ४६१ में विस्तार पूर्वक किया गया है ।

+ मार्गान्यवननिर्जरार्थं परिपोढया परिपहा ।

[तत्त्वा० ६—८]

क्षिप्त गुणस्थानधर्ता जीव में कितने परिपक्व होते हैं ?

(क) १० सूक्ष्म सम्पराय * उपशांत मोह और १२ क्षीणमोह, इन तीन गुणस्थानों में—शुधा, पिपासा, शीत, उष्ण व्रशमयक, चर्या, प्रसा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, यध, रोग, तृणस्पर्श और मत्त ये ३० चोद्दह ही परिपक्व होते हैं, बाकी के आठ नहीं होते। कारण कि ये आठ मोहजन्य हैं। परन्तु ग्यारहवें तथा ग्यारहवें गुणस्थान में मोह का उदय है नदा नार दसवें गुणस्थान में तो यद्यपि मोह विद्यमान है, परन्तु यह इतना स्वल्प है, कि होने पर भी उमे न होने जैसा ही सम्भवा चाहिये। इस लिये इन उक्त गुणस्थानधर्ता जीवों में मोहजन्य इन बाकी के आठ परिपक्वों की सम्भावना नहीं हो सकती।

(ख) १३ वें सयोगिस्त्वली और १४ वें अयोगिस्त्वली गुणस्थान में तो मात्र शुधा, पिपासा शीत, उष्ण व्रशमयक, चर्या, शय्या, यध, रोग, तृणस्पर्श और मत्त इन ९ ग्यारह का ही सम्भव है। बाकी के ग्यारह की इन में सम्भावना नहीं हो सकती।

क्योंकि ग्यारह घाति कम जाय है। परन्तु १३ वें १४ वें गुणस्थान में घातिकर्मों का अभाव है, इस लिये इन में उक्त बाकी के ग्यारह परिपक्वों की सम्भावना नहीं हो सकती।

* सूक्ष्म सम्परायच्छयस्वशोसायशो इति । [तत्त्वा० ९—१०]

‡ एकादश जिनै ।

[तत्त्वा० ९—११]

(ग) *वाद्दरसम्पराय नाम के नवमे गुणस्थान में विचरने वाले जीव के तो २७ परिपहों की समग्रता है । क्योंकि परिपहों के कारण कर्मों की सत्ता यहा पर मौजूद है । इस के अतिरिक्त यह बात तो अर्थत सिद्ध है कि जत्र नवमे गुणस्थानवर्ती जीव में ये बायीस ही परिपह विद्यमान हैं तो इस के पूर्ववर्ती छठे आदि गुणस्थानों में तो उन की पूर्ण रूप से विद्यमानता है ही ।

परिपहों के कारण का निर्देश—

जत्र निदान्त के अनुसार अनुभव में आने वाले प्राकृतिक सुग वृ ग्य की व्यवस्था अध्ययसायानुसार घान्त्रे हुए शुभा शुभ कर्मों पर ही अवलम्बित है । इसी के अनुसार उक्त बायीस परिपहों का कारण अथवा निमित्त भी ज्ञानावरणीय, मोहनीय, वेदनीय और अन्तराय यह चार कर्म हैं । *इन में ज्ञानावरण तो प्रज्ञा और अज्ञान परिपह का कारण है । †दर्शन मोहनीय और अन्तराय यह क्रमश अदर्शन और अलम्ब परिपह के कारण हैं । एव चारित्र मोहनीय से अचेल्कृत्य, अरति, स्त्री, निपद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार ये

* वाद्दर सम्पराये सर्व ।

[तत्त्वा० ९—१२]

× ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञान ।

[तत्त्वा० ६—१३]

† दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाम्बौ ।

[तत्त्वा० ६—१४]

सात परिपद्द उत्पन्न होते हैं * । तथा वेदनीय कम यह ऊपर घणन किये गये सप्तश में होने वाले ग्यारह परिपद्दों के कारण हैं ।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि एक जीव में एक ही साथ समस्त धात्रीस परिपद्दों की सम्मापना नही हो सकती क्योंकि उन में कितनक परस्पर विरोधी परिपद्द भी हैं । यथा शीत, उष्ण चर्या और शय्या इत्यादि । जब शीत होगा तब उष्ण नहीं और जब चर्या होगी तो शय्या नहीं इर्ना प्रकार इस के विपरीत भी समझ लेना । इस लिये † एक ही काल में एक जीव में एक स लेकर अधिक से अधिक उन्नीस परिपद्दों की सम्मापना की जा सकती है ।

* चारित्रमाह नाग्यारविश्री निषणाकोशयाननासकारपुग्स्काग ।

[तथा ० १—१२]

[तथा ६—१६]

[तथा ९—१७]

† वेदनीय क्षया ।

‡ एकादयो भाज्या युगपदानीनविशत ।

परिशिष्ट नं० १-घ

[पृ० ८२]

नयवाद

प्रमाणनयैरविगम* । [तत्त्वा० १-६]

जैनधर्म के सुप्रसिद्ध तार्किकशिरोमणि आचार्य श्री सिद्धमेन दियाकर कहते हैं कि * 'जितने भी बोलने के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय अर्थात् अन्य सिद्धांत हैं" । वस्तु तत्त्व का विवेचन केवल एक ही दृष्टि से नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही दृष्टि से किया गया पदार्थ का विवेचन अधूरा होता है । जो विचार एक दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है, उस का विरोधी विचार भी दूसरी दृष्टि से सत्य ठहरता है, इस लिये विविध दृष्टियों से ही पदार्थ के स्वरूप का पर्यालोचन करना सिद्धांत की दृष्टि से सम्पूर्ण एवं सत्य ठहरता है, इसी का नाम प्रमाण है ।

वस्तुमें सत्य, असत्य नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्वादि अनेकविध विरोधी धर्मों का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है । इन सम्पूर्ण धर्मों का एक ही समय में निर्वचन नहीं किया

जावइया वयणवहा तावइया चैव होंति णयवाया ।

जावइया णयवाया तावइया चैव परसमया ॥ [स० त० ३-४७]

जा सकता। अतः वस्तु में रह हुए इन विविध धर्मों में स किसी एक धर्म को लेकर अन्य धर्मों का अपलापन करने वस्तु के स्वरूप का जो आशिक निर्वाचन है, उन को नय कहते हैं। इसको सद्दृष्टि अथवा अपेक्षा भी कहते हैं। यद्यपि वस्तु में अनन्त धर्मों की विद्यमानता होने से उन के द्वारा वस्तु का निरचन करने वाली दृष्टियों भी अनन्त हैं, तथापि वर्गीकरण द्वारा सास्त्रकारों ने उन सब दृष्टियों का त्रयाधिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में अन्तर्भाव करके पहिले के तीन और दूसरे के चार भेद करके सम्पूर्ण विचारों को सात भागों में विभक्त कर दिया है। ऊपर कहा गया है कि सम्पूर्ण विचारों, दृष्टियों, अपेक्षाओं और नयों का समावेश मुख्यतया द्रव्याधिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में किया गया है। उन में द्रव्य अर्थात् सूत्र वस्तु—पदार्थ निरयक जो विचार से द्रव्याधिकनय और पर्याय अर्थात् पदार्थ की विवृति का निर्वाचन करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

उदाहरण—स्वर्ण द्रव्य और कटक कुण्डलादि पर्याय हैं।

अतः केवल स्वर्ण द्रव्य का विचार करने वाली दृष्टि द्रव्याधिक नय और स्वर्ण की विवृति रूप कटक कुण्डलादि का निरचन करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इन में प्रथम द्रव्याधिक नय के नैगम सप्रह, व्यवहार, यह तीन भेद हैं। दूसरे पर्यायार्थिक नय के ऋजुमूत्र, शब्द,

समभिरुद्ध और एवभूत ये चार भेद हैं । इस प्रकार समस्त नयों का इन सानों में समावेश किया गया है । नय के इन सात प्रकारों का कुछ अधिक विवेचन किया जाये, इस में प्रथम पदार्थ में रहने वाले सामान्य तथा विशेष धर्म का ज्ञान कर लेना आवश्यक है ।

'सामान्य'—जाति आदि को कहने हैं, और विशेष भिन्न भिन्न व्यक्तियों में सम्यन्ध रखता है । सामान्य धर्म भिन्न भिन्न व्यक्तियों में जातिरूप एकत्व बुद्धि का उत्पादक है, जैसे संकड़ों मनुष्य व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न भिन्न हैं, परन्तु हर एक में मनुष्यत्व जातिरूप सामान्य धर्म एक है, अर्थात् मनुष्यत्वरूप में वे सब एक हैं, इस लिये सामान्य धर्म विभिन्न व्यक्तियों में एकता का उत्पादक है । और विशेष धर्म में प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे में भेद रोधित है । क्योंकि व्यक्ति स्वयं विशेषरूप-भेदरूप है, और उस में रहा हुआ व्यक्तिगत गुण भी विशेष रूप है, इस लिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में भिन्नरूप है । जैसे मनुष्यत्व रूप सामान्य धर्म में सभी मनुष्य व्यक्तियों एक हैं तथापि व्यक्तिगत विशेष धर्म को ले कर एक दूसरे में भिन्न हैं, कारण कि प्रत्येक व्यक्ति में रहे हुए विशिष्ट गुण उस की पारस्परिक विभिन्नताओं के नियामक हैं इस लिये वस्तुगत सामान्य और विशेषधर्म की अपेक्षा उस की—वस्तु को सामान्य और विशेष उभयरूप माना गया है । इस

का अभिप्राय यह है कि जैन सिद्धान्त में वैशेषिक दर्शन की भांति सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माने किन्तु इनको वस्तु के धर्म मान कर वस्तु को ही सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया है। इस प्रकार वस्तु में सामान्य और विशेष धर्म की प्रतीति होन से यह सिद्ध हुआ कि सामान्य के बिना विशेष और विशेष के बिना सामान्य नहीं रहता। किन्तु सामान्य और विशेष दोनों ही एक दूसरे के आश्रित हैं, और दोनों ही वस्तु मात्र में विद्यमान हैं।

१ नैगमनय—वस्तु में एक ही सामान्य और विशेष इन दोनों धर्मों को समानरूप से मात्र रखन वाली, अर्थात् सामान्य और सामान्य रहित विशेष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं, किन्तु वस्तुमात्र ही सामान्य विशेष उभयधर्म वाली है। तात्पर्य कि जिस प्रकार द्रव्य सामान्य और विशेष धर्मवाला है उसी प्रकार पर्याय भी सामान्य विशेष धर्मयुक्त है। समस्त घटों में ऐक्य बुद्धि का उत्पादक घटस्वरूप सामान्य धर्म है, और प्रत्येक घट में एक पीतता आदि विशेष गुण उन की—घटों की विभिन्नता के नियामक हैं, इस लिये नैगमनय के मत से सत्ता की सभी वस्तुएँ सामान्य और विशेष धर्म वाली मानी गई हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन ने इसी नय का अनुसरण किया है।

२ सप्रह—अनेक पदार्थों में एकत्र धुद्धि का समर्थक संप्रह नय है, सप्रह नय वस्तु के केवल सामान्य धर्म—सत्ता को ही स्वीकार करना है, उस के मत में सामान्य से अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की सत्ता स्वीकृत नहीं। आम नीम आदि भिन्न भिन्न सभी प्रकार के वृक्षों का जैसे घनस्पति शब्द से ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेष धर्मों का सामान्य—सत्तारूप से यह नय सप्रह करता है। अतः इस नय के अनुसार सामान्य से अतिरिक्त विशेष नाम का कोई धर्म नहीं है। वेदान्त और न्याय दर्शन ने इसी नय को स्वीकार किया है।

३ व्यग्रहार नय—वस्तु में रहे हुए सामान्य और विशेष इन दो में से केवल विशेष धर्म को ही मानता है, उस के मत में विशेष से अतिरिक्त सामान्य कोई वस्तु नहीं। जैसे कि घनस्पति के ग्रहण का आदेश होने पर भी उस के आम नीम आदि किसी विशेषरूप का ही ग्रहण किया जाता है, घनस्पति सामान्य का नहीं। अतः सामान्य रूप में भी विशेष का ही ग्रहण शक्य है और इष्ट है। चार्वाक दर्शन ने इसी नय को अंगीकार किया है।

४ ऋजुसूत्र नय—वस्तु के केवल पर्याय को ही मानता है, अतीत और अनागत को नहीं, उस के मत में वस्तु के अतीत पर्याय का नाश होने से वर्तमान में उस का अभाव है, और भविष्यत् काल के पर्याय की श्रमी तक उत्पत्ति ही

नहीं हुई इस लिये वस्तु में वर्तमानकाठ में जो निज पयाय विद्यमान है उसी को अंगीकार करना युक्तियुक्त है। क्योंकि अतान अनागत और परकीय भाव से कभी कार्य की सिद्धि नहीं होती।

जम पूर ज म का पुत्र और भागे को होनेवाला पुत्र अतमान राजपुत्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार वस्तु के अतीतानागत पर्यायों में भी वस्तु के स्वरूप का निरूपण नदा किया जा सकता। इस लिये भूत और भविष्यत काल का परित्याग करके केवल वर्तमान काल में जिस प्रकार का गुणधर्मों में जिस रूप में वस्तु विद्यमान हो, उसी रूप में उस को ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है। बौद्ध दर्शन में इसी नय को अंगीकार किया गया है।

५ शब्द नय—वाच्याय का अनेक शब्दों द्वारा निर्देश मिये जान पर भी उसे एक ही पदार्थ समझना शब्द नय है। इसी प्रकार लिंग सख्यादि के भेद रहने पर भी उसे एक स्वीकार करना शब्द नय कहता है। जैसे कलश कुम आदि अनेक शब्दों के द्वारा सम्योचित होन वाला एक ही घट पदार्थ है। तथा तट, 'तटी आदि में लिंग भेद रहने पर भी इन का वाच्य एक ही तट पदार्थ है। तात्पर्य कि इस नय के अनुसार पर्यायवाचक शब्दों में भेद होने पर भी वाच्यार्थ में भेद नहीं होता। सत्या वचन में 'दारा' और 'कवत्र' इन शब्दों को समझ लेना चाहिये,

धियाकरणों को यही नय मान्य है।

६ समभिरुद्ध—पर्यायवाचक शब्दों के भेद से वाच्यार्थ में भी भेद कल्पना करने की पद्धति को समभिरुद्ध कहने है। इस नय के मत में घट शब्द के वाच्यार्थ घटरूप पदार्थ से शुष्म शब्द के वाच्यरूप पुष्प पदार्थ में भेद है, अतः घट, शुष्म और फलर में जहा शब्द नय के अनुसार भेद है, यहा समभिरुद्ध नय के मत में भिन्नता है, क्योंकि इन में व्युत्पत्ति के द्वारा जो अर्थ ध्वनित होता है, वह इन के सहज भेद का नियामक है। धियाकरणों ने इसी नय का अनुसरण किया है।

७ एवभूत—व्युत्पत्ति द्वारा उपलब्ध होने वाला अर्थ जिस समय वाच्य पदार्थ में घट रहा हो, उसी समय उस का शब्द के द्वारा निर्देश करना एवभूत नय है। जैसे घट को उसी समय पर घट कहना चाहिये, जब कि उस में जल भरा हो, और किसी व्यक्ति द्वारा मस्तक पर उठाया हुआ घट घट शब्द करे। यह नय केवल विशुद्ध भाव को लेकर प्रवृत्त होता है।

परिशिष्ट नं० २—क

[प० १०३]

व्यातिवाद

जहा पर रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत—चादी का भ्रम होता है, यहा अर दार्शनिकों के भिन्न २ मत हैं, जो कि

स्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। दार्शनिक प्रर्थों की पर्यालोचना से इन तार्किकों के उक्त भ्रमस्थल में छ' मत दूरने में जात है। यथा—

१ सत्ख्याति, २ असत्ख्याति, ३ आत्मख्याति, ४ अवयवाख्याति ५ अख्याति और ६ अनिश्चनीयख्याति।

१ सत्ख्याति—सत्ख्यातिवादी के सिद्धांत में जिस प्रकार शक्ति सत्य है, उसी प्रकार रजत भी सत्य है, अर्थात् शक्ति के अणुओं के साथ रजत के अवयव सदा रहत है इस लिये जैसे शक्ति के अणुव सत्य हैं उसी प्रकार रजत के अणुव भी सत्य हैं। परन्तु सदीय नेत्र के सम्बन्ध में वहा पर सत्य रजत ही उत्पन्न होती है, और अधिष्ठानरूप शक्ति के ज्ञान में सत्य रजत का अपन अणुवों में घ्यस हो जाता है, अतः सत् पदार्थ का ही उक्त भ्रमस्थल में भाग होता है, मिथ्या का नहीं। यह मत सत्कार्यवादी का है।

२ असत्ख्याति—शून्यवादी यौद्ध के मत में असत्ख्याति का अंगीकार है। उस के मत में जिस प्रकार रज्जु में सर्प और शक्ति में रजत अत्यंत असत् है, वैसे ही दुकान में भी अत्यंत असत् है, इस लिये अत्यंत असत् रूप सप और चादी की जो रज्जु और शक्ति में प्रतीति-ज्ञान होना उस का नाम असत्ख्याति है।

३ आत्मख्याति—यह सिद्धांत चणिक विज्ञानवादी यौद्ध का है। उस का कथन है कि शक्ति में तथा अन्यस्थान

में बुद्धि से अतिरिक्त रजत कोई नहीं, किन्तु बुद्धि ही सर्व पदार्थ के आकार को धारण करती है। और वह बुद्धि क्षणिक विज्ञान स्वरूप है, जो कि क्षण क्षण में उत्पन्न और विनष्ट होता है, इस लिये क्षणिक विज्ञान ही सर्व रूप से सर्वत्र प्रतीत होता है, इसी का नाम आत्मख्याति है, आत्मा-क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि, उस की सर्वरूप से ख्याति-भान अथवा कथन, आत्मख्याति है।

४ अन्यथाख्याति—यह नैयायिकों और वेशेपिकों का मत है। उन के सिद्धान्त में सराफ की दुकान पर देखी गई सत्य रजत का नेत्रगत दोष के प्रभाव से शुक्ति के स्थान में प्रतीति होना अर्थात् दुकान पर पड़ी हुई चांदी का, अन्यथा—सन्मुख में भान होना, इस का नाम अन्यथा ख्याति है। और चिन्तामणिकार का कथन है कि दुकान पर पड़ी हुई चांदी का सन्मुख में भान नहीं होता, किन्तु नेत्रगत दोष से शुक्ति का ही अन्यथा-मन्यप्रकार से-रजत के आकार से प्रतीत होना अन्यथाख्याति है।

५ अख्याति—इस मत का समर्थक साय्य और प्रभाकर को माना गया है। इन के विचार से शुक्ति में जहां रजत का भ्रम होता है, वहां पर दो ज्ञान हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा स्मृति रूप। शुक्ति का ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और रजत की स्मृति होती है, परन्तु नेत्र के दोष से वह भिन्न २ ज्ञान एक ही कर भासता है, इसी का नाम अख्याति अथवा भ्रम है।

६ अनिश्चयीयत्यानि—यह मन वेदान्तियों का है इस की प्रक्रिया इस प्रकार है—

अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र के द्वारा बाहिर निकल कर विषय के आकार को धारण करती है, विषयाकार होने से विषय में रहे हुए आरण का भग हो जाने से उस का प्रकार हो जाता है। तात्पर्य कि वृत्ति द्वारा विषयावच्छिन्न चेतन में रही हुई अविद्या का भग होने से वह प्रकाशित हो जाता है, तब पदार्थ का भान होने लगता है। परन्तु इस में प्रकाश की सहायता की भी आवश्यकता रहती है, बिना प्रकाश के पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। शुक्ति रजत अथवा रज्जु सर्प आदि भ्रम स्थल में शुक्ति या रज्जु के साथ नेत्र द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध हो कर वह शुक्ति रूप अथवा रज्जु रूप को धारण तो करती है, परन्तु प्रकाश के न होने से वह विषयगत अविद्या का भग नहीं कर सकती। प्रत्युत विषयावच्छिन्न चेतननिष्ठ उस अविद्या में क्षीम पैदा कर देती है, तब वही श्रुत्य हुई अविद्या शुक्ति स्थल में चांदी और रज्जु स्थल में सर्प के आकार को धारण कर लेती है। तथा अविद्याजन्य इस रजत और सर्प को न तो सत् कह सकते हैं क्योंकि अविद्या रूप शुक्ति और रज्जु के स्पष्ट ज्ञान से उस का बाध हो जाता है और, असत् हम लिये नहीं कह सकते कि उस की प्रतीति होती है, अतः सत् असत् उभय विलक्षण होने से यह अनिश्चनीय है। तब

अनिर्वचनीय रजत आदि की जो रथाति अर्थात् भान होना उस का नाम अनिर्वचनीय रथाति है। इस प्रकार भ्रमस्थल में दार्शनिकों के छ मत हैं, जिन का अति संक्षेप से वर्णन किया गया है।

परिशिष्ट न० २-ख

[पृ० ३६-६]

वैध हिंसा निषेधक वचन

वैधयज्ञों—जिन में हिंसा की प्रचुरता देखने में आती है—को जैनों के अतिरिक्त उपनिषद् और महाभारत आदि में भी गृहित घतलाया है। यथा—

१ - (क) प्लया ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,

अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म ।

एतच्छ्रेयो येऽभिनदन्ति मूढा

जरामृत्यु ते पुनरेवापि यति ॥७॥

(ख) इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ,

नान्यच्छ्रेयो वेदयते प्रमूढाः ।

जो पशुओं का घव निया जाता है, यह भी स्नेह-आचार से ही किया जाता है, इस में शास्त्र की आज्ञा बिल्कुट नहीं है, क्योंकि वेदार्थ को सर स अधिक जानने वाले धर्मात्मा मनु ने ता सय कम में अर्हिसा की ही प्रशसा की है। इस लिये बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रानुसार ही धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि अर्हिसा ही सम्पूर्ण धर्मों में श्रेष्ठ है।

(ग) * यज्ञों में मास मंदिरा आदि का विधान यज्ञों में नहीं है। यह तो काम मोह और लोभ क वशीभूत हो कर मास लोलुपी धूर्त पुरुषों की चलाई हुई रीति है। ब्राह्मणों को तो सय यज्ञों में फल पुष्पादि से विष्णु भगवान् का यजन-पूजन करना ही अभीष्ट है।

(ग) इस के अतिरिक्त पिता पुत्र के सम्बन्ध में शक्ति पर्यं अध्याय २८३ में लिखा है, कि—

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमहर्ति ।

अन्तःपद्भिरिव प्राज्ञं क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥३३॥

* सुरां मत्स्यान् मधु मासमासव वृमरादिनम् ।

धूर्तं प्रवर्तित क्षतत् नैतद्ब्रह्म कल्पितम् ॥३१॥

कामा-मोहाच्च लोभाच्च लौ-यमतत् प्रवर्तितम् ।

विष्णुमवाभिजानति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणा ॥३२॥

यज्ञानुष्ठान के लिये पिता का आदेश होने पर पुत्र कहता है कि मेरे जैसा धर्मात्मा पुरुष पिशाच की तरह इन द्विसक यज्ञों का अनुष्ठान किस प्रकार कर सकता है। इत्यादि अनेक स्थानों पर वैद्य यज्ञों को गर्हित ठहराया गया है। इस के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी इन यज्ञों की अवगणना की गई है परन्तु विद्वानों के लिये इतना ही पर्याप्त है।



शुद्धि पत्रक

— ० —

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२०	नहां हाता	नहीं होता
११	१३	दापों	दोपों
१५	१६	माक्षप्रानि	मोक्षप्रानि
१८	२१	यथार्थ	यथार्थ
२७	१७	नम	नमि
२८	२०	कषाद प्रातकुल	कषाद प्रातकुल
३१	१	म	में
३३	१०	हफा ो	हफारो
६४	१७	प्रानोत्पत्तिका	प्रानोत्पत्ति की
७७	७	मयसप्त्या	मयसप्त्या
६२	१०	घेट	घटी
६४	१६	ईश्वर त	ईश्वर तो
११६	१३	हा	हो
१३१	११	दोनों	दोनों
१३१	१३	षद्धि	षद्धि
१३१	२१	विराधी	विरोधी
१३३	२०	ह	है
१३४	१६	तीनेर	तीसरे
		गमयेत्	गमयेत्

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	३	भद्दश्य	अद्दश्य
१४०	२	प्रवृत्त	प्रवृत्त
१४३	१८	अग्नि में ल	अग्नि में जल
१५४	११	त्रिभ्रता थाहु	त्रिभ्रतो थाहु
"	१५	व्यापक	व्यापक
१५७	१७	ईश्वर चर्चा	ईश्वर चर्चा
१५८	१६	ह,	हे,
१६६	२८	जीव	जीव
१६६	११	सा	सो
१७१	१	पथ्यकारा	पथ्यकारी
१७६	३	पूरक	पूरक
१८४	१७	शद्	शब्द
१९६	१५	फलक	फलक
१९७	१६	तथा स्त्री	तथा स्त्री
२०८	१५	सद्गति	सद्गति
२०९	१	नहाँ हैं	नहीं हैं
२०९	१९	जी जीव	जो जीव
२१२	२१	पाचाँ	पाचों
२१६	११	अरु जी	अरु जो
२२४	१७	सुहसीला	सुहसीलो

पृष्ठ	पंक्ति	जैनमत्स्यादर्श	अगुह्य	शुद्ध
२१८	२	यह द		यह दो
२१८	५	जन मत्स्यादर्श		जैन मत्स्यादर्श
२२६	१७	एसा यारा		ऐसा न्यारा
२३१	६०	यह दा		यह दो
२४७	१८	खडन		खण्डन
२५१	८	फल नहा		फल नहीं
२६०	१	नियति को		नियति की
२६५	३	एसा ज्ञाना		ऐसा ज्ञानी
२७०	१६	गिरात ई		लिखत है
२७३	१४	नात्पर्य		नात्पर्य
"	१६	उत्पत्ति ह		उत्पत्ति है
२८०	८	करन का घास्न		करन क घास्न
२८५	१	कृष्णादिरूप		कृष्णादिरूप
२८६	१	प्रदान		प्रदानि
२९३	४	यथ —		यथा —
२९८	१६	वेडा		उटी
३०४	७	भाया का		भाया को
,	६	होनी थी		होती थी
३०५	५	बहुथु ।		बहुथुन
३१०	६	न ही		नहीं

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	१०	तीन रूप	तीन रूप
३१४	१०	तृष्ण	तृष्णा
३२३	०	अतातानागत	अनीनानागत
"	५	मेघाघ्रति	मेघीघ्रति
३२६	१६	द्वि० द्वा०	द्वा० द्वा०
३३५	१६	फा भी	को भी
३५१	११	सगृहति	सगृहीत
३६०	१०	यव्या म है	यव्या भी है
३६१	११	घो जी	यो जीय
३७०	६	अधेतमासि	अधेतमसि
३७४	४	नहिं	नहीं
३८१	४	आर	और
३८३	८	प्राति	प्रीति
३९०	००	शा० स०न्तु०	शा० स० म्न् ०
३९४	८	उत्पन्न	उत्पन्न
३९७	०	ज्ञन	ज्ञान
४०३	१६	यस्यद्	सस्यद्
४३३	१६	शोय	शोच
४३८	८	तीनों के	तिनों के
४८०	०	जीय के	जीय के

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८४	६	मदपना	मिदपना
४८६	२३	साहुसुभासाहु०	साहुसु मसाहु०
४६८	७	सगरोपम	सागरोपम
५००	१०	घो मी	घो भी
५०२	३	इस घास्म	इस घास्त
५०७	१५	कर्मफलोदय	कर्मफलोदय
५०८	४	हाये	होये
११०	२	तत्सदृश्य	तत्सदृश्य
५१४	१	तत्तमुत्तम	तत्तमुत्तमम्
५१७	२२	यागी	योगी
५२८	६	ख्यानी	ख्यानी
५५०	१	मुप नही	मुप नहीं
५६१	२२	भराधक	भाराधक



